भारत का सांस्कृतिक इतिहास

आचार्य प्रो० व्रजवल्लभ द्विवेदी

भारत का सांस्कृतिक इतिहास

पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी



किशोर विद्या निकेतन
वाराणसी-१

ISBN -८१-८६१०१-२१-७

मूल्य : २००

प्रथम संस्करण, २००८
प्रतियां : ५००

स्वत्वाधिकारी : पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी/प्रकाशक : किशोर विद्या निकेतन, बी-२/२३६-ए, भदैनी, वाराणसी- २२१००१/ मुद्रक : श्रीमाता कम्प्यूसिस प्रा. लि., वाराणसी

Bharat Ka Samskritik Itihas
By: Pt. Vrajavallabha Dwivedi

विषय सूची

प्रस्तावना

इन पंक्तियों के लेखक का यह स्पष्ट विचार है कि भारतीय तत्त्वज्ञान के क्रमिक विकास को ब्राह्मण, जैन, बौद्ध, हिन्दू आदि के कल्पित काल-विभागों में बाँट कर किया गया अनुशीलन वस्तुतः अधूरा है। सम्पूर्ण भारतीय चिन्तन के दैशिक और कालिक क्रमिक-विकास का तुलनात्मक एवं घात-प्रतिघातात्मक अनुशीलन प्रस्तुत किया जाना चाहिये और ऐसा करते समय ब्राह्मण, जैन, बौद्ध जैसे कल्पित विभाग सत्य की खोज में बाधक नहीं बनने चाहिये। इस प्रकार का अनुशीलन प्रस्तुत न हो पाने से ही भारतीय चिन्तन में अनेक प्रकार की विसंगतियाँ प्रविष्ट हो गई हैं।

भारत के सांस्कृतिक इतिहास की प्रमुख विसंगति यह है कि यहाँ विगत ढाई-तीन हजार वर्षों में विकसित आगम-तन्त्रशास्त्र की पूरी तरह से उपेक्षा कर दी गई है। वहाँ के कुछ अंश हमारे लिए समालोच्य हो सकते हैं, किन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि हम पूरे शास्त्र का तिरस्कार कर दें। आश्चर्य इस बात का है कि तन्त्रशास्त्र का जो हेय पक्ष है, उसीसे आज के योगी, स्वामी, ब्रह्मचारी नामधारी मानवता ज्यादातर जुड़ी हुई है और उसे सामान्य जनता में ही नहीं, भारतीय समृद्ध वर्ग, राजनेतागण और तथाकथित बुद्धिजीवियों के बीच भी पूर्ण प्रतिष्ठा प्राप्त है। आगमशास्त्र में ऐहिक और आमुष्मिक सामान्य सुख (अभ्युदय) के अर्थ में प्रयुक्त भोग शब्द को जिन्होंने संभोग के अर्थ में ला पटका है, उनको आज भगवान् से भी ऊँची जगह पर पहुँचा दिया गया है। आज का भारतीय समाज वैदिक और तान्त्रिक दोनों धर्मों की विद्रूपताओं से ग्रस्त है और इनकी अच्छाइयों को भुला बैठा है।

आज वैदिक, स्मार्त, जैन और बौद्ध धर्मों के उस प्राचीन स्वरूप को तो जिलाने का प्रयास किया जा रहा है, जिनमें विषमता प्रधानता थी, किन्तु धर्म और दर्शन के क्षेत्र में वैचारिक संघर्षों के कारण जो परिवर्तन आये, आगम और तन्त्रशास्त्र ने भारतीय धर्मों और दर्शनों में समन्वय स्थापित करने का जो महनीय कार्य किया, इसे हम भुला बैठे हैं। वास्तविक स्थिति यह है कि जैसे धर्मों और दर्शनों में समन्वय स्थापित करने का प्रयास इन शास्त्रों ने किया है, वैसे ही इनमें यह भी सामर्थ्य है कि ये आन्तर आध्यात्मिक दृष्टि और बाह्य भौतिकवाद में भी समन्वय स्थापित करने में समर्थ हो सकेंगे।

आज भारतीय समाज की जिन समस्याओं को बढ़ा-चढ़ाकर परोसा जा रहा है, उनका समाधान यहाँ बहुत पहले खोज लिया गया था और पूरे भारत की सन्त-परम्परा उसी मार्ग का उद्घोष कर रही है। यह हमारी मूढ़ता ही है कि हम इन सन्तों की वाणियों को पूरी तरह से स्वयंप्रसूत मान बैठे हैं और भारतीय संस्कृति की अक्षुण्ण परम्परा से— रामायण, महाभारत, पुराण और आगम-तन्त्रशास्त्र से—

उसकी संबद्धता को भुला बैठे हैं। संस्कृत भाषा के प्रति फैलाये गये द्वेष की इसमें महती भूमिका है। आज अपने-अपने राज्य की भाषा का मोह उस अमृत-स्रोत को सुखाने जा रहा है, जो दुनिया की सबसे प्राचीन, सबसे समृद्ध भाषा से प्रसूत होता रहा है और आज के कम्प्यूटर युग में भी जिसने अपनी श्रेष्ठता स्थापित कर दी है। हमें यह याद रखना है कि संस्कृत दुनिया को एकता के सूत्र में पिरोने वाली भाषा है।

परिस्थितियों और समय की आवश्यकता के अनुसार विभिन्न भारतीय दर्शनों का विकास हुआ है। ऊपर से देखने में इनका संबन्ध अहिनकुलवत् परस्पर विरोधी-सा लगता है, किन्तु वास्तव में ऐसा है नहीं। समाज में साधारण तथा स्वाभाविक परिवर्तन होता रहता है, किन्तु कभी-कभी क्रान्ति के द्वारा भी सहसा परिवर्तन आता है। क्रान्ति के द्वारा आया परिवर्तन क्षणिक होता है। समाज फिर अपनी सहज गति से चलने लगता है, तो भी उस पर क्रान्ति अपनी अमिट छाप छोड़ जाती है, इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। इस क्रान्ति का जन्म भी धीरे-धीरे सहज स्वाभाविक परिस्थितियों में होता है। केवल क्रान्ति से चिपके रहने वाला और सतत प्रवहमान धारा का साथ न देने वाला पिछड़ जाता है और उसे एकाकीपन महसूस न हो, इसके लिये वह अपने इर्द-गिर्द एक नये रूढ़िवादी समाज की रचना कर लेता है। संप्रदायों, मत-मतान्तरों और नये-नये वादों का इसी प्रकार सूत्रपात होता है। भारत के सांस्कृतिक इतिहास में इसे देखा जा सकता है।

सिन्धु-सभ्यता को आजकल आर्य-अनार्य के झगड़े में डाल दिया गया है। यह उचित नहीं है। उत्खनन में उपलब्ध शिवलिंग, वृषभ, योगी आदि के चिह्नों का वैदिक वाङ्मय में वर्णन न मिलने के कारण वैदिक सभ्यता से भिन्न कोई सभ्यता भारत में विद्यमान थी, ऐसा कुछ विद्वानों का कहना है, किन्तु हम देखते हैं कि वैदिक वाङ्मय में हमें हिंसाप्रधान यज्ञों के साथ ही सौत्रामणी याग में सुरापान का विधान भी मिलता है। ऋग्वेद (७.२१.५; १०.९९.३) में शिश्नदेवों का उल्लेख है। डॉ. शान्तिभिक्षु शास्त्री ने "न काञ्चन" (२.१३.३) इस छान्दोग्य श्रुति को उद्धृत किया है और लिखा है कि शंकराचार्य यहाँ 'कामयमानाम्' यह विशेषण जोड़ते हैं। शास्त्री जी ने 'बोधिचर्यावतारभूमिका' (पृ. १४-२६) में बौद्ध धर्म में तान्त्रिक प्रवृत्तियों के प्रवेश और विकास पर भी विचार किया है। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने भी 'पुरातत्त्व निबन्धावली' (पृ. १०९-१३०) में कूर्मपुराण में चर्चित नीलपट-दर्शन की चर्चा की है।

प्रायः सभी ऐतिहासिकों का मानना है कि भारत के प्रागैतिहासिक युग के भग्नावशेषों से यह बात सिद्ध होती है कि शैव धर्म और शैवी योगसाधना का प्रचार सिन्धु-सभ्यता में पर्याप्त मात्रा में हुआ था। वहाँ के प्राचीन निवासी शिव की, मातृदेवी की, शिवलिंग की, योनिमूर्ति की पूजा किया करते थे और योगसाधना का अभ्यास भी करते थे। शैव धर्म की अन्य शाखाओं की अपेक्षा आज भी वीरशैव धर्म की उससे बहुत कुछ निकटता बनी हुई है। वीरशैव धर्म के अनुयायी आज भी इसी तरह से इष्टलिंग का धारण और अर्चन करते हैं। दाहसंस्कार के स्थान पर इनमें भू-निक्षेप का विधान है। लिंगायत शब्द के माध्यम से यह वीरशैव धर्म आज भी सिन्धु-सभ्यता से जुड़ा हुआ है।

कौल संप्रदाय में रहस्यवाद के प्रवेश के विषय में भी विद्वानों ने पर्याप्त विचार किया है। सिन्धु-सभ्यता के अवशेषों में हमें ऊर्ध्वलिंगी मुद्राएँ मिलती हैं। "एनल्स आफ भाण्डारकर इंस्टीट्यूट, पूना" (भा. ३९, अं. ३-४, पृ. २८९-३६४, सन् १९५८) में इनका सचित्र विवरण प्रकाशित है। नेत्रतन्त्र (१३.१०-११) में दिग्वस्त्र, ऊर्ध्वलिंगी विश्वरूप की पूजाविधि बताई गई है। कौल संप्रदाय में कायपूजा का सिद्धान्त लकुलीश संप्रदाय से प्राप्त हुआ है। उदयपुर के पास एकलिंगजी के और नेपाल के पशुपतिनाथ मन्दिर के पास की पहाड़ी पर लकुलीश और विश्वरूप की मूर्तियाँ उपलब्ध हैं। हमारी समझ में कौल तन्त्रों के मूल की खोज में हमें सिन्धु-सभ्यता, वैदिकी वानप्रस्थ-आश्रम व्यवस्था लकुलीश-पशुपत मत तथा कापालिक साधना के साथ बौद्ध धर्म की वज्रयान शाखा की तत्कालीन परिस्थितियों तक पहुँचना होगा। इस स्थिति में आर्य-अनार्य की कल्पना का पूरा महल धराशायी हो जायगा। इस पर सुधीजनों को गंभीरता से विचार करना होगा।

जिन दिनों भारत के पश्चिम भाग में सिन्धु-सभ्यता फल-फूल रही थी, लगभग उन्हीं दिनों पश्चिम-एशिया के बेबीलोन-मेसोपोटामिया (आधुनिक इराक) के 'उर' नामक स्थान पर वैदिक सभ्यता के प्रतीकों की जानकारी मिली है। वहाँ कुछ इष्टका-लेख मिले हैं। उनमें प्राप्त एक सन्धिपत्र इस प्रसंग में महत्त्वपूर्ण साक्षी हो सकता है। वहाँ मित्रावरुण और नासत्य देवों को साक्षी मानकर इस सन्धिपत्र पर हस्ताक्षर किये गये हैं। ये ऋग्वेदीय देवता हैं। स्पष्ट है कि उस समय तक वैदिक सभ्यता का विस्तार वहाँ तक हो चुका था।

इसके विपरीत आर्यों के बाहर से आकर भारत पर कब्जा करने और द्रविड़ों को बेदखल करने की बात का अनर्गल प्रचार किया जाता है। एक भारतीय विद्वान् ने इसका जवाब दिया है कि वैदिक वाङ्मय में कहीं भी आर्यों के बाहर से आने का उल्लेख नहीं मिलता। मोहेंजोदड़ो की लिपि को अभी तक पढ़ा नहीं जा सका है। उसके बिना हम अनुमान के आधार पर जो चाहें, लिख सकते हैं। ईरान के प्राचीन पारसीक धर्म के ग्रन्थ 'जेन्दावेस्ता' की भाषा ऋग्वेद की भाषा से बहुत-कुछ मिलती-जुलती है। इसके आधार पर भी हम किसी सर्वमान्य तथ्य तक पहुँच सकते हैं। अभी तो हमें ऐसा लगता है कि एक निश्चित लक्ष्य के अनुसार यह प्रचारित किया जा रहा है कि जब आर्यों ने इस देश पर आक्रमण कर पुराना सबकुछ नष्ट कर दिया, तो हम लोगों को भी यह अधिकार है कि यहाँ का पुराना सब कुछ नष्ट कर नये विचारों को बढ़ावा दिया जाय। ईसाइयों के सबसे बड़े धर्मगुरु भी इस प्रवृत्ति से अपने को बचा पाने में असमर्थ ही रहे हैं।

द्रविड़ों को बे-दखल करने के बारे में भी इसी तरह की बे-सिर-पैर की बातें गढ़ी गई हैं। ऐसा करते समय हम यह भूल जाते हैं कि द्रविड़ देश में उपजी भक्ति से ही यह पूरा देश आन्दोलित रहा है। आचार्य शंकर, रामानुज, मध्व, निम्बार्क, वल्लभाचार्य जैसे द्रविड़ाचार्यों के उपदेशों ने ही बाह्य आक्रमणों से इस देश की रक्षा की है। विगत ढाई-तीन हजार वर्षों में विकसित आगम-तन्त्रशास्त्र और तदनुप्राणित भारत की विभिन्न भाषाओं और बोलियों में निखरी सन्तों की वाणियों ने इस देश की नाना प्रकार की समस्याओं का समाधान कर पूरे देश को एकसूत्र में आबद्ध किया है। आज हम

इनकी जान-बूझकर उपेक्षा कर रहे हैं और इस देश को छिन्न-भिन्न करने पर आमादा हो उठे हैं। कश्मीर, असम और तमिलनाडु की समस्यायें हमारे सामने मुँह बाये खड़ी हैं और हम उनका कलेवा बन जाना चाहते हैं। वनजातियों और जनजातियों की समस्याओं का सन्तों की वाणी के रूप में जो समाधान प्रस्तुत हुआ था, उसकी आज किस प्रकार उपेक्षा हो रही है ? इसका अच्छा उदाहरण हमारे सामने अनेक राष्ट्रविरोधी टुकड़ों में बँटा असम राज्य है। अखण्ड भारतीय उदारवादी सांस्कृतिक दृष्टि ही इसका सही समाधान प्रस्तुत कर सकती है। क्या हम ऐसा कर सकेंगे? विभिन्न राज्यों और भाषाओं के आधार पर संगठित हो रहे राजनीतिक दल क्या हमें ऐसा करने देंगे?

भारत के पूरब में बंगला देश का उदय होने पर ''सांस्कृतिक नवचेतना का अरुणोदय'' शीर्षक निबन्ध में हमने इसका स्वागत किया था। (निगमागम संस्कृति, पृ. २२०-२२४)। शेख मुजीबुर्रहमान की हत्या के साथ ही उस पर ग्रहण लग गया। इस सांस्कृतिक पराजय के कारणों की हमें समीक्षा करनी होगी। अयोध्या के रामजन्मभूमि-विवाद के प्रसंग में हमने दूसरा निबन्ध ''सांस्कृतिक पुनर्जागरण अपेक्षित'' लिखा (भारतीय संस्कृति का समग्र स्वरूप, पृ. ८२-८७)। यह शुभ अवसर भी भारत को विखण्डित करने वालों की प्रशंसा में कसीदे काढ़ने वालों और विदेशी भाषा में नारेबाजी करने वाले राजनेताओं एवं नेकटाई से अपनी गर्दन नपाने वाले और विदेशी जुबान बोलने वाले प्रशासकों के कारण हाथ से निकल गया। इस निबन्ध में हमने इसराइल और भारत की न्यायपालिकाओं की तुलना की थी। अब हम देखते हैं कि भारत में भी विधायिका और कार्यपालिका की अपेक्षा न्यायपालिका ने समय-समय पर सांस्कृतिक दृष्टि की ओर डग भरे हैं। वित्तैषणा और लोकैषणा से मुक्त राजनीतिज्ञ और राजसेवक ही यह कार्य कर सकते हैं, किन्तु भारत में संस्कृति के रक्षक चार स्तम्भों ने चार पुरुषार्थों में प्रथम उस धर्म की ही उपेक्षा कर दी है, जो अर्थ और काम को निरंकुश नहीं होने देता।

गुजरात राज्य में घटी कुछ अच्छी-बुरी घटनाओं के बाद वहाँ सार्वजनिक चुनाव हुआ। इस अवसर पर ''सांस्कृतिक राष्ट्रवाद'' का नारा लगा। ''जय जवान, जय किसान'' जैसे नारों की पृष्ठभूमि में यह नारा हमें अच्छा लगा और इसे भुला न दिया जाय, इसके लिये हमने अपने एक ग्रन्थ का नाम ही ''सांस्कृतिक राष्ट्रवाद'' रख दिया। इसी पृष्ठभूमि में हमने ''एक विश्व : एक संस्कृति'' शीर्षक दूसरा ग्रन्थ लिखा। हमारा निश्चित और दृढ मत है कि भारत की आज की सभी तरह की समस्याओं का समाधान सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के आधार पर ही हो सकता है।

यह सांस्कृतिक राष्ट्रवाद क्या है ? अपनी मति के अनुसार इसका स्पष्ट स्वरूप निखारने के लिये प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना की गई है, जिससे यह देश आर्य-अनार्य, श्रमण-ब्राह्मण, हिन्दु-मुस्लिम, मन्दिर-मस्जिद जैसी काल्पनिक अथवा वास्तविक समस्याओं से उबर कर सुख-शान्ति के नये मार्ग की तलाश कर सके। यह कार्य तब होगा, जब विचारशक्ति दण्ड के भय से और धन के प्रलोभन से मुक्त हो और दिखावटी सेवाभाव से भी विचलित न हो। राजनैतिक शक्ति को भी वही संकल्प की दृढता दिखानी होगी, जो परमाणु-प्रतिरोध सन्धि का विरोध करते समय पूरे विश्व के सामने दिखाई गई थी। इसके लिये उसे हिन्दुत्व के दुराग्रह, इस्लाम की हठवादिता, ईसाइयत की धूर्तता और कम्युनिस्टों की कलाबाजी का, अजीबो-गरीब करतूतों का भी सामना करना पड़ेगा।

इधर इस्लाम और ईसाइयत से प्रभावित बौद्ध धर्म में भी धर्म-परिवर्तन के प्रति नया अनुराग पैदा हुआ है। ऐसा पहला उपक्रम सन् १९५६ में हुआ था। उसकी समालोचना हमने "बौद्ध दीक्षा एक समीक्षा" इस सौम्य शीर्षक से की थी। इस निबन्ध का पुनः प्रकाशन "आगम और तन्त्रशास्त्र" (पृ. १७६-१८०) में हुआ था। अब सन् २००७ के मई मास में "धम्म दीक्षा" के नाम पर बम्बई में इसका पुनः आयोजन किया गया। पहले आयोजन के समान इस आयोजन में भी सम्मिलित होने वाले व्यक्तियों की संख्या को बढ़ा-चढ़ा कर दिखाया गया और भारतीय देवताओं के प्रति विराग पैदा करने की पूरी कोशिश की गई। तिब्बती धर्मगुरु महामहिम दलाई लामा जी के संमिलित होने की भी सूचना प्रसारित की गई थी। यह अच्छा हुआ कि बौद्ध धर्म के इस नये संकीर्ण स्वरूप को मान्यता दिलवाने में उन्होंने अपनी कोई रुचि नहीं दिखाई। हमने अनेक जगह लिखा है कि श्रीलंका में विकसित बौद्ध धर्म की यह प्रवृत्ति है, तिब्बत आदि में मान्यताप्राप्त मन्त्रयानी बौद्ध धर्म की नहीं। समय रहते इस प्रवृत्ति की सही समालोचना नहीं की गई, तो यह सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का विरोध करने वाली एक नयी शक्ति राष्ट्र की एकता में और बौद्ध धर्म के स्वस्थ विकास में भी बड़ी बाधा बन सकती है। इसका भी विकास जैन, पारसी और सिक्ख धर्म की पद्धति से होना चाहिये। ऐसा हो नहीं रहा है। इसके विपरीत विलगाववादी प्रवृत्तियों को ही बढ़ावा दिया जा रहा है। दैनिक जागरण (२६ जनवरी, २००७) में पूर्व केन्द्रीयमन्त्री श्री जगमोहन का "सुरक्षा से समझौता करता शासन" शीर्षक लेख इस स्थिति को उजागर करता है कि किस तरह भारतीय प्रशासन इस दुश्चक्र में फँसा हुआ है। इनके और श्री जगमोहनसिंह राजपूत जैसे इस राष्ट्र के हितचिन्तकों के विचारों की उपेक्षा भारतीय प्रशासन के लिए राष्ट्रघातक ही सिद्ध होगी। हमें समय रहते असम, कश्मीर और तमिलनाडु में विशेष रूप से पनप रही विलगाव की प्रवृत्तियों को बढ़ावा देने वाली हरकतों से सावधान हो जाना चाहिए। पूरे राष्ट्र को एक सूत्र में पिरोने वाले सन्तों की वाणियों की आज किस प्रकार उपेक्षा हो रही है, इसके उदाहरण के रूप में हम मध्यप्रदेश आदि में फैली आदिवासी और जनजातीय प्रजा को प्रस्तुत कर सकते हैं।

आज स्थिति यह है कि बची-खुची भारतीय संस्कृति को मटियामेट कर देने के लिए सेक्युलर स्टेट (लोकराज्य) के अनुवाद के रूप में धर्मनिरपेक्ष-राज्य को प्रस्तुत कर देश को अर्थ और काम के शिकंजे में फँसाया जा रहा है। आश्चर्य यह है कि यह धर्मनिरपेक्ष-राज्य वाली दृष्टि धर्म-परिवर्तन की तरफ से आँख मूँद लेती है। धर्म-परिवर्तन में लगे लोग इनके लिए धर्म-निरपेक्ष हैं और उसका विरोध करने वाले साम्प्रदायिक; धर्म में विश्वास न रखने वाले प्रगतिशील हैं और धर्म के नैतिक नियमों का पालन करने वाले प्रतिगामी। भारतीयता की दृष्टि को ये हिन्दूकरण, भगवाकरण और साम्प्रदायिक जैसे शब्दों से नवाजते हैं और दुनिया की सबसे संकीर्ण दृष्टि से ग्रस्त मानव-समुदाय को असाम्प्रदायिक घोषित करते हैं।

भारतीय संस्कृति विरोधी इन सब दुष्प्रवृत्तियों का विरोध कर और भारतीय संस्कृति की सात धाराओं को मिलाकर समग्र भारतीय संस्कृति का स्वरूप निर्धारित करने के लिए लिखवाये गये ग्रन्थ के

प्रकाशक ही भगवाकरण से प्रभावित मानते हैं। हिन्दुत्व को नकार कर सनातन धर्म शब्द को मान्यता और श्रीलंका में पालित-पोषित बौद्ध धर्म की समालोचना करना शायद इनको रुचिकर नहीं लगा। हमने गाँधीजी के सर्वधर्म-समभाव शब्द के स्थान पर सर्वधर्म-समादर शब्द को वरीयता दी है। अपसंस्कृतियों से छुटकारा पाने के लिये हमने दो या तीन राजनीतिक दलों को मान्यता देने का सुझाव दिया है। यह भी लिखा है कि दो या तीन धर्मस्थलों का ही नहीं, मध्यकालीन बर्बरता के शिकार दुनियाभर के सभी धर्मस्थलों का उद्धार होना चाहिये। साथ ही "गर्व से कहो हम हिन्दु हैं" इस नारे को भी हमने अमान्य किया है।

भारतीय तन्त्रशास्त्र पर, विशेष कर कौल तन्त्रों पर चीनी ताओवाद जैसे विदेशी विचारों के प्रभाव को हमने अस्वीकार कर दिया है और सुधारवादी आन्दोलन के प्रसंग में स्वामी दयानन्द और स्वामी विवेकानन्द के वेद-वेदान्त संबन्धी विचारों की भी हमने समीक्षा की है। अपने संस्कृति संबन्धी ग्रन्थों के प्रारंभ के और अन्त के उपोद्घात, प्रस्तावना, उपसंहार आदि में हमने पठनीय और मननीय सामग्री प्रस्तुत की है। हम पाठकों से निवेदन करेंगे कि वे "एक विश्व : एक संस्कृति" के उपसंहार (पृ. १८१-१९०) पर और "तन्त्रागमीय धर्म-दर्शन" (पृ. ८९०-९०२) के विहगावलोकन पर विशेष रूप से दृष्टिपात करें। "भारतीय संस्कृति का समग्र स्वरूप" शीर्षक ग्रन्थ के प्रारंभ में "अपनी बात" के रूप में प्रस्तुत विचारों की चर्चा हम अन्यत्र भी कर चुके हैं। अपने संस्कृति-संबन्धी विचारों को पूर्णता देने के लिये प्रस्तुत ग्रन्थ रचना की है। संस्कृति के विभिन्न स्वरूपों का परिचय पाने की दृष्टि से हमारे "एक विश्व : एक संस्कृति" और "सांस्कृतिक राष्ट्रवाद" शीर्षक ग्रन्थों को विशेष रूप से देखा जा सकता है।

सुधारवादी आन्दोलन की चर्चा के प्रसंग में हमने वर्णाश्रम-व्यवस्था में घुसी ऊँच-नीच की भावना का परित्याग करने की, तन्त्रागमशास्त्र की सामाजिक दृष्टि के आधार पर सर्वत्र समभाव का दर्शन करने की और पत्रकार-बन्धुओं एवं बुद्धिजीवियों के सामने समग्र भारतीय संस्कृति के अनुरूप अपनी विचारशक्ति को विकसित करने की अपील की है। इस प्रसंग में महान् बौद्ध विचारक धर्मकीर्ति, प्रत्यभिज्ञाशास्त्र के महनीय ग्रन्थ विरूपाक्षपंचाशिका और स्कन्दपुराण के वचनों को प्रस्तुत किया गया है। सामान्य व्यक्ति भी इन विचारों की पृष्ठभूमि में अपने स्वत्व का विस्तार कर सकता है, "वसुधैव कुटुम्बकम्" की भावना से भी ऊपर विश्वाहन्ता के रूप में सारे विश्व को अपना ही स्वरूप समझने की आध्यात्मिक स्थिति तक पहुँच सकता है।

संस्कृत, पाली और प्राकृत भाषा के समान तमिल भाषा भी भारत की प्राचीन भाषा है। इस भाषा में निबद्ध शैव, वैष्णव, जैन और बौद्ध वाङ्मय का प्राचीन स्वरूप शायद अभी तक पूरी भारतीय जनता के सामने आने नहीं पाया है। भारत के सांस्कृतिक इतिहास की परिपूर्णता के लिए इसका अनुशीलन आवश्यक है। यह भी आश्चर्य की ही बात है कि कम्युनिज्म का जनक रूस भारत राष्ट्र का सदा सहायक रहा है, इसके विपरीत पूरी दुनिया में फैली कम्युनिस्टों की विचारधारा पुरातन का तिरस्कार और नूतन के व्यामोह के कारण भारतीय संस्कृति की सबसे बड़ी दुश्मन बन बैठी है।

कम्युनिस्ट आन्दोलन हो या अन्य, भारत में यह विशेष रूप से देखा जा रहा है कि सार्वजनिक सम्पत्तियों, विशेषकर बस, ट्रेन, स्टेशन, स्कूल, कालेज आदि का इससे सर्वाधिक विनाश होता है। यह प्रवृत्ति रुकनी चाहिये। इधर कुछ वर्षों में यह भी देखने को मिला है कि आत्महत्या की प्रवृत्ति बढ़ रही है। आत्महत्या एक जघन्य अपराध है। समय रहते इस पर भी रोक लगनी चाहिये। यह भी भारतीयता के लिये आश्चर्य की ही बात है कि इधर कभी-कभी नेतागण भी इसको बढ़ावा देने में लग जाते हैं। यह हमारे पतन की पराकाष्ठा है।

हम इस बात की भी अनेक स्थलों पर चर्चा कर चुके हैं कि भारत में नई तिथि का आरंभ सूर्योदय से माना जाता है, मध्यरात्रि से नहीं। 'हिन्दस्का' पूरे विश्व को भारत की देन है। आज इसको भी विकृत करने का प्रयत्न किया जा रहा है। समय-समय पर हम इसकी चेतावनी देते रहे हैं। लगता है, यह रुकने वाला रोग नहीं है। खिलाड़ियों के लिए लड़का-लड़की शब्दों का प्रयोग भी हमारे ऊपर अपसंस्कृति का प्रभाव ही माना जायेगा। हिन्दी दैनिक भी अपनी बिक्री बढ़ाने के लिये राष्ट्रभाषा का गला घोटने से बाज नहीं आ रहे हैं। इसीके साथ अब सिनेमा जगत् और रेडियो-टेलीविजन की भाषा को भी सुनिये कि राष्ट्रभाषा के नाम पर ये हमारे सामने क्या परोस रहे हैं। अपसंस्कृति की इस बाढ़ से हमें अपने को बचाना है। अन्यथा अर्थपिशाच का यह नग्नताण्डव हमें कहीं का नहीं रहने देगा। हमारे लिये यह सब अरण्य-रोदन सरीखा है, लेकिन हम सब जानते हैं कि बिना रोये तो माँ भी दूध नहीं पिलाती।

●

प्रकाशकीय

भारतीय संस्कृति की महिमा विश्व भर में विख्यात है। संसार की यह प्राचीनतम संस्कृति होने के साथ-साथ उच्चत्तर एवं श्रेष्ठ भी है। आज के समय में भारतीय संस्कृति का अनुशीलन विश्वभर में किया जा रहा है।

परम श्रद्धेय गुरुवर पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी द्वारा लिखित ग्रंथ "भारत का सांस्कृतिक इतिहास" में वर्तमान में हो रहे भारतीय संस्कृति के परिवर्तनों को उजागर किया गया है। हमें यह कहने में कत्तई संकोच नहीं है कि यह पुस्तक पुरातन भारतीय संस्कृति के साथ ही साथ नवीनतम बदलाव की झलक, उस युग के पुरोधाओं के माध्यम से प्रस्तुत करने का सफल प्रयास करती है।

पुस्तक प्रकाशन के संदर्भ में गुरुवर से मिलने का अवसर कई बार मिला, उस दौरान कभी-कभी वर्तमान में हो रहे राजनीतिक एवं सांस्कृतिक बदलाव पर भी चर्चा होती थी। चर्चा के दौरान मैंने अनुभव किया कि इस अवस्था में भी गुरुवर के मन में एक क्रांतिकारी विचारधारा प्रवाहित हो रही है, कभी-कभी चर्चा इतनी लम्बी हो जाती थी कि उन्हें समय का ज्ञान ही नहीं रहता था।

प्रूफ संशोधन में भी उनकी लगन को देखकर मैं हैरान था, इस पुस्तक के प्रकाशन के पहले भी हमें कई विद्वानों तथा शोधार्थियों से मिलने का अवसर मिला, लेकिन गुरुवर में मैंने जो गंभीरता और लगन का अनुभव किया, वह निश्चित तौर पर अतुलनीय है।

मैंने उनके सांनिध्य में रहकर अपने विस्तार का अनुभव किया है।

पुस्तक प्रकाशन के दौरान ही हमें पुत्र-रत्न की प्राप्ति हुई, तो मैंने तुरंत ही उसके नामकरण के लिए गुरुवर से आग्रह किया, वे संहर्ष तैयार हो गये और उनके द्वारा निर्देशित होकर मैंने अपने पुत्र का नाम 'यशोधन' रखा।

पुस्तक प्रकाशन में पं. शीतलाप्रसाद उपाध्याय जी, उपाचार्य, संपूर्णानंद संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी का परम ऋणी हूं, जिनके द्वारा मेरा गुरुवर से मिलना संभव हो सका। पुस्तक के संशोधन में भी इनकी सक्रिय भागीदारी रही है। श्री निहार पुरोहित, गुरुवर के शिष्य का भी मैं आभारी हूं।

हमें यह विश्वास है कि इस पुस्तक के माध्यम से पाठकगण निश्चित तौर पर संतुष्ट होंगे, वे इस ग्रंथ के माध्यम से भारतीय संस्कृति के कालों से परिचित होने के साथ-साथ, विभिन्न दार्शनिक, इतिहासकार, सम्प्रदाय, दर्शन और पुरुषार्थ आदि का संक्षेप में दृष्टि पा सकेंगे।

प्रकाशक

भारत का सांस्कृतिक इतिहास

रघुनाथौ नमस्कृत्य गोपीनाथौ च मे गुरू ।
भारतीसंस्कृतेः पूर्णमितिवृत्तमुदीर्यते ।।
भारतीया संस्कृतिर्ही ! मलिनत्वमुपागता ।
युक्त्यागमप्रमाणेन तस्या नैर्मल्यसिद्धये ।।

संस्कृति की परिभाषा

संस्कृति की दो प्रकार की परिभाषाएँ की जाती हैं— एक व्यापक अर्थ में और दूसरी सीमित अर्थ में। पहले अर्थ में मानव के द्वारा निर्मित आध्यात्मिक तथा आधिभौतिक विश्व का संस्कृति में समावेश किया जाता है, तो दूसरे में केवल मानव की मानसिक उन्नति का। इन्हींको हम संस्कृति के आध्यात्मिक और आधिभौतिक पक्ष कह सकते हैं। किसी भी संस्कृति में आत्मा और विश्व के संस्कार की प्रक्रिया साथ-साथ ही चलती है, तो भी किसीमें आध्यात्मिक और किसीमें आधिभौतिक पक्ष पर अधिक ध्यान दिया जाता है। बाह्य विश्व के उपभोग या भौतिक प्राप्ति को प्रधानता देना भौतिक संस्कृति का लक्षण है। इसी अर्थ में आधुनिक पाश्चात्य संस्कृति को भौतिक कहा जाता है। इसके विपरीत भारतीय संस्कृति आत्मा की, मानव की मानस-उन्नति की ओर विशेष रूप से आकृष्ट है। इसीलिए भारतीय संस्कृति आध्यात्मिक कही जाती है। इसका अर्थ यह नहीं है कि पाश्चात्य संस्कृति में आध्यात्मिक और भारतीय संस्कृति में भौतिक अंश हैं ही नहीं, "प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति" इस न्याय के अनुसार इस परिभाषा में केवल इनकी विशेषता की ओर इंगित किया गया है।

वर्तमान समय में भारतीय, चीनी, यूरोपीय और इस्लामिक आदि ऐसी संस्कृतियाँ विद्यमान हैं, जिनकी पूर्व परम्परा सैकड़ों-हजारों वर्षों की है। इन संस्कृतियों की वृद्धि अविच्छिन्नतया निकटवर्ती पारस्परिक साहचर्य एवं सहयोग से नहीं हुई। इनका आरंभिक विकास पृथक्-पृथक् रूप से हुआ है। इसीलिए इनमें परस्पर-विरोधी विशेषताओं का निर्माण हुआ है। उक्त विशेषताओं के कारण ये संस्कृतियाँ परस्पर सामंजस्य के साथ निर्वाह नहीं कर पा रही हैं। इन्हीं विशेषताओं के कारण स्वतन्त्र अहंकारों तथा अभिनिवेशों का निर्माण हुआ है।

उक्त सब संस्कृतियाँ आज पूर्णतया परस्पर संपर्क में आयी हैं। विश्व के सभी राष्ट्रों और समाजों के आर्थिक, राजनीतिक तथा बौद्धिक व्यवहार आजकल अभेद्य रूप से आपस में गुंथे हुए हैं। पाश्चात्य संस्कृति आज संसार के सभी राष्ट्रों तथा समाजों के साथ संमिलन का कारण बनी है। अपने यातायात

के साधनों तथा व्यापार की पद्धति के कारण यह संस्कृति समूचे संसार को एक जगह ले आई है। यान्त्रिक संस्कृति ने गत तीन सौ वर्षों में मानव जीवन में क्रान्ति ला दी है। अब इस संस्कृति ने सभी सुसंस्कृत राष्ट्रों के अन्तरंग में प्रवेश किया है। गत तीन सौ वर्षों में अप्रतिहत रूप से पाश्चात्य संस्कृति की प्रगति हुई है। उसने अन्य पुरानी संस्कृतियों को निष्प्रभ-सा बना दिया है। खान-पान, रहन-सहन, वेश-भूषा, भाषा-लिपि, साहित्य-कला, विज्ञान और दर्शन के क्षेत्र में भी आज पूरा विश्व पाश्चात्य संस्कृति से प्रभावित है।

यह पाश्चात्य संस्कृति आधिभौतिक है। विज्ञान की प्रगति के साथ इसका यह रूप इधर और भी प्रखर हुआ है। आध्यात्मिकता की इसने उपेक्षा-सी कर दी है। इसलिये बीसवीं शताब्दी के मध्य में उक्त संस्कृति की अवनति के ही नहीं, विश्व के भी विनाश के अशुभ लक्षण दिखाई देने लगे हैं। इससे त्राण पाने का एकमात्र मार्ग इसमें आध्यात्मिक दृष्टि के समावेश से ही निकल सकता है। इस संस्कृति में यह तत्त्व भारतीय संस्कृति से लिया जा सकता है। उपनिषदों में ग्रथित आत्मदर्शन अखिल विश्व के भेदों को भ्रमपूर्ण अथवा बन्धन रूप समझकर उनके मिथ्यात्व का उपदेश देता है अथवा पूरे विश्व को अपने इष्टदेव का विकास ही मानता है। क्या शैव, क्या वैष्णव, क्या जैन, क्या बौद्ध सभी भारतीय धर्म और दर्शन मानवमात्र के अर्थात् समूची मानव-जाति के कल्याण को परमार्थ मानते हैं। भारतीय संस्कृति की मूलभूत प्रेरणा विश्वव्यापिनी है। विभिन्न दृष्टियों और संस्कृतियों में सहिष्णुता और समन्वय की भावना को जगा सकने के कारण ही यह संभव हो सका है। भारतीय संस्कृति के इस उज्ज्वल पक्ष के दर्शन पूरे विश्व को महात्मा गांधी ने न केवल विचारों से, किन्तु अपने कार्यों और आचरण से भी कराया था।

भारतीय संस्कृति संसार की प्राचीनतम संस्कृतियों में से एक है। इस संस्कृति की श्रीवृद्धि करने में अनेक मानव-वंश प्राचीन काल से संलग्न हैं। वर्तमान समय में भी यह निरन्तर विकास के पथ पर बढ़ रही है। कतिपय परिवर्तन तथा क्रान्तियाँ इसके विकास की उज्ज्वल कड़ियाँ बनी हैं। संसार की विभिन्न सभ्यताएँ इस संस्कृति से घुल-मिल कर पूर्ण हुई हैं। अन्य संस्कृतियों ने कुछ अंशों में अगर इसे उपकृत किया है, तो इससे उन्होंने बहुत कुछ पाया भी है। वास्तव में भारतीय संस्कृति विश्व संस्कृति का एक महत्त्वपूर्ण अंग है।

भारतवर्ष में विभिन्न जाति, धर्म और मतवादों के अनुयायी जन बसते हैं। वैदिक, जैन, बौद्ध, सिक्ख आदि धर्म तो इसी धरा की उपज हैं। ईसामसीह की मृत्यु के बाद प्राचीन यहूदी-धर्म के अनुयायियों ने यहाँ शरण ली थी। वैदिक धर्म के सहोदर जरथुष्ट्र धर्म के अनुयायी इस्लाम से प्रताड़ित होकर यहाँ शरण लेने आये थे। यूरोपियन आक्रान्ताओं के साथ ख्रीष्ट धर्म यहाँ आया, यह तो हाल की बात है, शताब्दियों पूर्व भी सजातीय व्यक्तियों से प्रताड़ित होकर ख्रीष्ट धर्म यहाँ आया था और केरल में आज भी उस संप्रदाय के अनुयायी शान्तिपूर्वक निवास करते हैं।

इस प्रकार सहिष्णुता और समन्वय भारतीय संस्कृति के विशेष गुण हैं। सहिष्णुता इसका प्रकट गुण है और समन्वय की प्रक्रिया जाने-अनजाने में मन्थर गति से चलती रहती है। भारतीय संस्कृति की सहिष्णुता का यह ज्वलन्त उदाहरण हैं कि विभिन्न देश, काल और वातावरण में विकसित

संस्कृतियाँ यहाँ निर्बाध रूप से रहती आई हैं, जिनका वर्णन अभी ऊपर किया गया है। अभी हाल में चीनी तानाशाहों से पराभूत होकर आयी तिब्बती जन-संस्कृति यहाँ स्वतन्त्रता की साँस ले रही है। इस्लामी राज्यकाल में भी भारतीय संस्कृति के ये गुण उद्बुद्ध थे, किन्तु राजदण्ड का सहारा लेकर चलने वाली आधिभौतिक पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव से अंग्रेजों के शासनकाल के प्रारंभ में ही ये गुण धूमिल होने लगे थे। न केवल पाश्चात्य संस्कृति, किन्तु उसके राजनीतिक चंगुल में फंसी इस्लामिक संस्कृति भी भारतीय संस्कृति को पुनः तहस-नहस कर देने में लग गई थी। इन आक्रमणों से भारतीय संस्कृति को बचाने के लिए किये गये राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द सरस्वती, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, बाल गंगाधर तिलक, योगी अरविन्द आदि महापुरुषों के प्रयत्नों से हम सभी परिचित हैं। इन महानुभावों ने न केवल बाह्य आक्रमण से, किन्तु कालविपाक से आए दोषों से भी भारतीय संस्कृति को मुक्त करने का स्तुत्य प्रयास किया है।

इतना होने पर भी भौतिक चकाचौंध, भौतिकवादी विभिन्न दार्शनिक मतवादों और सर्वोपरि राज्य-शक्ति से समर्थित पाश्चात्य धर्म और संस्कृति का यह प्रबल आक्रमण सर्वात्मना रोका न जा सका। बाह्य संस्कृतियों के आक्रमण से भारतीय संस्कृति को बचाने का प्रयत्न किया गया, किन्तु इनमें परस्पर समन्वय और सामंजस्य की स्थापना का प्रयास न हो सका। यह कार्य किया महात्मा गाँधी ने। इसीलिए हम इनको एक अखण्ड भारतीय संस्कृति के प्रवक्ता के रूप में स्मरण करते हैं। महात्मा गाँधी ने न केवल इस संस्कृति को भौतिक आक्रमण से बचाया, किन्तु पाश्चात्य संस्कृति को भी अध्यात्म की ओर उन्मुख किया। आज गाँधीवाद के नाम से पूरे विश्व में भारतीय संस्कृति की पुनः प्रतिष्ठा हुई है।

कम्युनिस्टों ने महात्मा गाँधी को कभी उचित सम्मान नहीं दिया, किन्तु वे उनके यशःशरीर को कोई हानि नहीं पहुँचा सके। साम्यवादियों के द्वारा गाँधीवाद की शवयात्रा निकालने के बावजूद समाजवादी नेता आचार्य नरेन्द्रदेव ने भारतीय संस्कृति की बोधगम्य व्याख्या प्रस्तुत की। भारतीय समाजवाद के प्रवर्तक आचार्य जी ने भारतीय संस्कृति और समाजवाद में सुन्दर समन्वय स्थापित किया। उनका कहना था कि संस्कृति चित्तभूमि की खेती है, वैसे ही, जैसे योगशास्त्र (१.२) के अनुसार योग चित्त की वृत्तियों को परिष्कृत करता है। व्यक्तियों के चित्त के साथ लोकचित्त के कार्यक्षेत्र का विस्तार आवश्यक है। लोकचित्त का राष्ट्रचित्त में और विश्वचित्त का विश्वसंस्कृति के रूप में विकास अभिप्रेत है। जीवन और संस्कृति दोनों परिवर्तनशील हैं। कालप्रवाह से जीर्ण और अनुपयोगी पुराने विचारों के परित्याग के साथ नैतिकता के नाम पर सभी पुराने आदर्शों और सिद्धान्तों का बहिष्कार तथा समाज के दीर्घकालीन अनुभव तथा संचित ज्ञान का अनादर अनुचित होगा। हमारा कर्तव्य है कि हम अपनी संस्कृति का सतर्क और वैज्ञानिक अनुशीलन प्रस्तुत करें, उसके जीवन्त तत्त्वों की रक्षा करें और आधुनिक विचारों से उनका सामंजस्य स्थापित कर नवसंस्कृति का निर्माण करें। आदान-प्रदान से ही संस्कृतियाँ संपुष्ट और ऐश्वर्यमय हो सकती हैं।

भारतीय संस्कृति का सबसे बड़ा तत्त्व विभिन्न जीवन-प्रणालियों में एकता और जीवन के हर क्षेत्र में समन्वय स्थापित करना है। इसकी दूसरी विशेषता नैतिक व्यवस्था की स्थापना तथा आचरण

की शुद्धता है। अपना ध्यान रखते हुए दूसरे का भी ध्यान रखना इसका मूल मन्त्र है — "आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्"[१] । इसका तीसरा महत्त्वपूर्ण तत्त्व है विश्व-भावना। "आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति", "वसुधैव कुटुम्बकम्" इसकी शिक्षा है। हमारी संस्कृति के दो पहलू रहे हैं — एक व्यक्तिवादी तो दूसरा समष्टिवादी, अर्थात् विश्वजनीन। इन्हींको हम व्यक्तिगत मानस और लोकमानस कह सकते हैं।

व्यष्टि और समष्टि में सामंजस्य युग की माँग है। मानव की उन्नति के लिए व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और समष्टि-भावना दोनों आवश्यक हैं। भारतीय विद्वानों के द्वारा प्रतिपादित समत्व, कर्मयोग, विश्वभावना, लोकहित तथा शील के विचारों का अर्वाचीन विद्वानों द्वारा प्रतिपादित राष्ट्रीयता, अन्तरराष्ट्रीयता, लोकतन्त्र, समाजवाद और इतिहास की वैज्ञानिक व्याख्या में सहयोग अपेक्षित है। इसके लिये अपने शास्त्रों के साथ अर्वाचीन विद्वानों के लोकतन्त्र, देशबन्धुत्व, विश्वसहयोग तथा समताराज्य संबन्धी विचारों का भी विवेचनात्मक अनुशीलन होना चाहिये। अपनी संस्कृति के कालविपरीत तत्त्वों का परित्याग कर उसके युगानुरूप कल्याणकारी तत्त्वों का संरक्षण और परिवर्धन करना और साथ ही अर्वाचीन विचारकों के हानिकारक सिद्धान्तों और परिपाटियों की यथोचित समीक्षा करते हुए उनके लाभप्रद प्रगतिशील विचारों का परिग्रहण करना युग की माँग है। काल-विपरीत निर्जीव पुराने विचारों की दुहाई देकर भारतीय गणराज्य के प्रति अश्रद्धा पैदा करना, उसके संबन्ध में जनता में भ्रम फैलाना तथा उच्च वर्गों में अधिनायकत्व की प्रवृत्ति को जगाना किसी तरह भी उचित नहीं माना जा सकता।

जात्या च सदृशाः सर्वे कुलेन सदृशास्तथा ।
न चोद्योगेन बुद्ध्याऽथ रूपद्रव्येण वा पुनः ।।

महाभारत शान्तिपर्व में गणराज्य के प्रकरण में कही गयीं भीष्म की ये दोनों बातें अर्वाचीन विद्वानों को स्वीकार हैं। वे प्रत्येक जाति, कुल और व्यक्ति की समानता को स्वीकार करते हुए उद्योग और बुद्धि की क्षमता की विभिन्नता को स्वीकार करते हैं और चाहते हैं कि क्षमता, कर्तव्यपरायणता और सद्व्यवहार ही जनविश्वास तथा पदों पर नियुक्तियों का आधार हो। हमारे पूर्वजों ने कहा है कि ज्ञान के समान पवित्र कुछ भी नहीं है और उसे सब किसी से ग्रहण किया जा सकता है — "नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते" ।

आजकल इस महनीय भारतीय संस्कृति पर जाने-अनजाने चतुर्दिक् प्रहार हो रहे हैं। सुधारवादी आन्दोलन शांकर वेदान्त के इर्द-गिर्द घूमा है और इसके कारण अनेक विसंगतियाँ उठ खड़ी हुई हैं। श्रमण-ब्राह्मण, आर्य-द्रविड़, वर्णव्यवस्था जैसी अनेक समस्याओं को जान-बूझ कर पुनः जिला दिया गया है, जिनका समाधान तन्त्रागमीय वाङ्मय ने एक हजार वर्ष पहले ही खोज लिया था। आज हम वेद-वेदान्त और आगम-तन्त्रशास्त्र की बुराइयों से घिरे हुए हैं और इनके उत्कृष्ट अवदानों को भुला बैठे हैं। यही कारण है कि हमारी आक्रमणशील कुसंस्कारों को हजम करने की शक्ति अजीर्ण से ग्रस्त हो गई है। एक हजार वर्ष तक साथ रहने पर भी हम इस्लाम की क्रूरता, हठ्वादिता और असहिष्णुता

---

१. निगमागमीयं संस्कृतिदर्शनम्, पृ. २६९-२७३ द्रष्टव्य।

जैसे कुसंस्कारों को दूर नहीं कर सके हैं और उनके चिरप्रचारित भाईचारे के संदेश को भी इस्लामिक घरौंदे से बाहर नहीं निकाल सके हैं। उलटे हम भी इन दूषणों से घिरते जा रहे हैं। एकता में अनेकता और अनेकता में एकता को देखने वाले भारतीय दर्शन को एकेश्वरवाद के समक्ष तुच्छ सिद्ध करने का अबाध प्रचार चल रहा है और ये एकेश्वरवादी कुसंस्कार इस पूरी दुनिया पर केवल अपना ही एकछत्र आधिपत्य जमाने को उद्यत हैं। छल-छद्म अथवा नकली दयाभाव के सहारे धर्म-परिवर्तन का चक्र निरन्तर चल रहा है। हम मूक दर्शक बने हुए हैं और चिरपुरातन होते हुए भी चिरनवीन उदारवादी भारतीय संस्कार इनका प्रतीकार करने में स्वयं असहाय-से हो गये हैं। राम-कृष्ण, बुद्ध-महावीर, सन्त कबीर, रैदास, गुरु नानकदेव और महात्मा गाँधी के देश की क्या यही नियति लिखी गई है?

भारतीय संस्कृति में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष नामक चार पुरुषार्थों को मान्यता मिली है। धर्म इनमें प्रधान है। धर्म-नियन्त्रित अर्थ और काम के सेवन से ही मानव जाति सुख-शान्ति से रह सकती है। लौकिक दृष्टि से इसीको हम मोक्ष मान सकते हैं। योगी अरविन्द की कल्पना तभी साकार हो सकती है, किन्तु न मालूम किस अशुभ घड़ी में किये गये 'सेक्युलर स्टेट' के 'धर्म-निरपेक्ष राज्य' अनुवाद ने पूरे देश को अनियन्त्रित अर्थ और काम के शिकंजे में फँसा दिया है। तथाकथित राजनेताओं और बुद्धिजीवियों में इसका प्रभाव तीव्रगति से बढ़ा है। धीरे-धीरे पूरा देश नैतिकता- विहीन होता चला जा रहा है। धन और विद्या को संमान मिले, इसमें किसको एतराज हो सकता है? किन्तु नैतिकता-विहीन धन और अहंकारभरी विद्या से समाज का क्या भला हो सकता है? आज देश को चरित्रवान् अर्थ-परिशुद्ध व्यक्तियों की आवश्यकता है। आगमिक संस्कृति ने कुल, जाति, धन और विद्या की अपेक्षा चरित्र को वरीयता दी है। आज उसीकी देश को आवश्यकता है। इसके अभाव में नैतिकताविहीन अर्थ और अहंकारभरी विद्या से देश का हित कभी सिद्ध नहीं हो सकता।

पुरातन की आज जिस प्रकार उपेक्षा हो रही है, उसका एक अच्छा उदाहरण मनुस्मृति[१] है। सनातन धर्म में विद्यमान सारे अनर्थों की जड़ आज इस स्मृति को मान लिया गया है। ऐसे महानुभाव आचार्य नरेन्द्रदेव की दी गई सनातन धर्म (भारतीय संस्कृति) की परिभाषा से अपरिचित हैं। सनातन धर्म के परिष्कार के लिये सम्पन्न हुए अनेक आन्दोलनों की पृष्ठभूमि में ही हम आर्यसमाजी विचारों की भी समीक्षा कर सकते हैं। सनातन धर्म ने आजीवक, लोकायत, जैन, बौद्ध, वैष्णव, शैव, शाक्त आदि आन्दोलनों के उदात्त तत्त्वों को ग्रहण करने में कभी परहेज नहीं किया। सिद्धों, नाथों, सन्तों और गुरुओं ने इसी दृष्टि का अनुसरण किया है। महात्मा गाँधी और आचार्य नरेन्द्रदेव इसी परम्परा के प्रतिनिधि हैं।

पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि सर्वं नवमित्यवद्यम् ।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते .... ।।

---

१. हमने "निगमागम सस्कृति" नामक अपने ग्रन्थ में मनुस्मृति के अनेक वचनों को सगृहीत किया है। आधुनिक विचारक थोड़ा ठहर कर देखें कि क्या ये मानव-समाज के लिये अनुपयोगी हैं? फिर यहाँ मनुस्मृति के बाद अनेक स्मृतियाँ प्रचलित हो चुकी हैं और इस प्रसंग में उनका कलिवर्ज्य प्रकरण भी देखा जा सकता है, जहाँ श्रुतियों और स्मृतियों की अनेक मान्यताएं स्थगित कर दी गयी हैं।

कविकुलगुरु कालिदास की यह उक्ति इसका आदर्श वाक्य है। यह किसी एक ग्रन्थ पर आधारित नहीं है, अथ च सभी उत्कृष्ट अवदानों को स्वीकार करने में कभी संकोच नहीं करता। जेन्दावेस्ता, बाईबिल और कुरान को भी यह उतनी ही महत्ता देता है। इसे हम विश्व का उदारतम धर्म (संस्कृति) मान सकते हैं।

वैदिक विश्वबन्धुत्व की भावना के साथ आज हमें भगवान् बुद्ध की महाकरुणा को एवं भगवान् महावीर की कठोर तपस्या को मिलाना होगा। साथ ही आगम और तन्त्रशास्त्र में तथा सिद्धों, नाथों, सन्तों और गुरुओं की वाणियों में बताई गई समतादृष्टि का भी विस्तार करना होगा। आज की दुनिया में राजनीतिक संघर्ष में धार्मिक और सांस्कृतिक क्रिया-कलापों का भी सहारा लिया जा रहा है और एक अखण्ड भारतीय संस्कृति के निर्माण में बाधा पहुँचाई जा रही है। दुर्योधन की जंघा की तरह कमज़ोर अंगों पर आक्रमण सदा होता रहा है। इसके लिए दूसरों को दोषी बताने से हमारा कोई लाभ नहीं होगा और न इस तरह से विघटन की प्रक्रिया ही रुक सकेगी।

हमारी समझ में **''यदन्नः पुरुषो भवति तदन्नास्तस्य देवताः''** वाल्मीकि रामायण की रामभद्र की इस उक्ति के अनुसार मांस-मदिरा में जिनका पूरा जीवन अनुस्यूत है, उनके उद्धार के लिए तथा उनको उचित मार्ग को दिखाने के लिए जिस रहस्यवादी शास्त्र की रचना हुई, उस पर भी इन्द्रियप्रीणन द्रव्यों के उपभोग के लोभ में उच्च वर्ग ने अधिकार कर लिया है। इस अनोखे रहस्यवाद ने ब्रह्मचारी शब्द का अर्थ ही बदल दिया। मारविजयी बुद्ध और कामदेव को भस्म कर देने वाले योगिराज शिव के द्वारा प्रवर्तित धर्मों में काम के इस प्रवेश ने कृष्णभक्ति धारा में ही नहीं, रामभक्ति धारा में भी रसिक संप्रदाय को जन्म दे दिया। मर्यादापुरुषोत्तम राम के लोकमंगलकारी स्वरूप की रक्षा का श्रेय गोस्वामी तुलसीदास को दिया जायगा। अन्यथा राम का यह चरित्र भी उसी तरह से पीछे ढकेल दिया गया होता, जैसा भगवान् श्रीकृष्ण का महाभारत और भगवद्गीता में वर्णित स्वरूप हमारी आंखों से ओझल-सा हो गया है। विश्व के उत्कृष्टतम ग्रन्थ महाभारत को घर में रखना अथवा पढ़ना आज महान् अमंगलकारी कार्य मान लिया गया है और गीता का अध्ययन गृहस्थ के लिए निषिद्ध है। इसके स्थान पर भागवत की, भागवत के दशम स्कन्ध की और रासलीला की उत्तरोत्तर प्रतिष्ठा बढ़ गई है और रासलीला के रहस्य को औपनिषद रहस्यवाद से भी ऊँचा स्थान दिया गया है। हम कहाँ पहुँच गये हैं?

●

साहित्य, सभ्यता और संस्कृति

एक भारतीय सुभाषित के अनुसार साहित्य, संगीत और कला से सम्पन्न व्यक्ति सभ्य कहलाता है। ऐसे सभ्यजन और उनका समुदाय ही सभ्यता, संस्कृति और साहित्य का निर्माण करते हैं। यहाँ का साहित्य शब्द मानव द्वारा निर्मित समस्त जागतिक ज्ञान का, संगीत शब्द संस्कृति का और कला शब्द सभ्यता का प्रतीक माना जा सकता है। सभ्यता और संस्कृति से सम्पन्न समाज साहित्य का निर्माण करता है। ऐसे भी देश हैं, जिनका साहित्य आज उपलब्ध नहीं होता। "यूनान, मिस्र, रोमा सब मिट गये जहाँ से" इस पंक्ति में जिन देशों के दुनियाँ से मिट जाने की बात कही गयी है, वे सब आज भी भौगोलिक दृष्टि से यहाँ विद्यमान हैं, किन्तु उनके मिट जाने की बात इसलिए कही जाती है कि भारत और चीन के समान इनका साहित्य आज विद्यमान नहीं है। मिस्र के समान मैसोपोटामिया, वेबीलोनिया, सुमैरिया जैसे प्राचीन देशों का साहित्य आज उपलब्ध नहीं होता, किन्तु पिरामिडों-ममियों का देश मिस्र अपनी भौतिक सभ्यता को अवश्य बचाये हुए है। साहित्य के अभाव में ही हम अशोक के स्तम्भों की और खुले में खड़े मेहरौली के लौहस्तम्भ की चमक का रहस्य भुला बैठे हैं। इन उदाहरणों से हम मान सकते हैं कि सभ्यता और संस्कृति का मुख्य परिचायक साहित्य ही होता है।

यूनान और रोम का साहित्य पूरी तरह से नष्ट हो गया, ऐसा हम नहीं कह सकते, किन्तु भारत में आज संस्कृत, पालि, प्राकृत और तमिल भाषा का जितना साहित्य उपलब्ध है, उतना अन्य देशों का नहीं, इतना ही हम मान सकते हैं। इसका प्रधान कारण यहाँ की श्रुति-परम्परा रही है। साथ ही समृद्ध लिपियों का विकास भी बहुत पहले हो चुका था। इनका श्रेय हम यहाँ की सर्वत्र समन्वय और सामंजस्य स्थापित करने वाली संस्कृति को दे सकते हैं, जबकि चीन को छोड़कर ऐसा अन्यत्र न हो सका।

मानव की सृष्टि के साथ ही सभ्यता और संस्कृति का भी विकास होने लगता है। किसी विद्वान् की यह उक्ति ठीक ही है कि अर्थ से सभ्यता का और धर्म से संस्कृति का निर्माण होता है। साहित्य इसका वाहक एवं स्थापक माना जाता है। इसीलिये भिन्न-भिन्न देशों में विभिन्न धार्मिक एवं दार्शनिक पृष्ठभूमि में विकसित हुई प्राचीन सभ्यताओं एवं संस्कृतियों का परिचय हमें प्राचीन साहित्य से मिल पाता है। प्राचीन ईजिप्ट (मिस्र), ग्रीक, रोम आदि देशों की समृद्ध सभ्यता का और संस्कृति का परिचय हम वहाँ के अवशेषों एवं साहित्य की सहायता से ही पा सकते हैं। मानवीय युद्धोन्माद अथवा उपेक्षा के कारण अधिकांश प्राचीन साहित्य नष्ट हो गया है। अनेक देशों ने और वहाँ रहने वाली मानव-जातियों ने आक्रामक देशों की साहित्य-संस्कृति से प्रभावित होकर उनको स्वीकार कर लिया और अपना सब कुछ भुला बैठे। बहुत थोड़े से ही ऐसे देश हैं, जो अपने साहित्य, सभ्यता और संस्कृति की रक्षा करते हुए दूसरों के साहित्य और संस्कृति से भी लाभान्वित हुए हैं। ऐसे देशों में हम भारत और चीन का भी नाम ले सकते हैं।

आजकल आध्यात्मिक संस्कृति उपेक्षित होती जा रही है और भौतिक सभ्यता (कला) के प्रतीक संगीत, नृत्य आदि के लिए सांस्कृतिक कार्यक्रम आदि शब्दों का प्रयोग होने लगा है। सभ्यता शब्द का प्रयोग इनके लिए नहीं के बराबर हो रहा है। इस विकृति से मुक्त भारत ही संस्कृति के सही स्वरूप को दुनिया के सामने रख सकता है। प्रो. राजाराम शास्त्री ने संस्कृति के भौतिक और आध्यात्मिक विभाग कर के बताया है कि भौतिक संस्कृति को सभ्यता भी कहते हैं। वस्तुतः देखा जाय तो सभ्य समाज की आध्यात्मिक उन्नति को संस्कृति और औद्योगिक उन्नति को सभ्यता के नाम से जानना चाहिए। इसीलिये संस्कृति को धर्म और सभ्यता को अर्थ से जोड़ा जाता है। हमारी दृष्टि में सभ्यता शब्द ६४ कलाओं से और संस्कृति शब्द संस्कारों से अधिक समरस है। ६४ कलाओं के नाम पुष्पदन्त के महिम्नस्तव के ७वें श्लोक की अतिविस्तृत मधुसूदनी टीका में देखे जा सकते हैं।

वाराणसी के विश्वविद्यालय प्रकाशन से अभी हाल में प्रकाशित ग्रन्थ "भारतीय समाज एवं संस्कृति" में सभ्यता और संस्कृति शब्दों पर विस्तार से विचार किया गया है। इस ग्रन्थ में ४२ विद्वानों के निबन्ध और अन्त में पाँच परिशिष्टों में आचार्य नरेन्द्रदेव की संस्कृति संबन्धी टिप्पणियाँ संगृहीत हैं। यहाँ सभ्यता-संस्कृति शब्दों के नानाविध अर्थ और व्याख्याएँ मिलती हैं। आचार्य नरेन्द्रदेव के द्वारा सुझाये गये सचेत अध्ययन के आधार पर हमें भारतीय पृष्ठभूमि में इन सब पर विचार करना होगा। सभ्यता और संस्कृति को अभिन्न मान लेने वाले विचार हमें ग्राह्य नहीं हो सकते। यों आचार्य जी के द्वारा प्रस्तुत की गई संस्कृति की परिभाषा की चर्चा हम प्रारंभ में ही कर चुके है। उक्त ग्रन्थ में दर्शन, धर्म, सभ्यता और संस्कृति की परिभाषा इस प्रकार दी गई है— हम सबकी जिजीविषा में तालमेल बिठाने वाली दृष्टि ही **दर्शन** है। इस दर्शन के अनुरूप सृष्टि करने वाली आचारसंहिता **धर्म** है। धर्म का नीतिपरक व्यवहार **सभ्यता** है और अन्तःस्पर्शी सदाशयिता **संस्कृति** है (पृ० २५२)। हमारी समझ में साहित्य, सभ्यता और संस्कृति से संपन्न सभ्य पुरुष का आचरण ही सभ्यता कहला सकता है। आजकल सभ्यता और संस्कृति शब्दों के प्रयोग में घालमेल हो गया है। निरन्तर गतिशील काल की ही यह महिमा मानी जाएगी।

साहित्य और सभ्यता शब्दों के अर्थ पर ऊपर विचार किया गया है। यह बात सही नहीं है कि इस शब्द का प्रयोग भारतीय साहित्य में कहीं नहीं हुआ। प्रायः वर्तमान अर्थ में ही यह शब्द शुक्ल-यजुर्वेद की माध्यन्दिन संहिता में इस प्रकार मिलता है— "संस्कृतिर्विश्ववारा" (७.१४)। ऐतरेय ब्राह्मण में भी यह शब्द उपलब्ध है— "आत्मसंस्कृतिरेव शिल्पानि" (६.२७)। कौषीतकि ब्राह्मण में नृत्य, गीत और वादन की शिल्प में गणना की गयी है। आजकल भी संगीतशास्त्र में इन तीनों की गिनती की जाती है। आजकल के सांस्कृतिक शिष्टमण्डल में इनका प्रधान रूप से समावेश मिलता है। भारत में १६ संस्कारों का वर्णन मिलता है। ये मानव के शरीर के साथ आत्मा का भी संस्कार करते हैं। मीमांसादर्शन के शाबरभाष्य में संस्कार की परिभाषा इस प्रकार दी गयी है— "संस्कारो नाम स भवति, यस्मिन् जाते पदार्थो भवति योग्यः कस्यचिदर्थस्य" (३.१.३)। यहाँ वस्तु के संस्कार की बात कही गयी है और ब्रह्मसूत्र के शांकरभाष्य में— "संस्कारो हि नाम संस्कार्यस्य गुणाधानेन स्याद्

दोषापनयनेन वा" (१.१.४) आत्म-संस्कार भी चर्चित हैं। इस प्रकार संस्कार शब्द संस्कृति के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, ऐसा हम मान सकते हैं। स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में भी हमारे लिए संस्कृति शब्द अपरिचित नहीं रहा है। "यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्" (३२.८) माध्यन्दिनसंहिता का यह वचन ऊपर उद्धृत इसी संहिता के वचन से समरस है। इसी वैदिक वाक्य का प्रयोग गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने शान्तिनिकेतन के आदर्श वाक्य के रूप में किया है। वह संस्कृति शब्द से ही समरस हो पाता है। ऐसी स्थिति में संस्कृति शब्द के लिए कृष्टि शब्द का प्रयोग कदापि मान्य नहीं हो सकता। हमें लगता है कि संस्कृति को चित्तभूमि की खेती बताने के प्रसंग में आचार्य नरेन्द्रदेव का ध्यान कृष्टि शब्द की ओर ही गया होगा।

"यूनान मिस्र रोमा" इस उक्ति का भी यही अभिप्राय है कि जब ये सब पुरातन संस्कृतियाँ नाम- शेष रह गईं, भारतीय संस्कृति की मूल पावन धारा अविरल धीर-गंभीर गति से आज भी बह रही है। विभिन्न देश-काल और परिस्थितियों में पली हुई संस्कृतियों को आत्मसात् कर लेने की अद्भुत सामर्थ्य इसमें है। इस संस्कृति ने आन्तरिक और बाह्य, दोनों प्रकार के आक्रमणों का बड़े आत्मविश्वास के साथ सामना किया है और अन्य संस्कृतियों के उदात्त तत्त्वों को अपना लेने में कभी परहेज नहीं किया। प्रारंभ में ही यह संस्कृति त्याग, तपस्या, सहिष्णुता और समन्वय के चार मजबूत पायों पर खड़ी हुई है। आज ये मूल मान्यताएँ लड़खड़ाती-सी नजर आ रही हैं।

वैदिक धारा में कभी हिंसाप्रधान कर्मकाण्ड का बाहुल्य हो गया था। औपनिषद धारा ने इसका विरोध किया। इसने मोक्षपथ की यात्रा के लिए वैदिक कर्मकाण्ड को कमजोर नाव बताया। ये औपनिषद उपदेश आज पूरे विश्व की धरोहर हैं। शताब्दियाँ बीत जाने पर भी देश और काल की सीमा को लाँघ कर सर्वत्र आध्यात्मिकता का प्रसार करने में ये आज भी समर्थ हैं। कठोपनिषद् कहती है— "न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः" (१.२७)। अर्थात् मनुष्य की तृप्ति धन से नहीं हो सकती। इसके विपरीत मार्क्सवाद हमें कहाँ ले जा रहा है।

आज की भारतीय संस्कृति के अजस्र प्रवाह में वैदिक, औपनिषद, जैन, बौद्ध, तन्त्रागमीय, पौराणिक, सन्त, इस्लाम और पाश्चात्य संस्कृति की धाराओं का जल मिल कर बह रहा है। इन सभी धाराओं के साथ संपूर्ण भारतीय जनमानस में भावात्मक एकता स्थापित होने के बाद ही समग्र भारतीय संस्कृति के निर्माण का पथ प्रशस्त हो सकेगा और तभी देश में एक राष्ट्रीयता का भी विकास होगा। स्वतन्त्रता की प्राप्ति के बाद क्या इस दिशा में कुछ कार्य हुआ है?

आज भारत को धर्मनिरपेक्षता की नहीं, सर्वधर्म-समादर की अपेक्षा है। सेक्युलरिज्म भारत में विकृत हो चुका है। आज भारत का ही नहीं, विश्व का भी कल्याण भारतीय संस्कृति के ऊपर निर्दिष्ट स्वरूप को स्वीकार करने से ही संभव है। यह देश एक हजार वर्ष पहले की अपनी सार्वभौम चिन्तनधारा से अभी भी जुड़ नहीं पाया है। आज भारत में फैला सेक्युलरिज्म और कम्युनिज्म ऐसा होने भी नहीं देगा।

पाश्चात्य विचारक जानबूझ कर कहते हैं या अनजाने में, यह कह पाना तो कठिन है, किन्तु वे भारतीय संस्कृति के उदात्त तत्त्वों के प्रति आधुनिक प्रज्ञा में विराग पैदा करने और कालातीत तत्त्वों को उजागर करने में निरन्तर सचेष्ट रहते हैं। आधुनिक भारतीय राजनीतिज्ञों और तथाकथित बुद्धिजीवियों की भी प्रायः यही स्थिति है। युगों की व्यवस्था इसी तरह की एक भारतीय अवधारणा है। कलियुग के वर्णन ने सारी भारतीय प्रज्ञा को जकड़ रखा है। यह सतयुग के आने की अथवा भगवान् के अवतार की प्रतीक्षा में हाथ पर हाथ धरे बैठीं रहती है। इसके विपरीत नेत्रतन्त्र (मृत्युंजयभट्टारक) में बताया गया है कि भगवान् के राज्य में कलियुग आदि की प्रवृत्ति नहीं होती (१९.२१९)। इसीकी पृष्ठभूमि में हमें काल की नूतन परिभाषा देनी होगी। पाश्चात्य विचारक काल पर, सीमित रूप में ही सही, विजय प्राप्त करने में क्यों समर्थ हुए हैं, थोड़ा ठहर कर हमें विचार करना होगा। इसके साथ ही हमें व्यक्ति, समाज और प्रकृति की परिभाषा को भी प्राच्य और पाश्चात्य विचारों की पृष्ठभूमि में नूतन स्वरूप देना होगा। आर्य-अनार्य, व्रात्य-द्रविड़, वर्ग-वर्ण जैसे शब्दों की अब चर्चा न की जाय, यही उचित होगा। इनकी बढ़-चढ़ कर चर्चा कर हम भारतीय समाज में विग्रह को बढ़ावा दें, इसके सिवाय कुछ भी हाथ लगने वाला नहीं है। इसके लिये यह आवश्यक है कि हम पूरे भारत में एक राष्ट्र, एक संस्कृति और एक भाषा की स्थापना का प्रयत्न करें।

धर्म और संस्कृति के आधार पर भारत का और फिर भाषा के आधार पर पाकिस्तान का विभाजन हो जाने के बाद भी भारत में एक संस्कृति और एक भाषा के विषय में सोचने को कोई तैयार नहीं हो रहा है। भारतीय जनतादल दबी जबान से एक संस्कृति की चर्चा अवश्य करता है, किन्तु भाषा के विषय में वह भी चुनावी माहौल के इर्द-गिर्द ही घूम रहा है। यह देश एक हजार वर्ष पहले की अपनी चिन्तनधारा से अभी भी जुड़ नहीं पा रहा है और भारतीय संस्कृति पर अरब और पाश्चात्य देशों के हो रहे हमलों से बेखबर है। हमारे ऊपर नेहरु-संस्कृति का जो नशा चढ़ा हुआ है और राम-भक्तों को हिन्दू आतंकवादी बताने वाला ब्रिटिश प्रचारतन्त्र उस नशे को न उतरने देने के लिए जी-जान से जुटा हुआ है। भारतीय पत्रकारिता भी इसके चंगुल से अपने को बचा नहीं सकी है।

भारतीय संस्कृति में शब्द की अपार महिमा गाई गयी है। भूः, भुवः और स्वः शब्द के उच्चारण के साथ ही पृथिवी, अन्तरिक्ष और स्वर्ग की सृष्टि हुई, ऐसी मान्यता उपनिषदों की है। हमारे कम्युनिस्ट भाई तो यह भी नहीं जानते होंगे कि यह उपनिषद् क्या बला है? इसके विपरीत पूरा चिन्तनशील विश्व आज भी यह मानता है कि उपनिषदों का आध्यात्मिक ज्ञान मानवीय उत्कृष्ट विचारों का अद्भुत खजाना है। करुण रस को उत्कृष्टतम कोटि में पहुंचा देने वाले महाकवि भवभूति का इस प्रसंग में कहना है कि सामान्य मनुष्य की वाणी अर्थ का अनुसरण करती है, किन्तु वही अर्थ ऋषियों-मुनियों की वाणी का अनुसरण करता है (ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति) अर्थात् जैसा ये लोग कहते हैं, वैसा ही बाद में घटित हो जाता है। शब्द की इस महिमा के प्रसंग में आजकल के धर्म-निरपेक्ष शब्द को हम उदाहरण के रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं।

न मालूम किस बुरी घड़ी में 'सेक्युलर' शब्द का यह असांस्कृतिक अनुवाद किया गया, जिसने भारतीय संस्कृति की जड़ों में मट्ठा पिलाना शुरू कर दिया। चार वर्ण, चार आश्रम और चार पुरुषार्थों की व्यवस्था केवल भारतीय प्रजा के लिए ही नहीं, पूरे विश्व में सुख और शान्ति की स्थापना के लिए

उपयोगी है, इस बात को पूरे आत्मविश्वास और निर्भीकता के साथ प्रचारित किया जाना उचित था, किन्तु एक हजार वर्ष की परतन्त्रता और बाह्य संस्कृतियों की चकाचौंध के कारण भारतीय राजनीतिज्ञों में हीनभावना पूरी तरह से पैठ चुकी है। उन्होंने चार पुरुषार्थों में प्रथम धर्म को ही देश से निकाल बाहर करने में सारी ताकत लगा दी है तथा देश को अर्थ की अन्धी दौड़ में फँसा दिया है।

धर्म शब्द भारतीय धर्मशास्त्रों के अनुसार आधुनिक सारे नैतिक गुणों का एक पुंजीभूत स्वरूप है। इस प्रकार धर्म-निरपेक्ष शब्द का अर्थ होता है, नैतिकताविहीन समाज, अर्थ का दास समाज। यह 'धर्मनिरपेक्ष' शब्द का ही प्रभाव है कि इस शब्द की दुहाई देने वाले राजनीतिज्ञ नैतिकताविहीन होते चले जा रहे हैं। राष्ट्र की इनको चिन्ता नहीं है, सत्ता में आने के बाद इनको यह चिन्ता सताने लगती है कि यह कुर्सी हमारे ही पास किस तरह से बनी रहे। किन्तु क्या ऐसा हो पा रहा है? इतने मात्र से भारत की समस्याओं का तब तक कोई समाधान नहीं हो सकेगा, जब तक कि इस राष्ट्र को एक संस्कृति और एक भाषा के ठोस धरातल पर खड़ा नहीं किया जाता।

इधर कुछ राजनीतिक दल विकृत धर्मनिरपेक्षता को हटाने की बात करने लगे हैं, किन्तु यह सोचने की बात है कि धर्मनिरपेक्षता तो सदा विकृत ही होती है। इस देश का जबतक इस शब्द से पिण्ड नहीं छूटेगा, तब तक संस्कृति की बात करना बेकार है। इसके लिए तो सबसे पहले इस शब्द से पूरे प्रचारतन्त्र को मुक्त करना होगा और 'सेक्युलर' शब्द का पर्यायवाची कोई एक नया शब्द तलाशना होगा। क्या भारतीय भाषाएँ इतनी कमजोर हो गई हैं कि इस एक शब्द के लिए 'धर्म-निरपेक्ष' जैसे दो शब्द गढ़े जायँ और ये शब्द भी ऐसे जो भारतीय संस्कृति को ही पंगु बना दें। अंग्रेजी चश्मे से भारतीय संस्कृति को देखने वालों से हम और आशा भी क्या रख सकते हैं? बिन-संप्रदाय, पन्थ-निरपेक्ष जैसे शब्द भी इसलिए ठीक नहीं हैं कि यहाँ अंग्रेजी के एक शब्द का दो शब्दों में अनुवाद किया गया है। जहाँ तक अंग्रेजी के 'सेक्युलर स्टेट' शब्द की मूल मंशा है, उसका अभिप्राय यह है कि ऐसा राज्य जो व्यक्ति या व्यक्ति-समूह के परलोक सम्बन्धी विचारों में बिना किसी तरह का दखल दिये केवल उसके वर्तमान जीवन की सुख-सुविधा की चिन्ता करे। इस अभिप्राय को व्यक्त करने में 'लोकराज्य' शब्द अधिक सशक्त है।

चार्वाक दर्शन स्वर्ग-नरक, आत्मा-ईश्वर आदि की सत्ता नहीं मानता। वह प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अन्य किसी प्रमाण को भी स्वीकार नहीं करता। आज भी न्यायालय में चश्मदीद गवाह को ही मान्यता प्राप्त है। न्यायाधीश अनुमान के सहारे कोई निर्णय नहीं कर सकता। इस दर्शन की पृष्ठभूमि में 'लोकराज्य' शब्द का वही अर्थ होता, जो 'सेक्युलर स्टेट' से निकलता है। यह लोकराज्य वास्तव में जनता का होगा, नेताओं का नहीं। आज तो धर्म-निरपेक्षता अल्पसंख्यकों के धर्म तक सीमित है, बहुसंख्यकों के धर्म के साथ तो यह निरन्तर छेड़-छाड़ किया करती है। भारत को धर्मनिरपेक्षता का झुनझुना पकड़ाकर सेमेटिक धर्म धर्मान्तरण की गति को ही बढ़ाते हैं। राष्ट्र के कल्याण के लिए यह आवश्यक है कि जितना जल्दी हो सके, हम इस शब्द से अपना पिण्ड छुड़ा लें और **'लोकराज्य'** में पूरी भारतीय प्रजा के ऐहलौकिक कल्याण के लिए बिना किसी भेदभाव के समान-नियमावली बना लें।

भारतीय राजनीतिज्ञों की धर्मनिरपेक्षता ने सारी पुरानी मान्यताओं को तहस-नहस कर दिया है। नये आधारों की खोज हम नहीं कर पाये हैं और आयातित विचारों ने भाँति-भाँति के 'स्तानों' और 'लैण्डों' के नाम से देश को टुकड़ों-टुकड़ों में बाँट देने के लिए हमें आमादा कर दिया है। सबसे ज्यादा दुर्दशा असम राज्य की हुई है। एक भाषा के रूप में हिन्दी को कभी की मान्यता मिल जानी चाहिए थी; किंतु पाश्चात्य विद्वानों के द्वारा कल्पित आर्य और द्रविड़ विवाद ने इस कार्य को अभी तक पूरा नहीं होने दिया है। मान लिया जाय कि कभी यह विवाद हुआ था, किन्तु आज उसका क्या प्रसंग है? आज की भारतीय संस्कृति के तो प्रवक्ता शंकर, रामानुज, मध्व, निम्बार्क और वल्लभ जैसे दक्षिण के द्रविड़ाचार्य ही हैं। दक्षिण के आलवार और नायनार, वैष्णव और शैव सन्तों के द्वारा प्रचारित उस भक्ति-सम्प्रदाय का ही तो सारे भारत में विस्तार हुआ है, जिसमें लिंग और वर्ण का भेदभाव किये बिना "हरि को भजे सो हरि को होई" जैसे उदात्त सिद्धान्त की स्थापना हो सकी और जिसने हमें रामानन्द, कबीर, रैदास, पुतलीबाई, मीराबाई, रहीम, रसखान, दादूदयाल जैसे भक्त-सन्तों को दिया है। सूफी सन्तों और गुरु नानकदेव की परम्परा भी इससे भिन्न नहीं है। मोहनदास करमचन्द गाँधी को महात्मा कहा गया और डॉ. भीमराव अम्बेडकर को आधुनिक मनु का खिताब दिया गया, यह भी इसी परम्परा की देन है। तो क्यों हम पाश्चात्य विचारों से अभिभूत हो आज अपनी मातृभूमि को ही टुकड़ों-टुकड़ों में बाँट देने के लिए उतावले हो उठे हैं ?

प्रश्न आस्था का है। एक राष्ट्र, एक संस्कृति और एक भाषा की हमारी आस्था डगमगा गई है। हम अपनी अपार अनोखी सांस्कृतिक धरोहर को भुला बैठे हैं। आधुनिक प्रचारतन्त्र ने हमारी वही गति कर दी है, जो पंचतंत्र में उस ब्राह्मण की हुई थी, जिसे गाय के बछड़े को बकरी का बच्चा बताकर ठग लिया गया था। आज भी ब्राह्मणवाद और मनुवाद का भूत दिखाकर भारतीय प्रजा को ठगा जा रहा है। आर्य और द्रविड़ विवाद तो कल्पना पर आधारित भी हो सकता है, किन्तु ब्राह्मणवाद और श्रमणवाद का कभी सचमुच यहाँ बोलबाला था। इसको हम नकार नहीं सकते कि ब्राह्मण और श्रमण (प्रधानतः बौद्ध और जैन) विचारधारा में एक लम्बा संघर्ष छिड़ा, किन्तु साथ ही इसको कोई अस्वीकार नहीं कर सकता कि यह संघर्ष विचारों का था और इसने अनेक उत्कृष्ट भारतीयों को जन्म दिया। ये सभी भले ही ब्राह्मण हों, बौद्ध हों या जैन, हमारे पूर्वपुरुष हैं, वन्दनीय हैं, सराहनीय हैं और इन्हीके कारण यह भारत देश आज भी विचारों के क्षेत्र में उदारता, सहिष्णुता और समन्वय की प्रक्रिया में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। इस प्रक्रिया को भी आज के राजनीतिज्ञ द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से अभिभूत हो नष्ट कर देना चाहते हैं और सर्वत्र संघर्ष के बीज बो दे रहे हैं।

भारतीय संस्कृति की आगम और पुराण धारा ने इस तथाकथित ब्राह्मण और श्रमण के झगड़े को कभी का समाप्त कर दिया है और एक स्मार्त धर्म की प्रतिष्ठा की है, जिसमें जैन, बौद्ध, शैव, वैष्णव आदि उस समय के भारत में प्रचलित सभी सम्प्रदायों के उदात्त तत्त्वों का समावेश किया गया है। शंकराचार्य के अद्वैतवाद एवं बौद्ध विज्ञानवाद की प्रत्यभिज्ञा दर्शन के रूप में नई व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। आज का सूफीवाद भी उससे प्रभावित है। यहाँ जातिवाद को और उसमें घुसी ऊँच-नीच की दृष्टि को पूरी तरह से नकार दिया गया है।

इतना सबकुछ होते हुए भी आज का प्रचारतन्त्र ब्राह्मणवाद और मनुवाद के भूत को जगाता चला आ रहा है। भारतीय जनतादल ने बाबरी मसजिद को स्थानान्तरित करने की बात कही थी। उसकी यह सही सलाह नहीं मानी गई। उसका हिन्दू-राष्ट्र का सिद्धान्त भी केवल शब्द का झगड़ा है। उसका अभिप्राय भारत को राष्ट्र की मान्यता दिलाना मात्र है। इस सत्य को नकार कर इस दल पर भाँति-भाँति के मिथ्या आरोप लगाकर राजनीति के क्षेत्र में इस दल को अछूत सिद्ध करने के लिए विदेशी प्रचार-माध्यम और भारतीय राजनीतिज्ञ ही नहीं, भारतीय पत्रकारिता भी पूरी तरह से जुटी हुई है। भारतीय पत्र-व्यवसाय किसी न किसी तथाकथित धर्मनिरपेक्ष राजनीतिक दल या विचारधारा के हाथों बिका हुआ है। इस अन्धेरगर्दी में बेचारा बुद्धिजीवी किस खेत की मूली है?

धर्म और संस्कृति

मनुस्मृति के धर्म की नहीं, धर्म-निरपेक्षता वाले धर्म की यहाँ चर्चा की जा रही है। यह इसलिये कि धर्म-निरपेक्ष ताकतों को एकजुट करने के लिए राजनीतिक नेताओं का ही नहीं, बुद्धिजीवियों का भी आह्वान किया जा रहा है और इस तरह से अधिसंख्य भारतीय प्रजा को बरगलाने का, उसको पथभ्रष्ट करने का प्रयास भारतीय धर्म को ही नहीं, भारतीय संस्कृति को भी नष्ट कर देने के लिए किया जा रहा है।

हम जानते हैं कि भारत आज अनेक धर्मों का देश है। विविध धर्मों-संप्रदायों का अनुवर्तन करने वाली प्रजा यहाँ निवास करती है। प्रश्न यह है कि क्या भारत में यह स्थिति आज ही पैदा हुई है? वस्तुतः भारत तो बहुत पहले से ही अनेक धर्मों और दर्शनों का देश रहा है। इनके पारस्परिक कलह को और फिर एकजुट हो जाने के प्रयोगों को भी हमने देखा है।

ऐसा पहला महान् प्रयोग महाभारतकाल में हुआ था। केवल वेदों को ही प्रमाण मानकर बाकी सभी मत-मतान्तरों (सांख्य-योग, न्याय वैशेषिक, जैन-बौद्ध, पंचरात्र-पाशुपत) को अवैदिक, अतएव अप्रमाण मान लिया गया था, किन्तु महाभारतकाल में केवल वेदों को ही नहीं, उनके स्थान पर कृतान्तपंचक (सांख्य, योग, पांचरात्र, पाशुपत और वेदारण्यक नामक पाँच सिद्धान्त) को समान रूप से प्रमाण माना गया। दूसरा प्रयोग आचार्य शंकर ने किया। प्रपंचसार के माध्यम से इन्होंने शैव, वैष्णव, शाक्त, सौर, गाणपत्य जैसे संप्रदायों में समन्वय स्थापित कर स्मार्त धर्म की प्रतिष्ठा की और उनकी दी हुई यह व्यवस्था आज भी मान्य है।

आज भारत को पुनः उसी तरह की समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है। भारत में उपजे धर्मों के अतिरिक्त बाहर से आये धर्मों में आज उसी तरह की अथवा उससे भी निकृष्ट कोटि के संघर्ष की स्थिति है। क्या इनमें सहिष्णुता के आधार पर पुनः समन्वय स्थापित करने की हमारी सामर्थ्य चुक गई है? वास्तव में ऐसा है नहीं, किन्तु ऐसा करने से पहले हमें धर्म और संस्कृति का अन्तर पहचानना होगा। ऊपर बताये गये सभी धर्म या संप्रदाय यहाँ किसी न किसी रूप में अब भी स्थित हैं और सहिष्णुता के आधार पर समन्वय की ओर अग्रसर उदार विचारधारा भी। पहली परम्परावादिनी विचारधारा को **धर्म** के नाम से और दूसरी उदारवादी प्रवृत्ति को हम **संस्कृति** के नाम से पहचान सकते हैं। हमने आज धर्म और संस्कृति को एक मानकर संस्कृति की पहचान को ही समाप्त कर दिया है।

ऊपर के अर्थ में धर्म एक स्थिर तत्त्व है, जबकि संस्कृति में स्थिरता के साथ परिवर्तनशीलता भी जुड़ी हुई है। इस तत्त्व को भारतीय संस्कृति में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। महाकवि कालिदास

का कहना है कि पुराना सब कुछ अच्छा ही है और नया सब कुछ खराब ही है, ये दोनों बातें गलत हैं। समझदारी इसमें है कि हमें पुराने और नये विचारों को कसौटी पर कसना चाहिये। भगवान् बुद्ध का कथन है कि जैसे सुवर्ण के खरे-खोटेपन को कसौटी पर कस कर पहचाना जाता है, उसी तरह से मेरी बातों को भी परीक्षा के उपरान्त ही ग्रहण किया जाय। भारतीय संस्कृति के इस तत्त्व को हमें हृदयंगम करना चाहिये। आचार्य नरेन्द्रदेव ने भारतीय संस्कृति के इसी स्वरूप को उजागर किया था। संस्कृति के इस उदात्त तत्त्व के आधार पर ही आज हम पुनः वर्तमान काल में भारत में प्रवृत्त धर्मों में सामंजस्य बिठा सकते हैं। अधिसंख्य भारतीय प्रजा इसी दृष्टिकोण का अनुवर्तन करती है।

इस पवित्र कार्य को आज के राजनेतागण नहीं होने दे रहे हैं। पाश्चात्य संस्कृति, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, नेहरुवाद और लोहियावाद से प्रभावित ये राजनेता अपनी वोट-बटोरू आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये भारतीय संस्कृति को ही नहीं, सामान्य नैतिकता को भी तिलांजलि देकर अल्पसंख्यकों, दलितों और अधिसंख्य भारतीय प्रजा को भी भीषण संघर्ष की आग में झोंक देना चाहते हैं, किन्तु यह निश्चित है कि सन्तों, नाथों, सिद्धों, गुरुओं और सूफियों के उपदेशों से प्रभावित भारतीय प्रजा इनके चंगुल में नहीं फँसने वाली है। एक न एक दिन यह प्रबुद्ध भारतीय प्रजा ही इन पथभ्रष्ट नेताओं को सही रास्ते पर ले आयेगी। प्रत्येक चुनाव में यह इन तथाकथित राजनेताओं को एक झटका देती है, किन्तु "फिसल पड़े तो हरगंगा" कहकर वे फिर अपनी फन फैलाकर उठ खड़े होते हैं। ये लोग वोट बटोरने के लिये इतने मदमत्त हो गये हैं कि देश के भविष्य के विषय में सोचना ही बन्द कर दिया है। इन तथाकथित नेताओं के चलते धर्मनिरपेक्षता से हमारा पिण्ड जल्दी छूटने वाला नहीं है। एक प्रकार से यह भारतीय संस्कृति पर बाह्य संस्कृतियों का आक्रमण है। सभी तथाकथित धर्मनिरपेक्ष ताकतें भारतीय धर्मों को ही नहीं, भारतीय संस्कृति को भी जड़-मूल से उखाड़ फेंकने के लिए एकजुट हो गई हैं। इनको भारत के बहुसंख्यकों का धर्म दुनियाभर की सबसे निकृष्ट सभ्यता का प्रतीक प्रतीत होता है।

प्राचीन भारत की वेद को प्रमाण मानने वाली और न मानने वाली दो तरह की परम्पराओं की तरह आजकल धर्मनिरपेक्षता में विश्वास करने वाली और न करने वाली दो तरह की विचारधाराएँ भी स्पष्ट परिलक्षित हो रही हैं। तथाकथित भारतीय राजनीतिज्ञ बिना सोचे-समझे, केवल अपनी स्वार्थपूर्ण राजनीति को चलाने के लिये, भारतीय धर्मों और संप्रदायों की समालोचना करते हैं। उनसे उन प्रतिगामी धर्मपरिवर्तनवादिनी ताकतों को ही बल मिलता है, जो प्रच्छन्न रूप से भारतीय संस्कृति को उखाड़ फेंकने में लगी हैं। फलतः मध्यकालीन बर्बरता और अर्थलोलुपता को बढ़ाने वाले संस्कार आतंकवाद के रूप में तीव्र गति से भारतीय प्रजा को भयभीत करने में लगे हुए हैं। मध्यकालीन बर्बरता के अनुयायी आक्रमणकारियों ने धर्म के नाम पर असंख्य धर्मस्थलों को विकृत कर दिया। इस विकृत मानसिकता के प्रतीक इन स्थलों की सुरक्षा के नाम पर क्या हम मानवीय उदात्त गुणों की अपेक्षा धार्मिक बर्बरता को प्रश्रय नहीं दे रहे हैं? क्या इस प्रकार से भारतीय संस्कृति के सहिष्णुता, समन्वय जैसे मूल उपादानों पर ही हम कुठाराघात नहीं कर रहे हैं?

चीनी विस्तारवाद और इस्लामिक हठवाद (बन्दर-घुड़की) का एक न एक दिन पूरी दुनिया को सामना करना पड़ेगा। अमेरिका ने तो इसका सामना किया। अपने जन्म के साथ ही इसराइल भी इसका जवाब दे रहा है, किन्तु भारतीय राजनीतिज्ञ इस्लामिक बन्दर-घुड़की से सदा आतंकित रहे हैं। कश्मीर से पूरा हिन्दू समाज निकाल बाहर कर दिया गया। इनके लिये आँसू बहाने वाला एक भी राजनीतिज्ञ दूरबीन से खोजने पर भी नहीं दिखाई पड़ता है, किन्तु १०-२० आतंकवादी जब एक साथ पकड़ लिये जाते हैं या मुठभेड़ में मारे जाते हैं, तो इन तथाकथित धर्म-निरपेक्ष ताकतों की नींद हराम हो जाती है। देश की रक्षा के एक स्तंभ के रूप में अपने को प्रस्तुत करने वाले पत्रकारों का शोरगुल भी पाठकों को आश्चर्य में डाले बिना नहीं रहता। धर्म के नाम पर भारतीय संस्कृति का यह पराभव विगर्हणीय है।

आधुनिक राजनेताओं की धर्म-निरपेक्षता की परिभाषा के अनुसार तो यह देश सदा से ही धर्म-निरपेक्ष रहा है, किन्तु एक हजार वर्ष तक साथ-साथ रहने के उपरान्त भी हम इस्लाम को धर्म-निरपेक्षता, सहिष्णुता और समन्वय का पाठ नहीं पढ़ा सके। अभी भी हमने मानव जाति के मध्यकालीन बर्बरता के इतिहास में जी रही प्रजा को इमामों, मुल्ला-मौलवियों और बन्दर-घुड़की देने में लगे राजनेताओं के खूनी पंजों में सौंप रखा है। क्या हमारा यह कर्तव्य नहीं है कि वैचारिक दृष्टि से दुनिया में सबसे पिछड़ी हुई भारतीय प्रजा के इस अंग को सुशिक्षित किया जाय, संकीर्णता से उसे बाहर निकाला जाय। यह कार्य कुछ गिने-चुने धार्मिक नेताओं और राजनीतिज्ञों के साथ बैठकर चाय पीने से नहीं होगा। इसके लिये तो हमें इस पूरे समाज में भारतीय संस्कृति के प्रति अनुराग पैदा करना होगा।

भारतीय धर्म और संस्कृति पर आज चतुर्दिक् प्रहार किये जा रहे हैं। यह सारा बखेड़ा धर्म और संस्कृति में घालमेल कर देने से उठ खड़ा हुआ है। भारत के सभी राज्यों में अपनी-अपनी भाषा में भक्तों, सन्तों और सूफियों का विशाल साहित्य उदारवादी भारतीय संस्कृति को उजागर करता है। रामानन्द, कबीर, रैदास, ज्ञानदेव, नानकदेव, मीराबाई, नरसी मेहता आदि उस मानवतावादी भक्ति-प्रधान साहित्य के प्रतिनिधि पुरोधा हैं, किन्तु इस बात को हम भूल बैठे हैं कि इन सबकी पृष्ठभूमि में आगम, पुराण, तन्त्रशास्त्र आदि का एक विशाल उदारवादी गंभीर साहित्य-समुद्र हिलोरें ले रहा है, जिसने वैदिक-अवैदिक मतवादों में समन्वय स्थापित करने का महनीय प्रयत्न किया था। इस साहित्य ने सभी भारतीय मतवादों और धर्मों में सहिष्णुता और समन्वय को ही जन्म नहीं दिया, पूरी मानव जाति को मुक्ति का अधिकार भी दिया। राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी उसी उदारवादी भारतीय संस्कृति के प्रतीक थे। आज तो हम उन्हें भी भुला बैठे हैं।

हमारी अपनी समालोचना के बिना यह प्रयोग अधूरा रह जायगा। तन्त्रशास्त्र के "भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव" इस सिद्धान्त को तो हमने स्वीकार कर लिया, किन्तु वहीं जब जाति की अपेक्षा चरित्र को महत्त्व दिया जाता है, तो उसकी यह बात हमारे गले-तले नहीं उतरती। २०वीं शताब्दी के रजनीश भी एक जैन आचार्य हैं और पहली-दूसरी शताब्दी के तत्त्वार्थसूत्रकार उमास्वाति भी। एक संभोग से समाधि का उपदेश देते हैं, तो दूसरे सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चरित्र को मोक्ष

का मार्ग मानते हैं। 'सत्' की उमास्वाति की परिभाषा (उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्) भारतीय दर्शन में अन्यत्र शायद दुर्लभ है। "बहुजनहिताय बहुजनसुखाय" के भगवान् बुद्ध के उपदेश के बाद भी भारतीय दर्शन और उपासना पद्धति में से व्यक्तिवाद को हम हटा नहीं सके हैं। उनकी संसार के सारे प्राणियों को दुःख से मुक्त कराने की अभिलाषा योगी अरविन्द, परमपावन दलाई लामा, महामनीषी श्रीश्रीगोपीनाथ कविराज जैसे कुछ गिने-चुने महानुभावों तक ही सिमट कर रह गई है। वैदिक कर्मकाण्ड को तो हम भुला बैठे हैं, किन्तु तान्त्रिक कर्मकाण्ड को आग्रहपूर्वक स्मरण किया जाता है, क्योंकि उसमें हमारी इन्द्रियलोलुपता को तुष्ट करने के लिए पर्याप्त उपादान हैं। यह बात सही है कि कुछ योग-संबन्धी और तान्त्रिक विधियों का प्रायोगिक अनुशीलन अपेक्षित है, किन्तु इस प्रसंग में हमें विचार करना होगा कि क्या ये विधियाँ मूल रूप से आजतक सुरक्षित हैं? वैदिक विधियों के समान ही इनमें से अधिकांश क्रियाकलाप लुप्त हो चुके हैं और जो कुछ बचा है, उनमें से भी बहुत सा अंश कालातीत हो चुका है।

सिद्धियों और चमत्कारों से दूर रहने के भगवान् बुद्ध के उपदेश को हम भुला बैठे हैं। योगसूत्रकार महामुनि पतंजलि ने भी सिद्धियों को समाधि के लिये अन्तराय (विघ्न) माना है। फिर ये सिद्धियाँ सामान्य जन की सम्पत्ति कभी नहीं बन पाई हैं। श्रद्धेय कविराज जी के गुरुदेव के पास जो सिद्धियाँ थीं, वे इनमें संक्रान्त न हो सकीं। वे बड़े स्पष्ट शब्दों में कहते थे कि मुझे दीक्षा देने का अधिकार नहीं मिला है। उनकी यह स्पष्टोक्ति, उनका यह निर्मल-निश्छल भाव ही हमारी समझ में भारतीय संस्कृति का निचोड़ है। उनका अखण्ड महायोग अखिल विश्व के साथ तन्मयता का, निर्विकार प्रेमभाव का उद्भावक है। हम तन्त्रशास्त्र की पद्धति से अखण्ड संस्कृति के माध्यम से इसको पा सकते हैं। तन्त्रशास्त्र की शैव, शाक्त और बौद्ध धाराओं में शास्त्र और गुरु की अपेक्षा प्रातिभ ज्ञान को वरीयता दी गयी है। विविध कर्मकाण्डों की अपेक्षा उसमें चित्त की प्रभास्वरता (निर्मलता) पर अधिक जोर दिया है। आज हम सभी धर्मों की अच्छाइयों को भुला बैठे हैं और कुछ रूढ़िवादी तत्त्वों से चिपके हुए हैं। अखण्ड भारतीय संस्कृति ही अब हमारा उद्धार कर सकती है।

इसके लिये हमें पं. नेहरु और लोहिया का अधकचरा मार्ग छोड़ कर काशी के डॉ. भगवान्दास, आचार्य नरेन्द्रदेव, डॉ. सम्पूर्णानन्द, प्रो. मुकुटबिहारीलाल जैसे विद्वानों के द्वारा दी गयी भारतीय संस्कृति की व्याख्या का अनुसरण करना होगा। सबसे पहले हमें धर्म-निरपेक्ष शब्द से अपना पिण्ड छुड़ाना होगा। इसके स्थान पर 'लोकराज्य' शब्द के औचित्य को चार्वाक दर्शन की पृष्ठभूमि में हमने सिद्ध किया है। गुजरात और महाराष्ट्र के पत्रकार 'बिन-संप्रदाय' शब्द का और उत्तरभारत के पत्रकार 'पन्थ-निरपेक्ष' शब्द का प्रयोग करते हैं, 'धर्म-निरपेक्ष' शब्द का नहीं। जबतक 'सेक्युलर' शब्द का सही अनुवाद स्वीकार नहीं किया जाता, तब तक इन शब्दों का प्रयोग किया ही जा सकता है।

'धर्म-निरपेक्ष' शब्द का तो अब मात्र इतना ही अभिप्राय रह गया है कि सरकार भारत के सभी प्राचीन धर्मों और संस्कृतियों से निरपेक्ष है। वह मानती है कि मात्र कुछ आक्रमणशील धर्मों से ही इस

देश का उद्धार हो सकता है। धर्म-निरपेक्ष शब्द पर अल्पसंख्यक समुदाय का तथाकथित बुद्धिजीवी वर्ग क्यों फिदा है, इसका रहस्य इसीमें छिपा है कि वह अपनी धर्मान्तरण की मुहिम को इसके सहारे आसानी से चला सकता है। हमारा यह सुनिश्चित मत है कि जब तक इस देश के राजनेतागण और तथाकथित बुद्धिजीवी धर्म और संस्कृति के अन्तर को सही रूप में नहीं पहचानेंगे, तब तक हम पंजाब, कश्मीर, असम और तमिलनाडु की विलगाववादी प्रवृत्तियों का और भारत में फैली द्वेषमूलक अन्य समस्याओं का सही निदान और उनका सही उपचार करने में पूरी तरह से असफल रहेंगे।

भारत में बसने वाले सभी धर्मों के अनुयायी परस्पर अविरोधी सभी तरह के कर्मकाण्डों का अनुसरण करते हुए भी भारतीय संस्कृति के उदात्त तत्त्वों को स्वीकार कर लें, इसमें विरोध की गुंजाइश ही कहाँ रह जाती है ?

●

विश्व के प्रमुख धर्म और संस्कृतियाँ

प्रसिद्ध गाँधीवादी चिन्तक काका कालेलकर की पुस्तक "समन्वय संस्कृति की ओर" इस प्रसंग में हमारा ध्यान आकृष्ट करती है। दुनिया के प्रधान छः धर्मों की चर्चा करते हुए यहाँ बताया गया है कि इनमें सबसे पुराना है वैदिक धर्म, जिसको आगे चलकर हम कहने लगे 'सनातन धर्म' और परदेशी लोगों ने इसको नाम दिया 'हिन्दू धर्म' (पृ. ८-९)। परदेशियों के द्वारा दिया गया नाम ही आज सर्वत्र प्रचारित हो गया है और हम भी "गर्व से कहो हम हिन्दू हैं" का नारा लगाने लगे हैं। प्रसिद्ध समाजवादी चिन्तक आचार्य नरेन्द्रदेव भारतीय संस्कृति की चर्चा के प्रसंग में बताते हैं कि इस पूरी संस्कृति को 'सनातन धर्म' नाम दिया जा सकता है। स्वामी विवेकानन्द और मनीषिप्रवर डॉ. सम्पूर्णानन्द जैसे विचारकों की भी इसमें स्पष्ट सम्मति है। यह कहा जा सकता है कि जब तक हम सम्पूर्ण भारतीयता के लिये कोई एक सर्वमान्य शब्द स्वीकार नहीं कर लेते, तब तक 'हिन्दू धर्म' के स्थान पर 'सनातन धर्म' शब्द को मान्यता मिल जानी चाहिये। समग्र भारतीय प्रजा को सांस्कृतिक दृष्टि से भारतीय बनाना उचित होगा। यह शब्द वेदों से लेकर सन्तों तक की पूरी भारतीय प्रजा का प्रतिनिधित्व करता है। महात्मा गाँधी अपने को पक्का सनातनी मानते थे।

दुनिया के प्रधान छः धर्मों का परिचय देते हुए काका कालेलकर ने उक्त ग्रन्थ में आगे जरथ्रुष्ट्र (पारसी) और यहूदी धर्म का भी परिचय देकर इन तीनों धर्मों को सनातनी धर्म माना है। वह इसलिये कि इन तीनों धर्मों की धर्मान्तरण में कोई रुचि नहीं है। इसी प्रसंग को आगे बढ़ाते हुए उन्होंने लिखा है कि यहूदी धर्म से ईसाई-क्रिश्चियन धर्म निकला। वैदिक सनातनी धर्म से दो धर्म निकले, जिन्हें जैन और बौद्ध धर्म कहते हैं। हजरत इब्राहीम ने जो धर्म चलाया, उसीमें से कुरान-शरीफ का मोहम्मदी धर्म निकला। इसे दुनिया इस्लाम के नाम से पहचानती है। ऊपर के तीन धर्मों के साथ जैन धर्म को मिलाकर काका कालेलकर ने इनको 'आत्मतुष्ट' तथा बौद्ध, ईसाई और इस्लामी धर्म को 'स्पर्धालु' कहा है (पृ. ९-१०)। काका कालेलकर के इस प्रतिपादन से हम सहमत हैं। चीन की यहाँ कोई चर्चा नहीं है। चीन में बौद्ध धर्म के अतिरिक्त ताओ और कनफ्यूश धर्म भी प्रचलित हैं। इनका परिचय सर्वसेवासंघ, राजघाट, वाराणसी से प्रकाशित ग्रन्थमाला में देखा जा सकता है। शायद धर्म की स्पर्धा में यह भी शामिल नहीं हैं।

हम मान सकते हैं कि सिक्ख धर्म भी सनातनी धर्म से ही निकला है। प्रस्तुत ग्रन्थमाला में जैन और बौद्ध धर्म का अलग-अलग परिचय दिया गया है। चीन के प्राचीन धर्म और सिक्ख धर्म का भी समावेश कर यहाँ दुनियाँ के नौ प्रधान धर्मों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत है। ग्रन्थमाला का प्रथम भाग "धर्मों की फुलवाड़ी" शीर्षक को समर्पित है। यहाँ प्रायः इन सभी धर्मों का संक्षिप्त परिचय दिया गया

है। आगे के तीन भागों में वैदिक धर्म को, ५वें भाग में जैन और छठे भाग में बौद्ध धर्म को स्थान मिला है। यही क्रम उचित भी है। काका कालेलकर भी इसी क्रम को मान्यता देते हैं। आजकल के अनेक इतिहासलेखक बौद्ध धर्म को प्रथम स्थान पर रखते हैं। कालिक क्रम से यह उचित नहीं है, क्योंकि जैनों के २३वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ आधुनिक ऐतिहासिकों की दृष्टि में भी इतिहास-पुरुष हैं और भगवान् बुद्ध और महावीर से प्रायः तीन शताब्दी पहले इनकी स्थिति मानी गई है। प्रस्तुत ग्रन्थमाला के जैन खण्ड में इसका गौण रूप से उल्लेख हुआ है (पृ. ६)।

आगे के सातवें भाग में पारसी (जेन्दावेस्ता और पहलवी), आठवें में यहूदी, नवें में चीन के प्राचीन ताओ और कनफ्यूश धर्मों, दसवें में ईसाई, ११वें में इस्लाम और १२वें में सिक्ख धर्म का परिचय समाविष्ट है। इस प्रकार इन १२ पुष्पों की ग्रन्थमाला में दुनिया के प्रधान नौ धर्मों का स्वरूप संक्षेप में बताया गया है। काका कालेलकर के ग्रन्थ में भी वस्तुतः सात धर्मों का उल्लेख है, किन्तु उन्होंने आत्मतुष्ट धर्मों में जैन धर्म का समावेश कर आत्मतुष्ट तीन और स्पर्धालु तीन, इस प्रकार छः धर्मों को ही मान्यता दी है। जैन और बौद्ध धर्म का विकास यद्यपि भारतीय परम्परा में ही हुआ है, किन्तु आजकल इन दोनों धर्मों को पृथक् मान्यता मिली हुई है। श्रीयुत लक्ष्मण शास्त्री जोशी जैन और बौद्ध धर्म पर उपनिषदों के उपदेशों का प्रभाव मानते हैं, किन्तु इन पर कृतान्तपंचक में परिगणित सभी पाँच सिद्धान्तों का प्रभाव तरतमभाव से मानना पड़ेगा। इस विषय की समीक्षा अभी पूरी तरह से नहीं हो पायी है। इतना निश्चित है कि जैन और बौद्ध धर्म पर उपनिषदों के समान सांख्य और योग दर्शन का तथा पांचरात्र (वैष्णव) तथा पाशुपत (शैव) मत का भी प्रभाव है।

प्रस्तुत ग्रन्थमाला में ही नहीं, प्रायः आजकल के सभी इतिहास-ग्रन्थों में प्राचीन सांख्य, योग, पांचरात्र और पाशुपत मतों की बहुत कम चर्चा मिलती है। सांख्य और योग का छः दर्शनों में और पांचरात्र एवं पाशुपत मत का वैष्णव और शैव पुराणों में गौण रूप से अवश्य समावेश कर लिया गया है। प्राचीन पुराणों के विषय में हमें बहुत कम जानकारी हैं, किन्तु इतना स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि वर्तमान में मान्यता-प्राप्त अठारह महापुराणों पर कृतान्तपंचक का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। फलतः भारतीय धार्मिक इतिहास की यह बहुत बड़ी विडम्बना है कि यहाँ विगत तीन हजार वर्षों में विकसित आगम-तन्त्रशास्त्र की पूरी उपेक्षा कर दी गई है। इसीके कारण भारतीय संस्कृति अपसंस्कृतियों के आगे धूलि-धूसरित हो गई है और उन मिथ्या आक्षेपों का शिकार हो गई है, जिनका समाधान इन शास्त्रों में आज से एक हजार वर्ष पहले ही अवश्य प्रस्तुत कर दिया गया था। पूरे देश को अपने महनीय उपदेशों से प्रबुद्ध करने वाली सन्तों की वाणियों पर भी इनका अक्षुण्ण प्रभाव देखा जा सकता है।

पूजा के बाह्य आडम्बरों को ही कर्मकाण्ड के नाम से जाना जाता है। प्रत्येक धर्म (मजहब) में इसका अपना-अपना स्वरूप है। इन कर्मकाण्डों के कारण मानव का मन आपस में जुड़ता कम, जुदा ज्यादा होता है। वैदिक धर्म से लेकर इस्लाम धर्म तक के इन धार्मिक कर्मकाण्डों को हम देखें, इनमें समानता कम विविधताएं ही अधिक हैं। कहीं-कहीं तो परस्पर-विरोधी कर्मकाण्डों की भी सृष्टि हुई

है। भारतीय धर्मों में परस्पर की समालोचना के कारण परस्पर-विरोधी कर्मकाण्डों में कुछ कमी आई है, किन्तु अन्य धर्मों में ऐसा देखने को नहीं मिलता और वे मानव-मर्न को राग-द्वेष से दूषित करने में अपनी भूमिका ज्यादा निभाते हैं। यह प्रवृत्ति कुछ भारतीय धर्मों को भी दूषित करने में सहायक हुई है, जिसकी प्रतिध्वनि श्रीमद्भागवत (१.५.१५) में जुगुप्सित कर्मकाण्ड के रूप में हुई है। इसके विषय में यहाँ बहुत कुछ लिखा जा चुका है। वैदिक कर्मकाण्ड को तो हम भुला चुके हैं, किन्तु आजकल तान्त्रिक और कौलिक कर्मकाण्ड की चर्चा बड़े चाव से की जाती है। हमें इस बात को पूरी तरह से याद रखना है कि ११वीं सदी के आरंभ में आज की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ और कर्मठ तान्त्रिक इस देश में विद्यमान थे, किन्तु उनके देखते ही देखते यह देश पराधीन हो गया। इस तरह का कर्मकाण्ड हमें पाँच हजार वर्ष पीछे ले जायेगा और वह सामान्य मानवीय मूल्यों से भी हमें वंचित कर देगा। घृणा, द्वेष और क्रूरता किसी देश या जाति को आगे नहीं बढ़ा सकती।

इस प्रसंग में हम तन्त्रागमीय कर्मकाण्ड की संक्षेप में चर्चा कर देना आवश्यक समझते हैं। यहाँ त्रिविध या चतुर्विध पूजा का विधान मिलता है। त्रिक (कश्मीर) दर्शन में वर्णित चतुर्विध उपायों की भी व्याख्या हम पूजा के चतुर्विध प्रकारों के रूप में कर सकते हैं। बौद्ध तन्त्रों में सात अथवा ग्यारह प्रकार की पूजा वर्णित है। सात प्रकार की अनुत्तर पूजा और चार प्रकार की ब्रह्मभावना को लेकर ये संपन्न होती हैं। इसी तरह से इस संसार के सभी धर्मों में वर्णित पूजापद्धति का बाह्य कर्मकाण्ड और उपासना में समावेश किया जा सकता है। हमने "तान्त्रिकी वरिवस्या तस्या भेदाश्च"[1] शीर्षक निबन्ध में अनेक संस्कृत ग्रन्थों की सहायता से इन सभी प्रकार की पूजाओं के स्वरूप को दिखाने का प्रयास किया है।

पांचरात्र संहिताओं में दैव एवं पित्र्य कर्मकाण्ड का अत्यन्त विस्तार है। नारायणीयोपाख्यान में स्वयं नारायण ने कहा है कि हमारी परमा प्रकृति ने, जो श्वेतद्वीप में निवास करती है, लोककल्याण के लिये यह मर्यादा बाँध दी है कि दैव और पित्र्य कर्म अवश्य करने चाहिये। इसीलिये इस शास्त्र को वहाँ स्थान-स्थान पर प्रवृत्ति-धर्म के नाम से संबोधित किया गया है, जबकि वैदिक धर्म को निवृत्ति-धर्म बताया है। यहाँ दैव और पित्र्य कर्मों से देवताओं और पितरों की पूजा से संबद्ध कर्मकाण्ड गृहीत है। पांचरात्र आगम और उनसे अनुप्राणित शास्त्रों में कर्म को भी मोक्ष का साधन माना गया है। अतः ये अपना समावेश प्रवृत्ति-धर्म में करते हैं। वैदिक धर्म को निवृत्ति-धर्म इसलिये कहा गया है कि यहाँ बिना संन्यास लिये मुक्ति नहीं मिल सकती।

संस्कृति के भौतिक अथवा आध्यात्मिक स्वरूप की, ऋषि-संस्था और मुनि-संस्था के नाम से प्रसिद्ध वैदिक एवं श्रमण संस्कृति की, आर्य और अनार्य क्रम में प्रसिद्ध की गई द्रविड़ और व्रात्य जैसी प्राचीन संस्कृतियों की एवं आजकल के विश्व के विभिन्न भागों में स्थित चीनी, यूरोपीय और इस्लामिक जैसी संस्कृतियों की चर्चा यहाँ प्रसंगवश यत्र-तत्र की गई है तथा आगे भी की जायगी। तन्त्रागमीय संस्कृति पर इस ग्रन्थ में विस्तार से विचार किया जा रहा है। हमारी समझ में यह संस्कृति सभी संस्कृतियों को आपस में जोड़ने का काम कर सकती है।

---

१. "तन्त्रागमीयं संस्कृतिदर्शनम्" (पृ. ६६-७८) शीर्षक ग्रन्थ द्रष्टव्य ।

सभ्य समाज की आध्यात्मिक उन्नति को संस्कृति का और भौतिक उन्नति को सभ्यता का नाम दिया गया है। भारतीय संस्कृति आध्यात्मिक और पाश्चात्य संस्कृति भौतिक है, इसका अभिप्राय "प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति" इस न्याय के अनुसार इनमें इनकी प्रधानता से है। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि इनमें अन्य गुण हैं ही नहीं।

भारतीय संस्कृति के स्वरूप के प्रसंग में उसकी सात धाराओं का उल्लेख किया गया है। 'धर्म-निरपेक्ष राज्य' शब्द के स्थान पर जब तक 'लोकराज्य' शब्द प्रचलित न हो, तो 'सेक्युलर स्टेट' शब्द का ही व्यवहार हो, यह सुझाव भी दिया गया है। अनेक अंग्रेजी शब्द उसी रूप में स्वीकार कर लिये गये हैं और आजकल दैनिक पत्रों में इनकी भरमार देखी जा सकती है। डॉ. सम्पूर्णानन्द जी के समय की गोष्ठियों में अंग्रेजी भाषा के शब्दों का प्रयोग करने वालों को आर्थिक दण्ड भुगतना पड़ता था। कभी इस भाषा का सार्वजनिक विरोध करने वाले समाजवादी आज मौन साध चुके हैं। उत्तरभारत में तो अब बच्चों की पाठशालाओं में भी यह भाषा पढ़ाई जाने लगी है। यह हमारी सांस्कृतिक पराजय है।

आज के बुद्धिजीवी ब्राह्मणवाद, मनुवाद, वर्णाश्रमधर्म आदि की समालोचना करते अघाते नहीं हैं, किन्तु वे ही श्रीलंका से आयातित रूढ़िवादी बौद्ध धर्म की समालोचना करने से कतराते हैं। श्रीलंका में महाकवि अश्वघोष के बुद्धचरित को इसलिये नहीं पढ़ाया जाता कि उस पर महायानी बौद्ध धर्म का प्रभाव है। काका कालेलकर ने अपने ग्रन्थ में बौद्ध धर्म को स्पर्धालु बताया है। उसका यही कारण है कि सेमेटिक धर्मों की भाँति इसने भी धर्म-परिवर्तन को मान्यता दे दी है। यह बात श्रीलंका के बौद्ध धर्म तक ही सीमित है।

तिब्बत, भूटान, कंबोडिया आदि में विकसित बौद्ध धर्म ने भारत में विकसित सनातन धर्म की तरह परवर्ती महायान और मन्त्रयान के भी उदात्त अवदानों को ग्रहण किया है, किन्तु श्रीलंका का बौद्ध धर्म रूढ़िवादी हो गया है। बाबा साहब अंबेडकर और उनके अनुयायियों ने आज उसीको मान्यता दी है और असम राज्य के उत्कृष्ट सांस्कृतिक मूल्यों को मिटाकर ईसाई मिशनरियां भी वही काम कर रही हैं। संस्कृति का काम जोड़ना है, आपस में लड़ाना नहीं। समय रहते हमें सावधान हो जाना चाहिये।

●

परस्पर संघर्ष

तीव्रतर यातायात और प्रचार माध्यमों की सुविधा तथा आकाशवाणी-दूरदर्शन जैसे साधनों के विकास के कारण यह पृथिवी सिमट-सी गई है। इसीके कारण धर्मों और संस्कृतियों के संघर्ष ने भी एक नया रूप ले लिया है। धर्म शब्द की दो तरह की व्याख्या की जाती है। यथासमय हम इसको प्रस्तुत करेंगे। भौतिक और आध्यात्मिक समृद्धि के रूप में हम सभ्यता और संस्कृति को भी परिभाषित कर सकते हैं। नैतिकता-प्रधान धर्म और आध्यात्मिक संस्कृति का परस्पर कोई विरोध नहीं है। विरोध तब पैदा होता है, जब विभिन्न देशों और कालों में विभिन्न देवताओं की उपासना के लिये विहित कर्मकाण्डों (धार्मिक पूजापद्धति) की बाढ़ सी आ जाती है। विभिन्न धर्मों के इस बहुरंगी देश में इसको आसानी से देखा जा सकता है। ऐसी स्थिति में धर्मों और संस्कृतियों के साथ इनका संघर्ष होना ही है। भारत की वर्तमान स्थिति को हम उदाहरण के रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं।

आज की पूरी मानवजाति धर्म की संकीर्ण (कर्मकाण्डीय) व्याख्या से पीड़ित है। मनु-प्रदर्शित धर्म की व्याख्या के स्थान पर आज का मानव अपने-अपने संप्रदाय के प्रति अति आग्रहशील है। भारतीय परम्परा में संप्रदाय[१] शब्द अत्यन्त पवित्र माना जाता है। गुरु-परम्परा से प्राप्त उत्कृष्ट ज्ञान के लिये इस शब्द का प्रयोग किया जाता था, किन्तु अब किसी न किसी छोटी-बड़ी बात पर आपस में झगड़ा लगाये रखने वाले मानव-समुदाय के लिये इसका प्रयोग होने लगा है। आजकल तो इसमें और भी विद्रूपता आ गई है। अब तो भारत में संकीर्ण सांप्रदायिकता को छोड़कर उदारवादी विचार रखने वाले मानव समूह को ही इस नाम से पुकारा जाता है, वहीं तक इसको सीमित कर दिया गया है और असली सांप्रदायिक अब 'सेक्युलरिस्ट' हो गये हैं।

प्राचीनकाल में राजनीति को नियन्त्रित करने वाला धर्म अब राजनेताओं का अनुचर बन गया है। स्वतन्त्र भारत के उत्कर्ष को न सह सकने वाले राष्ट्र, भले ही वे पास के हों या दूर के, इसकी उन्नति में नित्य नई बाधाओं को पैदा करने में लगे हुए हैं और वे परतन्त्रता काल में यहाँ आई विकृतिओं के कारण वर्तमान में पैदा हुई धर्मों और संस्कृतियों की संकुचित दृष्टियों का सहारा लेकर परस्पर के विरोध को बढ़ाने में लगे हुए हैं। प्रकट रूप से अपने को धर्मनिरपेक्ष घोषित करने वाली नैतिकताविहीन यह भ्रष्ट राजनीति भारतीय प्रजा में बचे-खुचे स्नेह-संबन्ध को भी नष्ट कर देने के

---

१. कालक्रम से शब्दों के अर्थों में किस प्रकार परिवर्तन हो जाता है, इसका यह एक अच्छा उदाहरण है।

लिये देश के कोने-कोने में फैल गई है। भारत की शिष्यता को सैकड़ों वर्षों तक शिरोधार्य करने वाला देश, चीन भी आज भारत के सामने आँखें तरेरने से बाज नहीं आता। ऐसी विषम स्थिति में पूरी तरह से छल-छद्म से भरी आजकल की यह राजनीति प्राणपण से धर्मों और संस्कृतियों के परस्पर के कलह को बढ़ाने में लगी हुई है।

यह बहुधार्मिक देश यदि इस कुत्सित राजनीति में पूरी तरह से फँस जायगा, तो इसके छिन्न-भिन्न हो जाने में कोई समय नहीं लगेगा। विश्व के किसी भी देश की इसके प्रति कोई सद्भावना नहीं है, इसे पूरी तरह से समझकर हमें अपने बल-बूते पर आगे बढ़ना होगा। इसे भी हमें ध्यान में रखना है कि चाहते हुए भी कोई देश हमारी कोई सहायता नहीं कर पायेगा और हमारे विरोधी अतिमुखर होकर क्रूरतापूर्वक हमें पद-दलित कर देने के लिये सदा सचेष्ट रहेंगे। दूसरों के दोषों को मात्र देखने से हमारा कोई कल्याण नहीं होने वाला है। हमें अपनी अन्तरात्मा को टटोलना होगा कि वह आज कितनी कमजोर हो गई है। इस विश्व की उत्कृष्टतम संस्कृति को अंगीकार करने में आज हमारी प्रजा क्यों कतरा रही है? हमारा बुद्धिजीवी वर्ग हमारे वास्तविक स्वरूप को क्यों नहीं पहचान पा रहा है? इसके लिये अपेक्षित है कि हम अपने प्राचीन और नवीन ज्ञान-विज्ञान, धर्म-संस्कृति और दर्शन के वास्तविक स्वरूप को समझने-समझाने का प्रयत्न करें और अपसंस्कृति की आंधी से मलिन हुए उनके स्वरूप को पुनः परिशुद्ध कर सकें।

धर्मों और संस्कृतियों के संघर्ष में उलझे इस विश्व की रक्षा एकमात्र सहिष्णुता ही कर सकती है। उस सहिष्णुता का मजबूती से प्रदर्शन जनाब सलमान रुश्दी और डॉ. तसलीमा नुसरीन के प्रकरण में यूरोप के राजनीतिज्ञों ने किया है। इसीका प्रभाव है कि ईरान के खुमैनी जैसे कट्टर मुस्लिम राजनेता के प्रस्ताव को दुनिया की मुस्लिम मजलिस ने भी स्वीकार नहीं किया। इसके विपरीत भारत सरकार ने अपने अनेक गलत निर्णयों के कारण इस असहिष्णुता को ही घी की आहुति देकर बढ़ाया है। असहिष्णुता-पिशाची से ग्रस्त कुछ इस्लामपरस्त भारतीय नेताओं की राम-जन्मभूमि के विवाद पर कुदृष्टि को देखकर कुछ मुस्लिम नेता अपने धर्मस्थलों की स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय की स्थिति को बरकरार रखवाना चाहते हैं। ये राजनीतिज्ञ क्या पाकिस्तान अथवा बंगला देश में इस स्थिति को स्वीकार कर सकते हैं? वहाँ तो अपने सजातीय विरोधियों को मृत्युदण्ड देने में भी कोई संकोच नहीं है। कश्मीर तो भारत का ही अंग है, पिछले कुछ वर्षों से वहाँ क्या हो रहा है? असहिष्णुता के चलते ऐसा होता ही रहेगा।

भारत के प्रथम गृहमन्त्री लौहपुरुष सरदार पटेल की दृढ़ इच्छाशक्ति ने सोमनाथ मन्दिर का पुनरुद्धार करा दिया। इसी तरह से उन सभी देशी-विदेशी अतिक्रमणों को पुनः अपना मूल स्वरूप मिलना चाहिये, जिनको मध्यकालीन बर्बर आक्रान्ताओं ने बर्बाद कर दिया है। बाबरी मस्जिद भी उनमें से एक है। असहिष्णुता और हठवादिता के रहते यह सब कैसे होगा? सर्वसहमति या कुछ असहमति के रहते हुए भी यह कार्य होना चाहिये। तभी भारत में बसने वाले मुसलमानों में सहिष्णुता के बीज बोये जा सकते हैं। भारतीय मुसलमानों को यह अच्छी तरह से समझ लेना चाहिये

कि महान् सन्तों का चरित्र इतना दुर्बल नहीं होता कि वह छुई-मुई की लतर के जैसे छूने मात्र से मुरझा जाय। किसी भी प्रकार की समालोचना से धर्म और संस्कृति में भी निखार ही आता है। हमें भी इस पर विचार करना है कि इस्लाम धर्म और चीनी विस्तारवाद की असहिष्णुता से इस पूरे विश्व को खतरा है। इनमें सहिष्णुता का संचार करने के लिये हमें सदा प्रयत्नशील रहना पड़ेगा। असहिष्णुता-पिशाची के नग्न तांडव के चलते एक विश्व की कल्पना कैसे आकार ग्रहण कर सकती है?

जनाब सलमान रुश्दी की अभी चर्चा आई है। भारतीय मूल का यह मुसलमान लेखक अब इंग्लैंड में बस गया है। इन्होंने 'सेनेटिक वर्सेज' क्या लिख दिया, पूरी दुनिया में भूचाल-सा आ गया। इस लेखक ने इस्लाम के उपहास का एक अक्षम्य अपराध जो कर दिया था! चारों तरफ से मांग उठी कि इसे मृत्युदण्ड दिया जाना चाहिये। रुश्दी को मार डालने के लिये पुरस्कार के रूप में भारी धनराशि की भी घोषणा कर दी गई। भाषण और लेखन की स्वतन्त्रता के पोषक देश एवं समस्त विश्व के बुद्धिजीवी इस मानवता-विरोधी फतवे के खिलाफ उठ खड़े हुए। दुनिया के लिये यह एक शुभ संकेत था। आज से चौदह सौ वर्ष पहले अरब भूमि पर एक नये धर्म ने पदार्पण किया था। आगे चलकर यह एक हाथ में कुरान और दूसरे में तलवार लेकर विश्वविजय के लिये निकल पड़ा। लगभग आधी धरती को इसने रौंद डाला। प्राचीन देशों की सभ्यता, संस्कृति और साहित्य के साथ इसने धर्म-स्थलों को भी नष्ट-भ्रष्ट कर दिया, विश्व के महान् पुस्तकालयों को आग को सिपुर्द कर दिया। उसकी यह बीभत्स पैशाचिकता अभी शान्त नहीं हुई है।

भारत की प्रवृत्ति ठीक इसके विपरीत है। वैदिक, जैन, बौद्ध, चार्वाक आदि ३६३ मतवादों के अनुयायियों ने अपने-अपने मत की स्थापना के लिये शास्त्रार्थ की पद्धति और खण्डन-मण्डन की प्रक्रिया को अपनाया। सैकड़ों वर्षों तक यह प्रक्रिया यहाँ चलती रही है। अपने-अपने मत की स्थापना में लगे विद्वानों ने अन्य मत के आचार्यों एवं महापुरुषों की ही नहीं, राम-कृष्ण, बुद्ध-महावीर एवं वेद आदि शास्त्रों की भी तीखी समालोचना में कोई परहेज नहीं किया। महाकवि भवभूति ने वैदिकी हिंसा की एवं मर्यादा पुरुषोत्तम रामभद्र की भी समालोचना की है। इस तरह की सहिष्णुता का जनक यह देश रुश्दी के ग्रन्थ पर प्रतिबन्ध लगाने वाले देशों में पहला था। आक्रामकता के आगे घुटने टेकने की यह पहली घटना नहीं है। शाहबानो के प्रसंग में भी प्रशासन ने यही दुर्बलता दिखायी थी। भारत का यह सांस्कृतिक अधःपतन बेरोकटोक चल रहा है। सहिष्णुता का जनक यह देश स्वयं भी असहिष्णुता में डूबता जा रहा है। एक हजार वर्ष तक साथ रहते हुए भी हम इस्लाम में सहिष्णुता का संचार न कर सके। दुःख की बात यह है कि इसके विपरीत इस देश की महान् धरोहरों के प्रति भी हम असहिष्णु बन बैठे। आज इस देश के बड़े से बड़े अधिकांश राजनीतिज्ञ गुणों और दोषों का विवेचन करने में असमर्थ हो चुके हैं। महाकवि बाण ने अपने निम्न श्लोक में इसी स्थिति को उजागर किया है—

नीरक्षीरविवेके हंसाऽऽलस्यं त्वमेव तनुषे चेत् ।
विश्वस्मिन्नधुनाऽन्यः कुलव्रतं पालयिष्यति कः ।।

धर्मों और संस्कृतियों की आपस की असहिष्णुता के कारण तथा राजनीतिज्ञों की सही और

गलत की सही पहचान की मानसिकता के न पनप पाने के कारण हमारी भेदबुद्धि बढ़ रही है। भारत के सांस्कृतिक इतिहास की यह भी एक कमजोर कड़ी है। भारतीय संस्कृति का स्वरूप इसके विपरीत है। आगे हम इन दोनों स्थितियों को बताना चाहते हैं।

वृहत्तर भारत की संस्कृति कभी पूर्व दिशा में कोरिया और जापान तक फैली हुई थी। दक्षिण-पूर्व एशिया के अनेक देशों में आज भी बौद्ध धर्म जीवित है। इण्डोनेशिया, कम्बोडिया जैसे देशों में अतिविशाल बौद्ध, वैष्णव एवं शैव मन्दिर आज भी अपना सिर ऊँचा किये खड़े हैं। उत्तर दिशा में तिब्बत, मंगोलिया, चीन आदि में इसका विस्तार हुआ और लगभग एक हजार वर्ष तक भारतीय वाङ्मय की विविध विधाओं का वहाँ की भाषाओं में अनुवाद होता रहा है। इस अनुवाद साहित्य में तिब्बती अनुवादों का अपना स्थान है। यह अनुवाद इतना सही है कि महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने अभिधर्मकोश का सम्पादन करते हुए इस अनुवाद के सहारे जब अनुपलब्ध स्थलों की पूर्ति की तो बाद में मूल रूप में ग्रन्थ के उपलब्ध हो जाने पर आश्चर्यजनक समानता मिली है।

पश्चिम दिशा में ऋग्वेद के सहोदर जेन्दावेस्ता की रचना ईरान में हुई। प्राचीन देश मेसोपोटामिया आज इराक के नाम से जाना जाता है। खुदाई में यहाँ इष्टका-लेख मिले हैं। इनमें मित्रावरुण, नासत्य आदि वैदिक देवताओं के नाम मिलते हैं। यहाँ के 'उर' नामक स्थान की और भारत के मोहनजोदड़ो स्थान की खुदाई में उपलब्ध सामग्री में अद्भुत समानता मिलती है।

व्याकरण की अष्टाध्यायी के रचयिता पाणिनि शालातुरीय कहलाते थे। गान्धार देश में इनका जन्म हुआ था। वहाँ का तक्षशिला विश्वविद्यालय विश्वविश्रुत था। आचार्य कौटिल्य भी वहीं के स्नातक थे। अष्टाध्यायी के आधार पर डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल ने इस समृद्ध प्रदेश की सभ्यता-संस्कृति का अच्छा परिचय दिया है। शक्तिसंगमतन्त्र में भारत को ५६ विभागों में बाँटा गया है। वहाँ इन सब प्रदेशों के नाम भी गिनाये गये हैं। यह समृद्ध विशाल सांस्कृतिक एकता वाली स्थली इस्लाम के प्रबल आक्रमण से छिन्न-भिन्न हो गई। अभी हाल में चीन ने जब भारत पर आक्रमण किया, तब भारत के पक्ष में एक भी देश खड़ा नहीं हुआ। हमारा पड़ोसी सधर्मी देश नेपाल भी हमसे विमुख है। तिब्बत को तो भारतीय पत्रकार भी चीन का ही अंग मानते हैं। अधिक क्या आज तो भारत की मुख्य भूमि भी तीन टुकड़ों में बँट गई है।

अपरिग्रह आदि महाव्रतों के उपदेष्टा पार्श्वनाथ, महावीर आदि और करुणामूर्ति भगवान् बुद्ध आदि का प्रादुर्भाव इसी भारत-भूमि में हुआ, किन्तु 'श्रमण-ब्राह्मणम्' जैसे उदाहरणों के माध्यम से इनको और ब्राह्मणों को परस्पर का जन्मजात शत्रु मान लिया गया है। श्रीलंका में इसके बुरे प्रभाव को आज भी देखा जा सकता है। इतिहास-प्रसिद्ध बौद्ध सम्राट् अशोक की उपाधि के अर्थ को विकृत कर दिया गया है। भट्ट कुमारिल ने अहिंसा की परिभाषा को ही बदल दिया था। "हस्तिना ताड्यमानोऽपि न गच्छेत्" जैसे आभाणक भी प्रसिद्ध हो गये थे। विष्णु के अवतारों में महात्मा बुद्ध का तथा जैन धर्म के आद्य तीर्थंकर ऋषभदेव का नाम भी आता है, किन्तु प्रजा में भ्रम फैलाने के लिये ये मोहक अवतार हैं, ऐसा कह कर इनके उपदेशों को अग्राह्य मान लिया गया है। आचार्य शंकर ब्रह्मसूत्र की व्याख्या

के प्रसंग में बौद्धों और जैनों को ही नहीं, सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक, बौद्ध-जैन और पाशुपत-पांचरात्र मतों को भी अवैदिक मानते हैं। वैदिक धर्म के पुनः प्रतिष्ठापक स्वामी दयानन्द ने भी सत्यार्थप्रकाश के दशम समुल्लास में यही सब किया है।

इस्लाम के आक्रमण से अपने मूल देश से निकाल दिये गये पारसीक जन सैकड़ों वर्षों से भारत में रहते हैं, किन्तु यह आश्चर्य की ही बात है कि भारत के मूल निवासियों की अपेक्षा उनकी घनिष्ठता उस मुस्लिम समुदाय के साथ है, जिसने उन्हें घर से बाहर कर दिया था। अधिकांश भारतीय मुसलमानों के पूर्वज भारतीय ही थे, किन्तु इन्होंने इस देश का विभाजन ही करा दिया। भारत की सहायता से स्वतन्त्र हुए बंगलादेश का इस देश के प्रति कोई कृतज्ञता का भाव नहीं है। भारत के विभाजन के समय सिक्ख-बन्धु सर्वाधिक प्रताड़ित हुए थे, किन्तु ऐसी भी स्थिति आयी, जब वे इस्लाम के बहकावे में भटक गये। भारत में आज भी धर्मान्तरण की गति रुकी नहीं है। यह इस राष्ट्र के सामने एक यक्ष-प्रश्न उपस्थित है। क्या भारत की आज की दुर्गति के लिए हम अपनी ऊपर प्रदर्शित विलगाव की प्रवृत्ति को दोषी मानने को तैयार हैं?

भारत में दो तरह की दृष्टियों का साथ-साथ विकास हुआ है। उनमें से पहली दृष्टि की चर्चा अभी हमने ऊपर की है। दूसरी दृष्टि भी यहाँ बहुत पहले विकसित हो चुकी थी। इस उदारदृष्टि की भी यहाँ स्थान-स्थान पर चर्चा की गयी है। हम मान सकते हैं कि पहली दृष्टि का आधार धर्म और दूसरी का संस्कृति रही है और इस तरह से भारत में धर्म और संस्कृति का संघर्ष निरन्तर चला आ रहा है। यदि हमें दुनिया में जीवित रहना है, तो कर्मकाण्डीय धर्म के स्थान पर नैतिकता-प्रधान धर्म की शरण में जाना होगा। तभी धर्मों और संस्कृतियों के परस्पर के कलह से हमें छुटकारा मिल सकेगा।

भारत में चार्वाक (लोकायत) दर्शन के प्रवक्ता देवगुरु बृहस्पति माने जाते हैं। आस्तिक दर्शनों की और वेदों की भी यहाँ जमकर समीक्षा की गयी है। महाभारतकार ने वेदारण्यक के साथ अन्य मतों के प्रामाण्य को भी स्वीकार किया है। पुराणों, स्मृतियों और आगमों की भी यही मान्यता है। पूरी महाभारत में और उसके उज्ज्वलतम भाग भगवद्गीता और नारायणीयोपाख्यान में भी इसी दृष्टि को मान्यता मिली है। वसु उपरिचर के उपाख्यान में अहिंसा धर्म की प्रतिष्ठा हुई है। महाभारत में हमें धम्मपद की गाथाओं की झलक मिलती है। इस प्रकार इस प्राचीन साहित्य में कृतान्तपंचक (वेद, सांख्य, योग, पांचरात्र और पाशुपत मत) के साथ बौद्ध और जैन मत के उत्कृष्ट उपादानों का भी उल्लेख हमें इतस्ततः देखने को मिलता है।

न चाहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम् ।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम् ।।

इस श्लोक में भगवान बुद्ध की महाकरुणा प्रतिध्वनित हो रही है। "पुराणमित्येव न साधु सर्वम्" महाकवि कालिदास की इस उक्ति ने तो बहुत पहले कम्युनिस्टों की सर्वत्र विलगाव पैदा करने वाली मनोवृत्ति का सही समाधान कर दिया था। प्राचीनतम पांचरात्र संहिताओं में विभवावतारों में शान्तात्मा

लोकनाथ के रूप में बुद्धावतार को मान्यता मिल गयी थी। मायावामनिका नाम की वैष्णव संहिता का कहना है कि शिव, विष्णु, बुद्ध आदि के रूप में एक ही भगवान् स्थित हैं। कश्मीर के नेत्रतन्त्र में इन सबकी उपासनापद्धति भी अलग-अलग वर्णित है। यहाँ स्पष्ट रूप से बताया गया है कि अपने-अपने शास्त्रों में वर्णित पद्धति से ही इनकी उपासना करनी चाहिये। वराहमिहिर की इस प्रकार की उक्ति की चर्चा हम स्थान-स्थान पर करते रहे हैं। दक्षिणभारत के आलवारों (वैष्णव सन्त) और शैव नायनारों (सन्त) ने तथा उत्तरभारत के सिद्धों, नाथों और भक्तों ने वर्ण, लिंग, जाति आदि की संकीर्ण दृष्टि का परित्याग कर पूरी भारतीय प्रजा में इस उदारदृष्टि का संचार किया है। रामानन्द, कबीर, रविदास, नानक जैसे सन्तों के उपदेश इस उदारदृष्टि के पोषक हैं। सिक्ख गुरुओं और सूफी सन्तों का प्रेरणास्रोत भी तो इनके बहुत निकट से बहा है। इस उदारदृष्टि के सहारे ही हम पूर्वोक्त अनुदार दृष्टि में ही नहीं, असहिष्णु धर्मों में भी परिष्कार प्रस्तुत कर सकते हैं।

हमें सर्वत्र दोषों और गुणों का घालमेल देखने को मिल जायगा। वैदिक, जैन, बौद्ध, वैष्णव, शैव, शाक्त और पौराणिक वाङ्मय में ऐसे विशिष्ट गुण थे, जिनसे अनुप्राणित होकर यह भारतीय संस्कृति-गंगा अपने पावन रूप में निरन्तर बह रही थी। अभी यह प्रदूषित हुई-सी लगती है। तान्त्रिक साहित्य में इन्द्रिय-प्रीणन द्रव्यों का विधान मिलता है। आज धर्म और राजनीति के क्षेत्र में भी इन मोहक शास्त्रों ने कौलोपासना की बाह्य पद्धति के माध्यम से अपना स्थान बना लिया है। इस प्रकार यह आज की भारतीय दृष्टि वैदिक और तान्त्रिक विकृतियों से ग्रस्त होने के कारण दूषित हो गयी है। इस संस्कृति-गंगा को निर्मल करने की आवश्यकता है। दोषों के परिहार एवं गुणों के आधान की सांस्कृतिक प्रक्रिया से ही यह संभव हो सकता है।

●

इतिहास की विसंगतियाँ

बाइबिल या कुरान की रचना के विषय में कोई कुछ नहीं बोलता, किन्तु ऐसे सभी महानुभाव वेदों की रचना के विषय में अतीव मुखर रहते हैं। आज का बहुत बड़ा बुद्धिजीवीवर्ग ईसाई मिशनरियों के इस प्रचार से सहमत है कि गड़ेरिया किश्म के लोगों ने वेदों की रचना की। अंग्रेज इतिहासकारों ने भारतीय जनमानस में हीनभावना भरने के लिए यह सब कुछ किया। यह भी उस समय जब स्वयं वेद ही सूक्तों और मन्त्रों के द्रष्टा वसिष्ठ-विश्वामित्र आदि ऋषियों का, लोपामुद्रा-अपाला आदि ऋषिकाओं का, मन्त्रों के इन्द्र-वरुण आदि देवताओं के साथ गायत्री-त्रिष्टुप् आदि लयबद्ध छन्दों का भी विवरण देते हैं और ये विवरण सभी वेदों की अपनी-अपनी अनुक्रमणिकाओं में पूरी तरह सुरक्षित हैं। मिशनरी प्रचार के विपरीत कुछ पाश्चात्य भद्र मनीषी वेदों को आधुनिक मानवजाति का आदि-ग्रन्थ मानते हैं और इनके सहारे भाषा-विज्ञान, नृवंशशास्त्र, देवतावाद जैसे नूतन विषयों की उद्भावना की है, पूरे विश्व-साहित्य के साथ इनकी कड़ियों को जोड़ा है और मुक्त कण्ठ से यह स्वीकार किया है कि इस कार्य में वेदों की भूमिका सर्वोपरि है।

वेदों के बाद आधुनिक इतिहासकार सीधे बौद्ध धर्म पर आ टिकते हैं, जब वस्तुस्थिति यह है कि जैन तीर्थंकर पार्श्वनाथ की स्थिति ८ सौ वर्ष ई.पू. सिद्ध हो चुकी है। अहिंसा, सत्य आदि की प्रतिष्ठा उस समय तक हो चुकी थी। इसीलिये योगसूत्रकार महामुनि पतंजलि ने इनको "सार्वभौमा महाव्रतम्" (२.३१) कहकर चित्रित किया है। अन्तिम जैन तीर्थंकर भगवान् महावीर की जन्मतिथि भी भगवान् बुद्ध के पहले मानी जाती है। बौद्ध धर्म की अपेक्षा जैन धर्म भारतीय संस्कृति के गुणों के अधिक नजदीक है। भारतीय संस्कृति का संवर्धन धार्मिक आधार पर न होकर मानवीयता के आधार पर हुआ है। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि बौद्ध धर्म का भारतीय संस्कृति को कोई अवदान है ही नहीं। करुणा, प्रज्ञा आदि उपादानों के माध्यम से मानव मन के परिष्कार में बौद्ध धर्म का बहुत बड़ा योगदान रहा है, किन्तु परवर्ती काल में अन्तरराष्ट्रीयता के व्यामोह में वह बहुत कुछ खो बैठा। आज हम श्रीलंका से आयातित बौद्ध धर्म को इसके उदाहरण के रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं, जो भारतीय उदारतम संस्कृति पर हावी होने के लिए कम्युनिज्म के समान ही निरन्तर सचेष्ट है। इसे कौन अस्वीकार कर सकता है कि बौद्ध धर्म की अपेक्षा आजकल जैन और वैष्णव धर्म अहिंसा के अधिक नजदीक हैं।

जैन ग्रन्थों में ३६३ प्राचीन मत-मतान्तरों की चर्चा मिलती है। आश्चर्यजनक रूप में मत-मतान्तरों की इस संख्या का उल्लेख कश्मीर के प्रसिद्ध ग्रन्थ स्वच्छन्दतन्त्र (१०.६८०-८१) में भी मिलता है। बौद्ध ग्रन्थों में बुद्ध के समसामयिक छः शास्त्रकारों के नामों की चर्चा है। उनके नाम— १. अजित केशकम्बली, २. पूरण कश्यप, ३. पकुध कात्यायन, ४. मंखलि गोशाल, ५. संजय वेलट्ठिपुत्र और ६. निर्ग्रन्थ नाथपुत्र दिये गये हैं। इनमें अन्तिम नाम जैन तीर्थंकर महावीर का है। शास्ता, संघी, गणी, गणाचार्य, तीर्थंकर जैसे विशेषणों से विभूषित इन सभी आचार्यों का संक्षिप्त परिचय आचार्य नरेन्द्रदेव के ग्रन्थ "बौद्ध धर्म-दर्शन" (पृ. ३-४) में देखा जा सकता है। आजीवक संप्रदाय भी उस समय फल-फूल रहा था और भगवान् बुद्ध ने स्वयं सबसे अधिक समालोचना इसी मत की की थी। इस मत को हम चार्वाक (लोकायत) दर्शन से समरस मान सकते हैं। डॉ. वासम ने अपने "आजीवकाज़" नामक ग्रन्थ में और डॉ. देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय ने "लोकायताज़" में इस मत का विस्तृत परिचय दिया है। बौद्ध धर्म और दर्शन का अनुशीलन करते समय इन सबकी अनदेखी नहीं की जा सकती, किन्तु आजकल जान-बूझ कर यही किया जा रहा है।

भारतीय इतिहास की यह एक चिन्तनीय विसंगति रही है कि वैदिक वाङ्मय की और कृतान्त-पंचक की पूरी परम्परा के साथ ऊपर प्रदर्शित मतवादों तथा परम्पराओं को आधुनिक इतिहासकार बहुत पीछे ले जाने को तैयार नहीं हैं और इस समालोच्य कार्य को सम्पन्न करने में कुछ भारतीय विद्वान् भी उनसे पीछे नहीं हैं। इस साहित्य को आक्रामक आर्यों की रचना बताकर वे सिन्धुघाटी की आर्येतर सभ्यता को इससे श्रेष्ठ स्थापित करने का अथक प्रयास करते रहते हैं। यह भी उस स्थिति में जब सिन्धुघाटी की लिपि के पढ़ लेने का कोई भी प्रयत्न अब तक सफल नहीं हो सका है। इस विकल्पजाल को फैलाने का उनका प्रयोजन इतना ही है कि अपनी तरह आर्यों को भी आक्रामक सिद्ध कर दिया जाय। ऐसे महानुभावों के मत के अनुसार भारतीय संस्कृति का सही इतिहास बौद्ध धर्म की प्रतिष्ठा के साथ ही प्रारंभ होता है।

वेदों के आधार पर एकेश्वरवाद की स्थापना करने वालों की दृष्टि ठीक इसके विपरीत है। उनके अनुसार महावीर और बुद्ध के अनुयायियों ने वैदिक वाङ्मय के वास्तविक अर्थ को न समझकर उन पर मिथ्या आक्षेप किये हैं। एक अन्य मत के अनुसार आज से ढाई हजार वर्ष पहले आचार्य शंकर ने उनका समाधान प्रस्तुत किया था। भारतीय संस्कृति के इतिहास में आचार्य शंकर के अवदान को कोई झुठला नहीं सकता, किन्तु इतना सही है कि उनका स्थितिकाल उतना प्राचीन स्थापित नहीं किया जा सकता। ब्रह्मसूत्र का भाष्य उनका सर्वमान्य सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ माना जाता है। अपने इस ग्रन्थ में बौद्ध मत का खण्डन करते समय जिन बौद्धाचार्यों के वचनों को उन्होंने उद्धृत किया है, उनका समय चौथी-पांचवीं शताब्दी से पहले कभी नहीं माना जा सकता। आचार्य शंकर का आज जो काल निर्धारित किया गया है, वह भी पूरी तरह से अप्रामाणिक है। भारतीय परम्परा के अनुसार आचार्य शंकर भट्ट कुमारिल से शास्त्रार्थ करने गये थे और भट्ट कुमारिल का काल निश्चित है।

इन वेदाभिमानियों का कहना है कि विगत ढाई हजार वर्ष में भारत में कोई नवीन उद्भावना हो ही नहीं सकी। इनके कथन का अभिप्राय यह है कि विगत २५०० वर्षों से यह देश नाना प्रकार के

आक्रमणों से अभिभूत रहा और इसीके कारण यह कोई नया अवदान देने में असमर्थ रहा है। भारतीय इतिहास का यह दुश्चक्र ही माना जायगा कि यहाँ आकर वह अन्त में उलझ गया। कौटिल्य का अर्थशास्त्र, पतंजलि का महाभाष्य, भरत का नाट्यशास्त्र, वात्स्यायन का कामसूत्र, षड्-दर्शनों के सूत्र-ग्रन्थ, आयुर्वेद की चरक-सुश्रुत संहिताएँ और वेदांग ज्योतिष जैसे ग्रन्थों की रचना ईसापूर्व की शताब्दियों में हो चुकी थी। ब्रह्मसूत्र के तर्कपाद में सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक, बौद्ध-जैन, पाशुपत और पांचरात्र मतों का खण्डन मिलता हैं। ईसा-पूर्व की कुछ शताब्दियों से लेकर बारहवीं शताब्दी तक इन सब विषयों का खंडन-मंडन के रूप में विशाल साहित्य का निर्माण हुआ। साथ ही पाशुपत मत और पांचरात्र सिद्धान्तों के आधार पर शैव और वैष्णव धर्मों ने भी अपना नया रूप ग्रहण किया। जैनों, बौद्धों, शैवों और वैष्णवों के साथ इसी परम्परा में शाक्त, गाणपत्य, सौर, चान्द्र, स्कान्द, स्मार्त आदि मतों का भी अभिवर्धन हुआ। इस पूरी परम्परा को क्या हम नकार सकते हैं?

हाँ, नकारने का प्रयत्न हुआ है और अब उसीके कारण हमने देश में नये-नये असंगत विचारों के साथ नाना प्रकार की समस्याओं को खड़ा कर लिया है। आधुनिक भारतीय समाज वैदिक एवं तान्त्रिक विसंगतियों में डूबा हुआ है और इनके उत्कृष्ट अवदानों को हम भुला बैठे हैं। इस उभयविध वाङ्मय के उत्कृष्ट विचारों के आधार पर ही हम आज बाह्य अपसंस्कृतियों के हमले से भारतीय संस्कृति को बचा सकते हैं। इसके लिये यह आवश्यक है कि वर्तमान परिस्थितियों के अनुरूप हम भारतीय संस्कृति के समग्र स्वरूप को परिभाषित कर सकें। वेदों से लेकर सन्तों तक का साहित्य तो हमारी रक्षा करेगा ही, इस विश्व के पूरे ज्ञान का सदुपयोग भी हम कर सकते हैं। भगवद्गीता का कहना है– "नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते" इस विश्व में ज्ञान से बढ़ कर अन्य कोई श्रेष्ठ वस्तु नहीं है। इस ज्ञान को कहीं से भी प्राप्त किया जा सकता है। सेमेटिक धर्म चारों ओर आँखें फैला कर देखें कि भारतीय ज्ञान के आलोक से जगत् का कोना-कोना जगमगा रहा है।

भारतीय संस्कृति की जिन विसंगतियों को आजकल बढ़ा-चढ़ा कर परोसा जा रहा है, उनका समाधान यहाँ आज से एक हजार वर्ष पहले ही खोजा जा चुका था। हमारा निश्चित मत है कि धर्मों की श्रेष्ठता का व्यामोह इसीके आधार पर हटाया जा सकेगा। सेमेटिक धर्मों की श्रेष्ठता को स्थापित करने के लिये धर्मान्तरण जैसे कर्मकाण्डों की सृष्टि मानवीय मन को विद्रूप ही बना सकती है। आतंकवादियों को जब तक हम जेहादी घोषित करते रहेंगे, तब तक हमारा ज्ञान दूषित ही रहेगा। अतः आवश्यक है कि वर्तमान काल में विश्व में प्रचलित सभी धर्मों के कर्मकाण्डों की निष्पक्ष समालोचना की जाय। उपनिषदों ने धार्मिक क्रियाकलापों की निःसारता को बहुत पहले उजागर कर दिया था। आज भी वह सिद्धान्त शाश्वत सत्य के रूप में विद्यमान है। परस्परविरोधी कर्मकाण्डों से तो मानव जाति को छुटकारा दिलाना ही होगा।

त्याग और ग्रहण संस्कृति के सर्वश्रेष्ठ गुण हैं। इस प्रक्रिया से प्रत्येक धर्म को गुजरना ही होगा। भारत में यह प्रक्रिया स्वाभाविक रूप से निरन्तर चलती रही है। जिस दिन सेमेटिक धर्म इस प्रक्रिया से गुजरने को तैयार हो जायेंगे, मानव जाति के लिये वह अतीव शुभ दिन होगा।

आज के ईसाई मिशनरी आदिवासियों की भाषा, वेशभूषा, संस्कार आदि को भी मिटा देने में लगे हुए हैं। दूसरी तरफ अलगाववाद को जेहाद बताया जा रहा है। दूसरों पर अपने विचार थोपने के लिये हम कम्युनिज्म की निन्दा करते हैं, किन्तु सेमेटिक धर्मों के अनुयायी धर्म के क्षेत्र में भी तो यही सब कुछ कर रहे हैं। इस कुन्ददिमागी को ज्ञान की सहायता से ही ठीक किया जा सकता है। परस्पर-विरोधी कर्मकाण्ड तो मानवता को घोर अन्धकार की ओर ढ़केल रहे हैं। सेमेटिक धर्मों में अपनी सही समालोचना को सहन करने की शक्ति (सहिष्णुता) जब तक नहीं जगेगी, समन्वय का प्रशस्त मार्ग तब तक अवरुद्ध ही रहेगा।

इस संबन्ध में हमें इतना अवश्य कहना है कि आज का तथाकथित बुद्धिजीवी भारतीय धर्म और संस्कृति के कृष्ण पक्ष से ही परिचित है, शुक्ल पक्ष से नहीं। इसका कारण धुआँधार मिथ्या प्रचार है। आज के प्रगतिशील कहे जाने वाले बुद्धिवादियों के दिमाग में ब्राह्मणवाद घुसाया गया है, जबकि वैदिकवाद के साथ तान्त्रिकवाद और सन्तों के उपदेश भी यहाँ बिना किसी धार्मिक युद्ध के फले-फूले हैं। ब्राह्मणवाद के दुराग्रहियों को यह याद रखना होगा कि जैन और बौद्ध धर्म के उत्कृष्ट दार्शनिक ग्रन्थों के रचयिता धर्मकीर्ति जैसे विद्वान् विप्रभिक्षु रहे हैं।

●

सांस्कृतिक अवसाद

यूनान, मिश्र और रोम की कड़ी में अब भारत का नंबर आने वाला है। यों ईरान को भी इसमें शामिल करना चाहिये था, क्योंकि ऋग्वेद के सहोदर जेन्दावेस्ता के प्राकट्य की भूमि में रहने वाले पारसीक जन अब भारत में आकर बस गये हैं। यूनान, मिस्र, ईरान, रोम— ये सब मिटे नहीं हैं, विश्व के भूगोल में आज भी बने हुए हैं, किन्तु ये सब देश सांस्कृतिक अवसाद में ग्रस्त हो अपना सर्वस्व गँवा बैठे हैं। अब भारत के साथ भी यही होने जा रहा है। अलग सिखिस्तान की मांग करने वाले हमारे ये बन्धु तो अपने सभी गुरुओं की जयन्ती भारतीय पंचांग के अनुसार मनाते हैं, किन्तु कुछ पत्रकार बन्धुओं की दृष्टि में सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय में हिन्दु तिथियों के अनुसार अष्टमी और प्रतिपदा की छुट्टी होती है। भारतीय पंचांग के अनुसार कहने में उन्हें शर्म आती है।

जब लोकमान्य तिलक, महात्मा गाँधी, महामना मदनमोहन मालवीय जैसे महानुभावों का जन्मदिन अंग्रेजी तारीख के अनुसार मनाया जाय, देश का स्वतन्त्रता दिवस अंग्रेजी तारीख का मुहताज हो और अब बाबरी ढाँचे की बरसी भी अंग्रेजी तारीख के हिसाब से मनाई जाती हो, प्रत्येक परिवार में बच्चों का 'बर्थ डे' मनाया जाने लगा हो और मोमबत्ती को जलाकर फूँक देकर बुझाया जाता हो, उस देश का पत्रकार और कुछ लिख भी क्या सकता है? धर्मनिरपेक्षता जैसे असांस्कृतिक शब्द के खिलाफ लिखने का साहस उसमें कहाँ से आ सकता है? हिन्दु शब्द के नाम पर पुराना सब कुछ उसे हेय दिखाई पड़ता हो, तो इसमें आश्चर्य की बात ही क्या है? इस सांस्कृतिक अवसाद में आकंठ डूब जाने पर भारत की भी वैसी ही स्थिति होने वाली है। क्या यह हमें स्वीकार है?

८०० वर्ष की इस्लाम की और २०० वर्ष की अंग्रेजियत की गुलामी ने आज भारतीयों को दब्बू बना दिया है। हिन्दु शब्द से जुड़ी हुई प्रत्येक वस्तु से आज की दुनिया को भगवाकरण के नाम पर नफरत करना सिखाया जा रहा है। इस्लामिक कालगणना भारतीय पंचांग की चान्द्र पद्धति पर तथा ईसाई कालगणना सौर पद्धति पर टिकी हुई है। दोनों कालगणनाओं में समन्वय स्थापित करने के लिए भारत में अधिक मास और क्षयमास की व्यवस्था की गई है। इस्लाम ने इसे स्वीकार नहीं किया। प्रत्येक तीन वर्ष के बाद उसकी कालगणना में विकृति आ जाती है। उसने तो अपनी इस गलती को सुधारने का आज तक भी कोई प्रयत्न नहीं किया, किन्तु हीनभावना से ग्रस्त भारतीय प्रजा प्रत्येक अच्छी वस्तु को भी छोड़ने को तैयार हो जाती है, जिसका संबन्ध उसको भरमाने के लिए ही सही, हिन्दुत्व से जोड़ दिया जाता है। शायद हम यह भी भूल गये हैं कि एक से दस तक की संख्या के परिचायक अंक विश्व को भारत की देन हैं। 'हिन्दस्का' के नाम से ये प्रसिद्ध हैं। आज पूरे विश्व में

रोमन अंकों का ये स्थान ले चुके हैं। आश्चर्य तब होता है, जब इसी अंकपद्धति के आधार पर आज विश्व को एक वर्ष पहले ही २१वीं सदी में पहुँचा दिया गया है और इस मिथ्या प्रचार का हमारी जानकारी में दैनिक पत्र 'आज' के अतिरिक्त किसी ने विरोध भी नहीं किया कि २००० वर्ष पूरे हो जाने पर ही २१वीं शती प्रारंभ होगी। पूरा भारतीय प्रबुद्ध समाज हीनभावना से ग्रस्त है, इसका इससे बड़ा दूसरा कौन सा उदाहरण मिलेगा? कुतर्कों के सहारे राष्ट्र जीवित नहीं रह सकते।

अंकगणित के साथ रेखागणित और खगोलविद्या विश्व को वैदिक सभ्यता-संस्कृति की देन है। हमने जेन्दावेस्ता की चर्चा की है। पूना के वैदिक शोध-संस्थान ने अब इसका देवनागरी संस्करण निकाल दिया है। भारत में मोहनजोदड़ो-हड़प्पा की तरह पश्चिम एशिया में 'उर' नाम की एक पुरानी बस्ती मिली है। वहाँ के इष्टिका-लेखों में सन्धि पत्र पर मित्रावरुण, नासत्य जैसे वैदिक देवताओं के नाम अंकित हैं। हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि ईसा-पूर्व की शताब्दियों में यूनान से भारत का भृगुकच्छ (भड़ौच) से सीधा जलमार्ग से व्यापार होता था। छठी-सातवीं शती में हुए पंचतन्त्र के पारसी अनुवाद ने विश्व को सर्वप्रथम बालसाहित्य से परिचित कराया था। अरबयात्री अलबेरुनी ने १८ पुराणों का अरबी भाषा में अनुवाद किया था और पतंजलि के योगसूत्र पर लिखे व्यासभाष्य का भी अरबी भाषा में अनुवाद हो चुका है। कम्बोडिया में मिले शिलालेखों में ८वीं से १०वीं शताब्दी तक के भारतीय राजाओं और भारतीय शास्त्रों की चर्चा मिलती है और अंकोरवाट-बोरोबुदुर जैसे शैवों और वैष्णवों के विशाल मन्दिर आज भी उनका साक्ष्य दे रहे हैं। दक्षिण-पूर्व एशिया के चीन, जापान, तिब्बत (भोट), मंगोलिया जैसे देशों में सुरक्षित भारतीय वाङ्मय के विशाल अनुवाद-साहित्य की चर्चा इसलिए आवश्यक है कि आजकल के प्रबुद्ध विद्वानों ने इन सब देशों को केवल बौद्ध धर्म से जोड़ दिया है और श्रीलंका, वर्मा जैसे देशों के बौद्धों ने हिन्दुत्व से अपना नाता तोड़ लिया है, यद्यपि यह एक प्रकार की बकवास ही है। ऐसा कर इन लोगों ने हीनयान की सार्थकता सिद्ध कर दी है।

भारतीय समाज के तीव्र हीनभावना से ग्रस्त होने के दो उदाहरण हम देना चाहते हैं। देश-विभाजन के समय पश्चिम से आ रही प्रजा को कश्मीर में बसाने का विचार पं. नेहरु की वजह से कार्यान्वित न हो सका। अब कश्मीर घाटी से अल्पसंख्यकों को निकाल दिया गया है। इनके लिए अल्पसंख्यक शब्द का प्रयोग मानवीय विद्रूपता का ही उदाहरण माना जायगा। लद्दाख की बौद्ध प्रजा और जम्मू की बहुसंख्यक आबादी तेजी से घटाई जा रही है। श्री बलराज मधोक ने जम्मू-कश्मीर के लद्दाख और जम्मू विभाग को कश्मीर घाटी के प्रशासन से मुक्त करने की सामयिक चेतावनी दी थी। इनकी संरक्षा के लिए तो भारतीय प्रशासन ने कुछ नहीं किया, किन्तु कश्मीर घाटी से आ रही नई बन्दर-घुड़कियों से यह परेशान है। वह धारा ३७० को हटाने के अपने वायदे से मुकर गया है। अशोक महान् बनने के पं. जवाहरलाल नेहरु के इस सपने ने कश्मीर और तिब्बत की यह दुर्दशा की। मनुष्य की लोकैषणा उसके पतन का सबसे बड़ा कारण बनती है। शीर्ष पुरुषों को इससे सावधान रहना होगा। द्विराष्ट्रवाद का सिद्धान्त इस्लाम की नहीं, ब्रिटिश कूटनीति की उपज है और इसके साथ अब अमेरिका भी जुड़ गया है। कश्मीर की समस्या का सही समाधान न होने पर यह देश भी सोवियत

संघ की तरह टुकड़े-टुकड़े हो जायगा, जो ब्रिटिश और अमेरिकी कूटनीति का अन्तिम लक्ष्य है। इसके साथ ही यह देश सांस्कृतिक अवसाद में डूब जायगा।

पूरे विश्व को २१वीं शती में पहुँचाने के समान ही एक दूसरा शिगूफा विश्व-समुदाय के सामने छोड़ा गया है— भारत में ईसाईयों पर आक्रमण। इस विषय में अब नये-नये तथ्य प्रकाश में आ रहे हैं। तदुपरान्त भी इतना स्पष्ट है कि इधर जो भी घटनाएं हुई हैं, वे सब धर्मान्तरण से संबद्ध हैं। इनकी वास्तविकता यह है कि ये सब घटनाएं धर्मान्तरण व्यापार में लगे चर्च के इर्दगिर्द घटी हैं। इनका ईसाई प्रजा से नाममात्र का भी संबन्ध नहीं है। तब इस मिथ्या प्रचार का पर्दाफाश क्यों नहीं किया गया? पत्रकार जगत् अपने को राष्ट्र की रक्षा का चतुर्थ स्तंभ मानता है। वह अनायास ऐसे दुष्प्रचारों से कैसे प्रभावित हो जाता है ? थोड़ा ठहर कर उसको आत्मनिरीक्षण करना चाहिये। अतिथि के रूप में आये धर्मगुरु के उस वक्तव्य का भी विरोध होना चाहिये था कि अब तीसरी सहस्राब्दी में सारी दुनिया को ईसाई बनाया जायेगा। अतिथि-धर्म के साथ किया गया यह विश्वासघात स्वयं उस धर्म की असलियत को उजागर कर देता है। मौनावलम्बन ही नहीं, ऐसे व्यक्ति के सामने हमारा अपराधी के समान नतमस्तक होना शिष्टाचार नहीं, कायरता है। एक हजार वर्ष के परतन्त्रता काल में यह हमारी नस-नस में भर गई है। यह आचरण राष्ट्र द्वारा स्वीकृत 'सेक्युलर' सिद्धान्त के भी विपरीत है। "वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि" इस भारतीय शिक्षा को हम भूल बैठे हैं।

ग्यारहवीं शताब्दी से पहले के भारत के ओजस्वी उद्बोधन के अभाव में ही आज अरब जगत् इस दुनिया को अपना कोई उल्लेखनीय योगदान नहीं कर पा रहा है। सांस्कृतिक अवसाद से मुक्त भारत ही यूनान, मिस्र, ईरान और रोम को ही नहीं, उस देश को भी सांस्कृतिक अवसाद से मुक्ति दिला सकता है, जो आज 'इराक' कहलाता है और पहले मेसोपोटामिया, बेबीलोन जैसे नामों से जाना जाता था, जिसने दुनियाँ में सबसे पहले आकाशीय उद्यानों को साकार रूप दिया था और जिसने ज्यौतिष विद्या के क्षेत्र में विश्व को अपना महनीय योगदान किया था। इन सभी देशों का रचनात्मक सहयोग ही विश्वमानवता का कल्याण कर सकता है। अपने सही स्वरूप को भुला बैठा भारत क्या इस कार्य को करने में समर्थ हो सकेगा? आज तो हम स्वयं ही चतुष्कोणीय संघर्ष में उलझे हुए हैं।

●

चतुष्कोणीय संघर्ष

इस दुनिया में भारत को छोड़कर शायद ही कोई ऐसा देश होगा, जिसकी अपनी राष्ट्रीयता, अपनी राष्ट्रभाषा और संस्कृति न हो। भारत की आज अपनी कोई राष्ट्रीयता नहीं है। एक विदेशी भाषा के चंगुल में यह फँसा है और इसका फन्दा दिन-प्रतिदिन कसता चला जा रहा है। पं. नेहरु के मानसपुत्र यहाँ की संस्कृति को गंगा-जमुनी संस्कृति नाम देना पसन्द करते हैं। ऐसी स्थिति में भारत में कभी एक राष्ट्रीयता, एक भाषा और एक संस्कृति पनप पायेगी, इस पर विचार करने की भी फुरसत किसी को नहीं है। बहुत से प्रगतिशील ! महानुभाव तो इसकी आवश्यकता भी नहीं मानते। इस समस्या पर भी समय रखते विचार होना चाहिये।

जैसा कि शीर्षक से सूचित होता है, यह देश आज चतुष्कोणीय संघर्ष में उलझा हुआ है। ये चार कोण हैं– हिन्दू, मुस्लिम, खीष्ट और कम्युनिस्ट। कल्पित धर्म-निरपेक्षता के नाम पर ये दो वर्गों में बाँट दिये गये हैं। हिन्दू वर्ग को छोड़कर बाकी तीन वर्गों ने अपने को धर्म-निरपेक्ष तथा हिन्दू वर्ग को साम्प्रदायिक घोषित कर दिया है। ये अंग्रेजी भाषा और गंगा-जमुनी संस्कृति के पक्षपाती हैं। यों इन तीनों वर्गों का भी अपना-अपना लक्ष्य अलग-अलग है, किन्तु इस देश की मूल मान्यताओं को तहस-नहस कर देने में ये सब एकमत हैं। आश्चर्य यह है कि वर्तमान हिन्दू समाज ने इन वर्गों की मंशा के अनुसार अपने को एक अलग कौम मान लिया है और बेचारा यह भारत देश इस चतुष्कोणीय संघर्ष में उलझ गया है।

"गर्व से कहो हम **हिन्दु हैं**" इस गर्व को छोड़े बिना यह देश इस उलझन से निकलने वाला नहीं है। भारतीय संविधान में इस देश का नाम मूलतः 'इण्डिया' है और भरमाने के लिए 'भारत'। जब तक भारत, भारत नहीं बनेगा और यहाँ रहने वाली सारी प्रजा 'भारतीय प्रजा' नहीं कहलायेगी, तब तक यह देश इस उलझन से बाहर नहीं निकल पावेगा। इससे निकलने का सबसे सरल उपाय यह है कि इसमें एक स्वर से "गर्व से कहो हम भारतीय हैं" यह नारा बुलन्द हो और ऊपर चर्चित सभी वर्ग इस नारे को तहेदिल से आत्मसात् कर सकें। भारत में रहने वाला प्रत्येक व्यक्ति भारतीय है, यह कहना तो सरल है, किन्तु भारतीयता क्या है ? इसकी जानकारी होना और तदनुसार आचरण करना भी इसके लिये जरूरी है।

एक हजार वर्ष से यहाँ रहता हुआ **मुसलमान** इसको समझ न सका और न हम उसको समझा सके। इस्लाम के आने से पहले भी यहाँ अनेक धर्म-संप्रदाय, मत-मतान्तर प्रचलित थे। इनमें हम बाहर से शरण लेने आये धर्मों और संप्रदायों की भी गिनती कर सकते हैं, जिनकी चर्चा भारतीय

उदारवाद को उजागर करने के लिए स्वामी विवेकानन्द ने महिम्नस्तोत्र का गान करते हुए की थी। वीरशैवमत के पारमेश्वरागम में बताया गया है कि शैवमत का पालन करने वाली स्त्री वैष्णव पति के साथ और वैष्णव स्त्री शैव पति के साथ यावज्जीवन अपने-अपने धर्म का पालन करते हुए सुखपूर्वक रह सकती है। इसके साथ आप सेमेटिक धर्मों की तुलना कीजिये, जहाँ धर्मान्तरण के बिना मुक्ति को असंभव मान लिया गया है। पूरी दुनियाँ को **इस्लाम** या **खीस्ट** धर्म में दीक्षित करने को धार्मिक आदेश मानने वाले ये धर्म इस देश को छोड़िये, पूरी दुनियाँ को क्या कभी सुख-शान्ति से रहने देने के लिए तैयार हो सकेंगे ? धर्म-परिवर्तन के बीज अपने धर्म के प्रति अहंकार में छिपे हुए हैं और एक अहंकार से दूसरे अहंकार की टकराहट अशान्ति को ही पैदा कर सकती है।

हमारे एक शुभचिन्तक का मानना है कि विगत एक हजार वर्षों में हिन्दू समाज इस्लाम और खीस्ट धर्म के अनुयायियों से शासित रहा है, अतः इनकी मानसिकता शासकों की और हिन्दुओं की शासितों की बन गई है। इन मानसिकताओं में आज भी परिवर्तन नहीं आया है। थानों पर हमला करके अपराधियों को छुड़ा लेने की मनोवृत्ति उसीकी सूचना देती है और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से अनुप्राणित **साम्यवाद** ने इस मनोवृत्ति को बढ़ावा ही दिया है। धर्मान्तरण जैसे इस्लाम और खीष्ट धर्म की कमजोरी है, उसी तरह सबको आपस में लड़ाना साम्यवाद की हावी है। रूस में तो यह साम्यवाद पराजित हो चुका है, किन्तु कम्युनिज्म के झण्डे को अब चीन ने थाम लिया है। अब दुनिया में धर्म की कोई भूमिका नहीं है, इस कथन की कलई तो पोप साहब और बुखारी साहब के फरमानों से ही खुल जाती है। इसके विपरीत हिन्दु यदि सिर उठाकर देखना चाहता है, तो विश्वव्यापी प्रचारतन्त्र उसको कुचल देने के लिए तो तैयार बैठा ही रहता है, हमारे प्रबुद्ध चिन्तक और राजनीतिज्ञ भी, जिन्होंने अंग्रेजी भाषा के माध्यम से भारतीय इतिहास को पढ़ा है, इस प्रचार की बाढ़ में बह जाते हैं।

हालैण्ड के भारतीय विद्या के विद्वान् डॉ. जे. गोण्डा ने एक पुस्तक लिखी है– "चेंज एण्ड कन्टीन्यूइटी इन इण्डियन रिलीजन"। इनके मत में भारतीय धर्म की यह विशेषता रही है कि इसमें निरन्तरता के साथ परिवर्तन भी होता रहा है। ध्यान देने की बात यहाँ यह है रिलीजन का एकवचन। यह वास्तविकता है कि सनातन धर्म में यह वाक्य पूरी तरह से घटता है और बहुत पहले महाकवि कालिदास भी "पुराणमित्येव" कहकर इस बात की पुष्टि कर चुके हैं। आचार्य नरेन्द्रदेव भी कहते हैं कि भारतीय संस्कृति को एक नाम दिया जाय, तो वह 'सनातन धर्म' होगा। भारतीय संस्कृति में वैदिक, जैन, बौद्ध, वैष्णव आदि धर्मों, स्मृति-पुराण, आगम-तन्त्रशास्त्र और भक्त-सन्त साहित्य के माध्यम से भारतीय संस्कृति-गंगा का पावन प्रवाह अबाध रूप से आज भी प्रवाहित है। भक्तों और सन्तों को तो हम सुन सके हैं, किन्तु आगम-तन्त्रशास्त्र को हम भुला बैठे हैं, जो भक्तों और सन्तों की वाणी का प्रेरणास्रोत रहा है।

इस प्रसंग में हमें यह याद रखना है कि महाकवि कालिदास के समय में भी प्रयाग में संगम-स्थल पर गंगा और यमुना का नजारा आज के जैसा ही था। ध्यान देने की बात यह है कि ये दोनों

नदियाँ कुछ दूरी तक अलग-अलग बहती हुई अवश्य दिखाई पड़ती हैं, किन्तु आगे चलकर वे एकाकार हो जाती हैं। इसी तरह नाना नदियों के प्रवाह से समृद्ध भगवती गंगा अन्त में गंगासागर में विलीन हो जाती हैं, किन्तु काशी की गंगा में यमुना अन्तर्भूत है। भारतीय संस्कृति के इसी स्वरूप को हमें मान्यता देनी चाहिये। गंगा-जमुनी संस्कृति एक छलावा मात्र है।

किस आधार पर यह संस्कृति परिपुष्ट हो सकती है? इसके उत्तर में हमारा निवेदन है कि आज से एक हजार वर्ष पहले कश्मीर में आगम-तन्त्रशास्त्र के महान् विद्वान् अभिनवगुप्त का प्रादुर्भाव हुआ था। भगवान् बुद्ध और कपिल मुनि का दृष्टान्त देकर उन्होंने बताया है कि सभी आगम अनादि काल से चले आ रहे हैं। इनके अनुसार 'आगम' वही है, जिस पर जिसकी श्रद्धा जम गई हो। इस परिभाषा के अनुसार ईसाइयों की बाइबिल और मुसलमानों की कुरान भी आगम की कोटि में आ जाते हैं। इस प्रसंग में अभिनवगुप्त ने ही महान् भारतीय ज्योतिषी वराहमिहिर की बृहत्संहिता के एक वचन को उद्धृत किया है कि जिस व्यक्ति को जिस देवता की उपासना करनी हो, वह उपासना उसे उस देवता के द्वारा उपदिष्ट विधि से ही करनी चाहिये। पंचायतन या षडायतन पूजा के माध्यम से भारत में इस व्यवस्था को मूर्त रूप भी दे दिया गया था। वैदिक, जैन, बौद्ध, शैव, वैष्णव— सभी अपनी-अपनी पद्धति से अपने इष्टदेव की आराधना के लिए स्वतन्त्र थे। उसी पद्धति से आज अपनी श्रेष्ठता और धर्मान्तरण जैसे दुराग्रहों को छोड़कर, धर्मों के कालातीत तत्त्वों से छुटकारा पाकर, सेमेटिक धर्म भी भारत में सुख-शान्ति से रह सकते हैं। इसके लिये हम सभी धर्मों के गुरुओं, उन भटके बुद्धिजीवियों और राजनेताओं को भी पूरे भारतीय वाङ्मय के अनुशीलन का सुझाव देते हैं कि भारतीय संस्कृति में परिवर्तन के साथ निरन्तरता को बनाये रखने वाले तत्त्वों को पहचान कर वे अपने चिन्तन में उनका समावेश करें। स्थिरता धर्म का गुण है, संस्कृति का नहीं।

आज के बुद्धिजीवी ब्राह्मणवाद और मनुवाद के नाम पर जिन सामाजिक समस्याओं को बढ़ा-चढ़ाकर परोस रहे हैं, उनका समाधान आगम-तन्त्रशास्त्र ने आज से एक हजार वर्ष पहले ही खोज लिया था। यहाँ जाति, धन, कुल की श्रेष्ठता को नकार कर चरित्र को वरीयता दी गई थी। पुराण-इतिहास साहित्य को तथा भक्तों और सन्तों की लम्बी परम्परा को इसके उदाहरण के रूप में पेश किया जा सकता है, जिसमें वर्ण और लिंग के भेद को छोड़कर पूरी मानवता को सम्मान मिला है, चरित्र के आधार पर व्यक्ति को समाज में ऊँचा स्थान मिला है। एक हजार वर्ष के परतन्त्रता काल ने हमारी इस विशेषता को धूमिल कर दिया है। सम्पूर्ण भारत में विभिन्न भारतीय भाषाओं के माध्यम से सन्तों और भक्तों के उपदेशों से अनुप्राणित भारतीय प्रजा को इस ओर विशेष ध्यान देना होगा। तभी यह चतुष्कोणीय संघर्ष समाप्त हो सकेगा।

इसके लिये यह आवश्यक है कि इस चतुष्कोणीय संघर्ष को कुछ अधिक विस्तार से समझा जाय। इसीलिये इनको हम यहाँ अलग चार अवान्तर शीर्षकों के साथ प्रस्तुत कर रहे हैं।

१. हिन्दुत्व का दुराग्रह

'हिन्दु' शब्द हमारा अपना नहीं है। यह हमारे ऊपर थोपा हुआ शब्द है। हम कह सकते हैं कि यह शब्द हमें तोहफे में मिला है। एक हजार वर्ष पहले विदेशी आक्रान्ताओं ने यह शब्द हमें दिया था। इसे पाकर हम गद्गद हैं। एक हजार वर्ष पहले के भारतीय साहित्य में कहीं भी इसका प्रयोग नहीं मिलता। उस समय यह शब्द पूरी भारतीय प्रजा के लिये प्रयुक्त होता था, किन्तु आज यह स्थिति नहीं है। अब तो एक हजार वर्ष तक पराधीन रही जाति के लिए सीमित अर्थ में यह प्रयुक्त होने लगा है। जैनों, बौद्धों और सिक्खों को भी आज इसकी परिधि से बाहर कर दिया गया है। इस शब्द की मूल मंशा के अनुसार तो भारत में बसने वाले इस्लाम और खीस्ट धर्म के अनुयायियों को भी हिन्दु माना जाना चाहिये, किन्तु इस पुराने अर्थ को पूरी दुनिया ने नकार दिया है। भारतीय इतिहास को भी तदनुसार ढाल दिया गया है और ढाला जा रहा है। इसमें हम भारतीयों का सहयोग भी कम नहीं है।

हमारे ऊपर थोपे गये अथवा तोहफे में मिले इस शब्द से अब हमें इतना मोह हो गया है कि उसे हम छोड़ना नहीं चाहते। कुछ वर्षों पहले इन पंक्तियों के लेखक ने "हिन्दूकरण नहीं, भारतीयकरण" शीर्षक लेख लिखा था और "यह भारतीयकरण क्या है" इसमें भारतीयता को परिभाषित भी किया गया था। प्रो. बलराज मधोक को भी यह शब्द भाया था, किन्तु न जाने क्यों आज "गर्व से कहो हम हिन्दू हैं" का नारा बुलन्द होने लगा है।

स्वामी विवेकानन्द अपने को हिन्दु की अपेक्षा 'आर्य' कहलाना अधिक पसन्द करते थे। सूचना एवं जनसम्पर्क विभाग, उत्तरप्रदेश द्वारा सन् १९८९ में प्रकाशित अपने 'समिधा' नामक निबन्ध-संग्रह (पृ. ११९-१३०) में महामनीषी डॉ. सम्पूर्णानन्द जी का कहना था कि हमारे पतन का प्रतीक हमारा हिन्दु नाम है। हम कभी आर्य थे, आज हिन्दु हैं। इस नाम-परिवर्तन से आयी मनोवृत्ति का भी उन्होंने सुन्दर विश्लेषण किया है। प्रो. राजाराम शास्त्री ने भी अपने "दर्शन, धर्म और समाज" नामक ग्रन्थ में हिन्दु शब्द के स्थान पर भारतीय शब्द के प्रयोग की वकालत की है। वे यह भी लिखते हैं कि हिन्दु-धर्म जैसी कोई चीज नहीं है (पृ. ३४७)। वास्तव में हिन्दु-धर्म एक आरोपित शब्द है, जो यहाँ के सभी धर्मों का प्रतिनिधित्व नहीं करता।

आज हिन्दु शब्द मुसलमान के साथ जुड़कर 'श्रमणब्राह्मण' के समान शाश्वत संघर्ष का सूचक बन गया है। जितनी जल्दी हम इस शब्द से छुटकारा पा लें, यह भारत के भविष्य के लिए शुभ संकेत होगा। इसके लिये भारतीय जनतादल अथवा कांग्रेस को पहल करनी चाहिये, किन्तु ऐसा करने से पहले उनको अतिवाद और तुष्टिवाद से बचना होगा। भारत की अधिसंख्य प्रजा के लिये भारतीय शब्द बुरा नहीं है। इस भारतीयता में वैदिक, जैन, बौद्ध, पौराणिक, वैष्णव, शैव, शाक्त, स्मार्त, सिक्ख आदि संप्रदायों और नाना पन्थों के साथ इस्लाम और खीष्ट मत के अनुयायियों का भी सही माने में समावेश हो सकता है।

संस्कृत व्याकरण में कात्यायन का एक वार्त्तिक है— "येषां च विरोधः शाश्वतिकः" । इसके उदाहरण के रूप में वहाँ 'अहिनकुलम्' और 'श्रमणब्राह्मणम्' जैसे शब्द दिये गये हैं। इसका अभिप्राय यह है कि साँप और नेवले की तरह कभी ब्राह्मण और श्रमण का दृढमूल वैरभाव था। कहीं से सुनकर

स्वयं अपने द्वारा उद्धृत इस विषय की परीक्षा हमने की। उसका यह परिणाम निकला कि एक तो यह कात्यायन का वार्त्तिक न होकर पाणिनि अष्टाध्यायी का सूत्र (२.४.९) है। दूसरा यह कि पातंजल महाभाष्य, काशिकावृत्ति और सिद्धान्तकौमुदी जैसे व्याकरण-ग्रन्थों में भी यह उदाहरण नहीं मिलता। किस वैयाकरण ने इस उदाहरण को सर्वप्रथम प्रस्तुत किया, इसकी खोज होनी चाहिये। अभी काशिकावृत्ति की पदमंजरी टीका में यह उपलब्ध है। जो भी हो, इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कभी न कभी श्रमणों और ब्राह्मणों में आपस का वैरभाव था और उसको अभी भी देखा जा सकता है। इस वैरभाव को आगम और तन्त्रशास्त्र ने बहुत-कुछ दूर कर दिया। [1] "तन्त्रेषु वैदिककर्मकाण्डस्य प्रभावः" शीर्षक से रोम (इटली) से प्रकाशित हमारे संस्कृत निबन्ध में हमने बौद्ध कालचक्रतन्त्र की विमलप्रभा टीका आदि के आधार पर यह स्थापित किया है कि दीक्षा और पुरश्चरण के प्रसंग में तन्त्रशास्त्र में सर्वत्र अग्नि-समाराधन वैदिक पद्धति से ही किया जाता रहा है।

तन्त्रशास्त्र मात्र जादू-टोना, मारण-उच्चाटन तक ही सीमित नहीं है, न यह मात्र उन तान्त्रिकों का शास्त्र है, जिनके यहाँ जाकर आजकल के नेतागण नाक रगड़ते हैं और न वह तन्त्रशास्त्र है, जिसकी सिद्धियों को उपन्यास की शैली में पेश कर लोगों को भरमाया जाता है। यदि यह सब होता, तो एक हजार वर्ष पहले भारत को और आज तिब्बत को पराधीनता का मुँह न देखना पड़ता। यह तो वह शास्त्र है, जिसने सिद्धों और नाथों, आलवारों, सन्तों और गुरुओं को प्रेरणा दी; रामानन्द, कबीर, रविदास और मीरा को पैदा किया। सूफी सन्तों की प्रेरणा का स्रोत भी यही शास्त्र रहा है। यह बिना किसी भेदभाव के मानवता का ही नहीं, प्राणी मात्र का कल्याण चाहता है।

भारत में परस्परविरोधी विचारधाराओं को जोड़ने के दो-तीन सफल प्रयास हुए हैं। उनकी अन्तिम परिणति हमें महाभारत, पुराण, आगम और तन्त्रशास्त्र के रूप में मिलती है। इस तरह के एक और प्रयास की हमें अपेक्षा है। हिन्दु शब्द आज बौद्ध, जैन, सिक्ख, पारसी, मुसलमान और ईसाई समुदाय को अपने में समेट पाने में असमर्थ है। आज 'श्रमण-ब्राह्मणम्' जैसी ही स्थिति हिन्दु-मुसलमान की हो गई है। शैवों, वैष्णवों और भारत के अन्य अनेक संप्रदायों के समान हम उक्त सभी धर्मों को भारतीय संस्कृति की विभिन्न धाराओं के रूप में मान्यता दे सकते हैं। यहाँ के सभी सम्प्रदाय जायज या नाजायज तरीकों से अपनी संख्यावृद्धि का आग्रह छोड़कर यदि शान्ति के साथ रहना सीख लें, तो हिन्दुत्व को इस शुभ कार्य में आड़े नहीं आने देना चाहिये। भारतीयता को ही सर्वोपरि मान्यता मिलनी चाहिये।

पाश्चात्य विद्वान् वैदिक शब्द के स्थान पर ब्राह्मण शब्द का प्रयोग करते हैं और जैनों एवं बौद्धों को आज भी ब्राह्मणद्वेषी के रूप में उपस्थापित किया करते हैं। जैनों और बौद्धों को सिक्खों के साथ रखकर उन्होंने इन सबको हिन्दुओं से अलग कर दिया है और ये सब भी अपने को ऐसा ही मानते हैं। इस प्रसंग में यह स्मरण रखने की बात है कि जैन साहित्य में वैदिक शब्द ही प्रयुक्त हुआ है, ब्राह्मण पद नहीं। सभी धर्मों के प्रति समादरभाव व्यक्त करने में भी जैनों की अनेकान्तदृष्टि बहुत सहायक है। ब्राह्मणवाद और मनुवाद आजकल के राजनीतिज्ञों के दिमाग की उपज हैं। आज का

---

१. सांस्कृतिक राष्ट्रवाद, पृ. १-१४ पर पुनः प्रकाशित।

समाज ब्राह्मणों से नहीं, मठाधीशों से और मनुस्मृति से नहीं, अम्बेडकर के द्वारा प्रारूपित भारतीय संविधान से संचालित है। यह अच्छा लक्षण है कि इधर इस दृष्टिकोण में परिवर्तन आने लगा है। इसको स्थायी भारतीय दृष्टिकोण का सहारा मिलना चाहिये।

श्री रामधारीसिंह दिनकर ने अपने "संस्कृति के चार अध्याय" नामक ग्रन्थ में— 'प्राचीन संस्कृत साहित्य और पालि ग्रन्थों में 'हिन्दु' नाम कहीं भी नहीं मिलता" (पृ. ११२)। इतना लिखने के बाद भी वहाँ (पृ. ११३-११४) संस्कृत के अनेक श्लोकों को उद्धृत किया गया है। इनकी परीक्षा अपेक्षित है। वे हमें बताते हैं कि पारसी धर्म-ग्रन्थ अवेस्ता और डेरियस (५२२-४८६ ई. पू.) के शिलालेख में हिन्दु शब्द उपलब्ध है। हमारी समझ में उनके द्वारा उद्धृत श्लोक सुधारवादियों के द्वारा रचित हैं और विदेशी साहित्य में हमारे लिए यह शब्द २५०० वर्ष पहले प्रयुक्त हो चुका है, तो यह हमारे लिये वेदवाक्य तो नहीं हो जाता।

हम इस शब्द की स्पष्ट विसंगति को यहाँ दिखा देना चाहते हैं। भारतीय आगम-तन्त्रशास्त्र का अध्ययन आजकल तीन विभागों में किया जाता है— हिन्दु, बौद्ध और जैन। हिन्दु विभाग के अन्तर्गत वैष्णव, शैव, शाक्त, स्मार्त आदि सभी तन्त्रागमों का समावेश कर दिया गया है। जब हम इन सभी शाखाओं का तुलनात्मक अनुशीलन करने जाते हैं, तो हम देखते हैं कि बौद्ध तन्त्र कहीं वैष्णव, तो अन्यत्र कौल (शैव-शाक्त) तन्त्रों से समरस हैं। इसी तरह जैन-तन्त्र कभी सिद्धान्तशैव आगमों से तथा कभी त्रिपुरातन्त्रों से मिलते-जुलते हैं। ऐसे प्रसंगों में हिन्दु-तन्त्र शब्द की कोई भूमिका नहीं रहती।

भारतीय राजनीतिज्ञों और प्रबुद्ध विचारकों को यह समझ लेना चाहिये कि अब बचे हुए देश को अखण्ड रखने के लिये एक राष्ट्रीयता की आवश्यकता है। हमारी दृष्टि में इसके निर्माण में 'हिन्दु' शब्द बहुत बड़ी बाधा है। पाश्चात्य देशों में इतना सारा साहित्य निर्मित हो चुका है कि इस शब्द के माध्यम से जैन और बौद्ध जैसे प्राचीन संप्रदाय ही नहीं, सिक्खों जैसे अनेक आधुनिक पन्थों को भी इसकी परिधि से बाहर कर दिया गया है। यह वैदिक, शैव, वैष्णव, शाक्त, स्मार्त संप्रदायों के जैसे अन्य संप्रदायों को अपने में समेटने में असमर्थ है। पेट्रो-अमेरिकन डालर अलगाव को बढ़ाने में लगा हुआ है। सीमान्त प्रदेशों की जनजातियों और पिछड़ों में अलगाव के बीज बोये जा रहे हैं।

इसीलिये हमारा बार-बार यह आग्रह है कि जब तक हम 'हिन्दु' शब्द के स्थान पर कोई सर्वमान्य दूसरा शब्द स्वीकार न कर लें, तब तक के लिये 'सनातन धर्म' शब्द को ही व्यवहार में लावें। इसी सनातन धर्म ने भारतीय धर्मों में परस्पर सहिष्णुता और समन्वय का मार्ग प्रशस्त किया था, सर्वधर्म-समादर के माध्यम से विश्व के अन्य धर्मों में भी हम इस दृष्टि का संचार कर सकने में समर्थ हैं। इस पर हम अलग से विचार करेंगे। अभी केवल हमें इतना ही कहना है कि हिन्दुत्व के इस दुराग्रह को छोड़े बिना न तो हम इन अपसंस्कृतियों के दुष्प्रचार से अपने को बचा सकेंगे और न ही मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इसमें घुसी हीनग्रन्थि (हीनभावना) से मुक्त हो सकेंगे।

२. इस्लाम की हठवादिता

भारतीय संस्कृति के साधक-बाधक तत्त्वों की चर्चा के प्रसंग में हमने इस्लाम की हठवादिता, बन्दरघुड़की और आतंकवाद की चर्चा की है। इस्लाम को भरमाने में ब्रिटिश राजनीतिज्ञों की और ईसाई सन्तों के उपदेशों को विकृत करने में मिशनरियों की विपरीत भूमिका रही है। इस्लामीकरण,

ईसाईकरण की तर्ज पर हिन्दूकरण, भगवाकरण जैसे शब्दों को प्रचारित करने में हमारे कम्युनिस्ट भाइयों ने कम पराक्रम नहीं दिखाया है। हिन्दुत्व के दुराग्रह के बाद हम इस्लाम के संस्कृति-विरोधी स्वरूप की चर्चा करना चाहते हैं।

हिन्दुत्व और इस्लाम 'श्रमण-ब्राह्मणम्' जैसे परस्परविरोधी दृष्टिकोणों पर टिका हुआ है। भारत में अपसंस्कृति के प्रसार का यह प्रमुख कारण है। इसी विषय को अब यहाँ सप्रमाण प्रस्तुत किया जा रहा है। विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी से "भारतीय समाज एवं संस्कृति" नामक एक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। इसमें अपने-अपने क्षेत्र के ख्यातनामा ४२ विद्वानों के सभ्यता और संस्कृति संबन्धी विचार प्रकाशित हुए हैं। वहाँ एक विद्वान् लेखक ने 'बृहत्तर हिन्दुत्व' (पृ. ६९-७१) शीर्षक के अन्तर्गत हिन्दुत्व को परिभाषित करने का प्रयत्न किया है। अपने आपमें यह सुन्दर विश्लेषण होते हुए भी आज की दुनिया इस परिभाषा को स्वीकार नहीं करती। कविवर दिनकर की चर्चा अभी हाल में हम ऊपर कर चुके हैं।

यहाँ (पृ. १९१) हिन्दू-मुस्लिम समस्या को इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— मुस्लिम कट्टरता के कारण इस देश के समस्त नागरिकों के लिये एक-से कानून नहीं बन पा रहे हैं। अधिकांश हिन्दु हिन्दु-धर्म को लेकर वैसे कट्टर नहीं रहे हैं, न हैं, जैसे कि हमारे मुस्लिम नागरिक"। मुस्लिमों के बारे में आगे (पृ. २४९) भी कहा गया है कि इनके यहाँ राष्ट्रीयता यदि कुछ है, तो वह उनके मजहब की जगह अथवा उससे ऊपर कदापि नहीं है। इस बात को आज कौन अस्वीकार कर सकता है ? हिन्दु-मुस्लिम एकता से संबद्ध एक विस्तृत लेख यहाँ (पृ. २७२-२८२) छपा है। इस समस्या का समाधान होना अभी बाकी है। हमारी समझ में इस लेख में दी गई सामग्री के आधार पर भारत की इस प्रमुख समस्या के समाधान का प्रयास अवश्य किया जाना चाहिये। इसी लेख में (पृ. २७९) समस्या का समाधान न होने के प्रमुख कारणों की चर्चा की गई है कि मुसलमानों में प्रगतिशील नेतृत्व को प्रोत्साहन नहीं दिया जाता। इस बात से हम पूरी तरह से सहमत हैं। मुसलमानों की बात जाने दीजिये, अन्य समुदायों की भी यही स्थिति है। हठवाद और आतंकवाद से त्रस्त होकर हम भले ही मुसलमानों की तरफ से मुँह मोड़ लें, यह प्रवृत्ति जबतक रहेगी, एकता की कल्पना कोरी कल्पना ही रह जायगी। शाहबानो के मुकदमें में अनुचित हस्तक्षेप इस्लाम की कट्टरता को बढ़ावा देने वाला ही था। अपसंस्कृति के प्रसार को रोकने के लिये हमें इस तरह के कृत्यों से विरत होना पड़ेगा। तभी हम विश्वसंस्कृति के निर्माण में समर्थ हो सकेंगे।

मुसलमान भारत की बहुसंख्यक जनता से डरे हुए हैं, वे भयभीत हैं, इस तरह की बातें अनेक राजनीतिज्ञों के द्वारा तो कही ही जाती है, यहाँ (पृ. २९८) पर भी इसकी चर्चा है और इसके लिए बहुसंख्या को ही दोषी मानने के साथ महात्मा गाँधी के प्रयत्नों की निष्फलता को भी दिखाया गया है। यह दूसरा बड़ा कारण है, जिसके रहते हिन्दू-मुस्लिम एकता नहीं हो पाती। मुसलमानों के भयग्रस्त होने की बात कहना हमारी बहुत बड़ी भूल है। मुसलमान भयग्रस्त नहीं हैं, वे तो इस पूरी दुनिया को इस्लाम धर्म में दीक्षित कर देने के लिए अपने तरीके से पूरी दृढ़ता से जुटे हुए हैं। अन्यथा

पारसियों के जैसे यहाँ शान्ति से रहते हुए राष्ट्र की समृद्धि के लिये कार्य करने से उन्हें कौन रोकता है? इस सत्य का साक्षात्कार किये बिना एकता की कल्पना दिवा-स्वप्न मात्र होगी। एक राष्ट्र, एक भाषा और एक संस्कृति के बिना कोई भी देश जीवित नहीं रह सकता और आक्रमणशील दृष्टियों का जब तक शमन नहीं होगा, बहुजातीय राष्ट्र की एकता नितान्त असंभव है।

ऊपर उद्धृत ग्रन्थ में दिये गये सभी विचारों से हम सहमत नहीं हैं, किन्तु प्रस्तुत एकता को स्थापित करने के लिये इन विचारों और ऐसे ही अन्य सुझावों पर हमें गंभीरता से विचार करना चाहिये, जिससे सेमेटिक धर्मों की कट्टरता से भारतीय संस्कृति को बचाया जा सके। इस्लामिक दृष्टि के कारण ही धर्म-ग्रन्थों की समस्या खड़ी हुई है। भारतीय दृष्टि यह नहीं है, यहाँ तो सही बात को ही सदा से समर्थन मिला है और इसीके कारण भारतीय बहुसंख्यक समाज में आज भी सहिष्णुता अपना स्थान बनाये हुए है।

किसी भी धर्म-ग्रन्थ के किसी भी अंश को निकाल देने की अथवा उसको प्रक्षिप्त मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। यह दृष्टि हमें कोई लाभ भी नहीं पहुँचा सकती और न कोई धर्म ऐसा करेगा ही। ऐसी मान्यताओं को भारतीय धर्मशास्त्रों के कलिवर्ज्य-प्रकरण की दृष्टि के अनुसार स्थगित किया जा सकता है। इसीलिये आगे दिये गये इन विचारों से हम पूरी तरह से सहमत हैं कि "सांस्कृतिक परम्पराओं और उनके जीवन-मूल्यों की उपेक्षा करके यदि हम अनियन्त्रित रूप से उन्हें अपनावेंगे, तो निश्चय ही हमारी सांस्कृतिक और राष्ट्रीय पहिचान समाप्त हो जायेगी" (पृ. ३२२)। इन मूल्यों पर हमें तब तक स्थिर रहना पड़ेगा, जब तक एक विश्व और एक संस्कृति के उपादानों को दृढ़ता के साथ लागू नहीं किया जाता।

३. ईसाई मिशनरी

स्वामी विवेकानन्द की शिकागो-वक्तृता ने श्रोताओं को तो मन्त्रमुग्ध किया, किन्तु इसने ईसाई धर्म-प्रचारकों के मन में ईर्ष्या का भाव भर दिया और वे तब से भारतीयता का सर्वत्र छिन्द्रान्वेषण करने में लग गये। सुधारवादी आन्दोलन के समय वैदिक वर्णाश्रम-व्यवस्था को नये सिरे से जो जिलाने का प्रयत्न किया गया, उससे इन धर्म-प्रचारकों को पर्याप्त सामग्री मिल गई। २५०० वर्ष के उत्कृष्ट भारतीय उपादानों के स्थान पर कालबाह्य तत्त्वों को प्रोत्साहित किया जाने लगा और पूरा भारत असहिष्णु सेमेटिक धर्मों का चरागाह बन गया। इस्लाम के दृष्टिकोण पर अभी ऊपर संक्षिप्त चर्चा की जा चुकी है। खीस्ट धर्म के मिशनरी भी यही सब कर रहे हैं। धर्म के नाम पर विभिन्न जातियों का उन्मूलन, प्रताड़न करना इनके धर्म का अंग है। कुछ जातियों पर किये गये अत्याचारों पर भारत में आने से अभी कुछ दिन पहले खीष्ट धर्म के सर्वोच्च धर्मगुरु ने खेद प्रकाशित किया, क्षमायाचना की। गोवा के मूल निवासियों पर किये गये ऐसे ही अत्याचारों के लिये भारत के कुछ प्रबुद्ध चिन्तकों के द्वारा आग्रह करने पर भी उन्होंने ऐसा नहीं किया। ऐसा क्यों ? अपराध-बोध होने पर ही व्यक्ति क्षमायाचना करता है। २१वीं शताब्दी में पूरी दुनियाँ को, विशेषकर भारत को खीष्ट धर्म में दीक्षित करने का संकल्प लेने वाला व्यक्ति ऐसे आग्रहों को कैसे स्वीकार कर सकता है ?

पहले इस्लाम के, बाद में ईसाईयों के और अब नव बौद्धों के द्वारा अपनी समाज-व्यवस्था में और धर्म में किये जा रहे हस्तक्षेप को हम अपनी ही कमजोरी के कारण नहीं रोक पा रहे हैं। आज हिन्दु धर्म में प्रवेश के सभी मार्ग बन्द हैं और निकलने के सारे रास्ते खुले हुए हैं। क्या यह निष्क्रमण की प्रक्रिया निरन्तर चलती रहेगी ? मुसलमान धर्म-प्रचारक हों या ईसाई अथवा नव बौद्ध, सभी हिन्दु धर्म की कुछ त्रुटियों को बढ़ा-चढ़ा कर निरीह जनता के सामने रखते हैं और एकमात्र धर्म-परिवर्तन को उनके सभी दुःख-दर्दों की दवा बताते हैं। द्वेष, घृणा, संकीर्णता और असहिष्णुता से भरे इस धर्म-परिवर्तन के बाद उनकी क्या दशा होती है? गरीब मुसलमानों अथवा नव बौद्धों की भी धर्म-परिवर्तन से आर्थिक ही नहीं, सामाजिक दशा में भी कोई उल्लेखनीय सुधार नहीं हुआ है और न होने वाला है। जोर-जबर्दस्ती अथवा छल-छद्म से धर्म-परिवर्तन की प्रवृत्ति बौद्ध धर्म में नहीं थी। अब बाह्य प्रभाव से यह प्रवृत्ति उसमें भी पनप रही है।

आज भारत का नव बौद्ध मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम के चरित्र की ही भाँति गाँधीवाद से भी चिढ़ता है। उनकी दृष्टि में आज के युग के लिये बौद्ध धर्म और मार्क्सवाद ये ही दो आर्यसत्य हैं। आज का हिन्दुसमाज मनुस्मृति से नहीं, डॉ. अम्बेडकर के द्वारा प्रारूपित हिन्दु-कोड बिल से संचालित है, यह जानते हुए भी बौद्ध भिक्षु सभामंच से मनुस्मृति का भूत खड़ा करने से बाज नहीं आता। ईसाई मिशनरियों की सेवाभावना कभी बौद्ध भिक्षुओं में भी विद्यमान थी, किन्तु आज का हिन्दु मठाधीश, महन्त, धर्मगुरु और भिक्षु स्वयं समाज की सेवा न कर, समाज से अपनी ही सेवा लेता है। आज पूरे भारत में दुर्गम स्थानों पर भी केवल ईसाई मिशनरियाँ ही अपनी सेवाभावना के सहारे टिकी हुई हैं। भारतीय साधु-समाज को जब तक समाज तिरस्कृत नहीं कर देता, उससे पहले ही उसमें यह निस्वार्थ सेवाभावना जागनी चाहिये। आगम-तन्त्रशास्त्र और विशेष कर योगांग के रूप में उपस्थापित तर्क के सहारे वे यह सब कर सकते हैं और भारत में फैली सभी जातियों में सन्तों के द्वारा जगाई गई समभावना को पुनः प्रतिष्ठापित कर सकते हैं; जिनको आधुनिक धर्म-प्रचारक जड़-मूल से मिटा देना चाहते हैं।

"तर्को योगाङ्गमुत्तमम्" कहकर भारतीय वाङ्मय ने निरुक्तकार यास्क मुनि की तर्कशक्ति को जीवित रखा है। इसी तर्क की कसौटी पर हमें सभी धर्मों और वादों की परीक्षा करनी होगी। सर्वधर्म-समभाव वाली मनोवृत्ति यह कार्य नहीं कर सकती। पूरी मानवता का कल्याण धर्म का उद्देश्य है। क्या सेमेटिक धर्म इस कसौटी पर खरे उतरते हैं ? वे तो दूसरों को मिटा कर अपना वर्चस्व स्थापित करना चाहते हैं। इस्लाम का भाईचारा व्यक्ति के मुसलमान बन जाने पर चालू होता है और खीस्ट धर्म के सेवाभाव की अन्तिम परिणति भी व्यक्ति को ईसाई बना लेने में ही होती है। क्या ये धर्म इस संकीर्णता का परित्याग कर सकेंगे। सहिष्णुता के अभाव में यह सब असंभव है। सभी धर्मों को मान्यता देने पर ही यह सब संभव हो सकता है। इसके लिये हमें सर्वधर्म-समभाव के स्थान पर सर्वधर्म-समादर शब्द को स्वीकार करना होगा। कोई भी व्यक्ति अपने धर्म की श्रेष्ठता को भले ही मानता रहे, उसे दूसरे धर्म के प्रति भी आदरभाव तो रखना ही चाहिये। भारत में बहुत पहले यह कार्य हो चुका है। इसका कारण यह है कि यहाँ धर्म के क्षेत्र में भी परिवर्तन एवं **नैरन्तर्य** के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया गया था।

भारत में प्रथमतः वैदिक एवं वैदिकेतर धर्मों में तथा बाद में जैन, बौद्ध, शैव, वैष्णव और शाक्त तन्त्रों में स्मार्त धर्म के रूप में सामंजस्य स्थापित करने का सार्थक प्रयास हुआ था। अपने धर्म की श्रेष्ठता को कायम रखते हुए यहाँ अन्य धर्मों के प्रति पूरी-पूरी सहिष्णुता को जगाने की पद्धति विकसित हुई थी। इन सभी धर्मों के आगम-तन्त्रशास्त्र के ग्रन्थों में इसे देखा जा सकता है। सूफी एवं ईसाई सन्तों के माध्यम से इस सहिष्णुता का विकास अन्य धर्मों में भी हुआ, किन्तु ब्रिटिश कुटिल-नीति ने उस पर पानी फेर दिया। स्वामी विवेकानन्द के उपदेश से चिढे ईसाई मिशनरियों ने उस आन्दोलन को विपथगामी बना दिया और आज ये सब मिलकर बया पक्षी के उपदेश से क्रुद्ध वानर की तरह भारतीयता को ही नष्ट कर देने के लिये जुट गये हैं।

आज पूरा विश्व धर्म से ही संचालित है और पूरे विश्व को एक धर्म की काली छाया से ढक लेने की, साथ ही धर्म-निरपेक्षता के मोहक जाल में सारी दुनिया को कस लेने की दुरभिसन्धि भी चल रही है और उसीके माध्यम से भारतीय धर्मों के उन्मूलन का षड्यंत्र भी। आज भारतीयों में ही भारतीय मूल्यों के प्रति विद्वेष फैलाया जा रहा है। वर्णाश्रमधर्म, ब्राह्मणवाद, मनुवाद जैसे कालातीत शब्दों के माध्यम से भारतीयता के प्रति नफरत बढ़ाई जा रही है। आश्चर्य यह है कि भारतीय संस्कृति के समग्र स्वरूप को बिना जाने अनेक भारतीय प्रबुद्ध चिन्तक भी उन्हींका साथ देने में लगे हुए हैं।

भारत के एक प्रधानमन्त्री के अशोक महान् बनने के चक्कर ने भारतीयता को संकटग्रस्त कर दिया है। दुनिया की सद्भावना को जुटाने में लगे आज के शासक भी वही कार्य कर रहे हैं। भारतीय शास्त्रों में लोकैषणा को सर्वाधिक विनाशक माना है। मुसलमानों में मानसिक गुणवत्ता को बढ़ाने की आवश्यकता थी। अपने घोषित एवं भावनात्मक एकता के लिए आवश्यक सिद्धान्तों से विमुख होकर उनको उसी रूप में अपनी ओर आकृष्ट करने का प्रयत्न उनके अपने लिये ही नहीं, अन्ततः देश के लिए भी घातक सिद्ध होगा।

इस्लामिक आतंकवाद के विरुद्ध कोई भी देश भारत की तरफदारी नहीं करेगा। भारतीयता को नष्ट कर देने का यह सेमेटिक धर्मों का संमिलित षड्यन्त्र है और भारत में पनप रहा कम्युनिज्म ईसाइयत से नहीं, इस्लाम से समरस है। विश्व हिन्दु परिषद् के एक प्रभावी सज्जन ने खीष्ट धर्म की सहायता से इस्लाम के आतंकवाद से निपटने का अपना मन्तव्य प्रकट किया था। अभी हाल में अमेरिका में संपन्न हुए विश्व धर्म संमेलन ने उनकी आँखें खोल दी होंगी। ऐसे लाल-बुझक्कड़ी सुझावों के स्थान पर उनको समस्त भारतीयता को एकजुट करने का प्रयत्न अपने दुराग्रहों को छोड़कर करना चाहिये।

४. कम्युनिस्टों का प्रचारतन्त्र

कम्युनिस्टों का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद अभी हाल की उपज है। यूरोप की औद्योगिक परिस्थितियों का उनकी स्वाभाविक गतिशीलता के साथ अध्ययन करने वाले दर्जनों विद्वानों के विचारों की पृष्ठभूमि में कार्ल मार्क्स ने 'कैपिटल' की रचना की और उसके आधार पर रूस में 'लाल क्रान्ति' हुई, क्रान्ति ने अपना काम किया। आज का पूरा विश्व उससे प्रभावित है। उस क्रान्ति की अब कहीं कोई

आवश्यकता नहीं है। लेकिन एक वर्ग बन गया है, जो 'कैपिटल' को किसी धर्म-ग्रन्थ से नीचा स्थान देने को तैयार नहीं है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्त की उत्पत्ति यहीं से हुई है।

यह सिद्धान्त भारतीय संस्कृति की सहिष्णुता और समन्वय की दृष्टि से एकदम विपरीत है। भारतीय संस्कृति जब आध्यात्मिकता पर अधिक जोर देती है, तो यह द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, भारतीय चार्वाक दर्शन की तरह, पूरी तरह से भौतिकवादी विचारधारा पर आधृत है। इसी पृष्ठभूमि में यह सर्वत्र दो वर्गों की तलाश कर उनमें कलह के बीज बो देने में अतीव निपुण है। आश्चर्य यह है कि आजकल की दुनिया के सर्वोत्कृष्ट वादों में इसकी गिनती होने लगी है। इसके अनुयायी साम्यवादी कहलाते हैं। साम्यवाद का अर्थ है, सबको बराबर कर देना। रूस की प्रजा पर सर्वप्रथम इसका प्रयोग किया गया। आज वह देश स्वयं ही विखण्डित होकर अपनी और इस वाद की कहानी स्वयं लिख रहा है। रूस के बाद अब इस वाद का झंडा चीन ने उठाया है। इसका हश्र क्या होगा ? अभी तो उसने बुद्ध की अहिंसा का परित्याग कर तिब्बती प्रजा को दुर्दशा में डाल दिया है जो अपने धर्मगुरु के साथ भारत में शरण लेने को बाध्य हुई है।

भारत में रूस और चीन से प्रेरित कम्युनिस्ट दल काम कर रहे हैं। विडम्बना यह है कि रूसी प्रशासन आपत्ति के समय भारत राष्ट्र के साथ दृढ़ता से खड़ा रहा है, वहीं कम्युनिस्ट दल सन् ४ २ के आन्दोलन से ही इसके साथ विश्वासघात करता रहा है। अब चीनी कम्युनिस्ट अपने विस्तारवाद और इस्लाम के आतंकवाद के साथ मिलकर अपने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को भारत की हिन्दु और मुसलमान प्रजा को आपस में लड़ा कर चरितार्थ कर रहे हैं। सांप्रदायिक और धर्म-निरपेक्ष, प्रगतिशील और प्रतिगामी, दक्षिणपन्थी और वामपन्थी, युवक और बुर्जुआ— जैसे शब्दों के माध्यम से भी उनका यह वाद सर्वत्र विग्रह फैलाने में लगा है। साम्यवाद के नाम पर इस्लामिक क्रूरता और बर्बरता के आगे ये भारत के उन सिद्धान्तों का तिरस्कार करने से बाज नहीं आते, जो भारत ही नहीं, विश्व के कल्याण के लिये भी सर्वाधिक उपयोगी हैं। इनके लिये मुसलमान धर्म-निरपेक्ष हैं और पूरी हिन्दु जाति सांप्रदायिक। आश्चर्य यह है कि कांग्रेस जैसी राष्ट्रीय संस्था इस मामले में इनसे भी आगे बढ़ गई है। इन लोगों को यह पता ही नहीं है कि जाने-अनजाने वे उस प्रेत को पाल-पोस रहे हैं, जो इस पूरी दुनिया को निगल जाने को उतारू है।

चीनी विस्तारवाद से हम स्वयं भी तो आतंकित हैं। तभी तो हम चिरकाल से चले आ रहे शरणागत-रक्षा के अपने पवित्र दायित्व से मुँह मोड़ लेना चाहते हैं। भूटान के जैसे तिब्बत की भी पूर्ण स्वतन्त्रता का दायित्व आज भारत पर आ पड़ा है। आदरणीय दलाई लामा जी से हमारा निवेदन है कि वे हीनयान से संचालित बौद्ध देशों का अनुसरण न कर श्रावकयान, महायान और मन्त्रयान के प्रतिनिधि तिब्बती बौद्ध धर्म का अनुसरण करते हुए अपने देश की पूर्ण स्वतन्त्रता का दृढ़ संकल्प लें। भारत की पूरी प्रजा उसके साथ है— सत्यमेव जयते।

आज पूरी दूनिया को भी यह जान लेना चाहिये कि तिब्बती राष्ट्र से भारत का चीन की अपेक्षा अधिक गहरा धार्मिक और सांस्कृतिक ही नहीं, ऐतिहासिक संबन्ध भी रहा है। इतना ही क्यों ? स्वयं

चीन को सुसंस्कृत करने में इस राष्ट्र का कितना गहरा सम्बन्ध रहा है, इसका साक्षी वहाँ से भारत आये उन प्रसिद्ध यात्रियों का इतिवृत्त ही है, अस्तु।

यह बात तो जगजाहिर है कि कम्युनिस्ट धर्म को अफीम मानते हैं, इसीलिये ये धर्म-निरपेक्षता के सिद्धान्त के सबसे प्रबल पक्षधर हैं। परस्पर एक समुदाय को दूसरे समुदाय से लड़ाकर पूरे समाज में अशान्ति फैलाना इनकी हाबी है और समाज के आगे व्यक्तित्व को प्रभावहीन बना देना इनका मुख्य लक्ष्य है। यह भी आश्चर्य की ही बात है कि कम्युनिज्म से प्रभावित भारतीय रचनाकार प्राचीन भारतीय साहित्य से पिण्ड छुड़ाकर यूरोप और अमेरिका की दौड़ में शामिल हो गया है। हिन्दी-भाषी क्षेत्र इसमें सबसे आगे है।

सर्वत्र समानता स्थापित की जाय, साम्यवाद का यह लक्ष्य तो अच्छा है, किन्तु इसकी प्राप्ति के लिये सर्वत्र द्वन्द्वात्मक दृष्टि का सहारा लिया जाय, यह उचित नहीं है। इससे मिलने वाली समानता मानसिक क्लेशों से भरी रहेगी। इसके विपरीत भगवद्गीता और तन्त्रागमशास्त्र में वर्णित समतामार्ग और साम्यदृष्टि इस तरह के दोषों से निरापद है। प्रो. मुकुटबिहारीलाल ने "साम्ययोग मीमांसा" नामक ग्रन्थ में प्राच्य और पाश्चात्य प्रमुख विद्वानों को उद्धृत करते हुए सर्वहितकारी साम्यवाद का सुन्दर विश्लेषण प्रस्तुत किया है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से मिलने वाले मानसिक क्लेशों से भरी समानता के स्थान पर भारतीय समतामार्ग और साम्यदृष्टि से मिलने वाली समता सहिष्णुता और समन्वय के आधार पर विकसित होती है। इस प्रक्रिया में मानव-मन का परिष्कार अपने आप होता रहता है, बन्धुत्व की भावना का विकास इसका लक्ष्य माना गया है।

इसके विपरीत भारतीय कम्युनिस्टों ने पूरे भारतीय प्रचारतन्त्र पर अपना एकछत्र साम्राज्य स्थापित कर लिया है। यह भारत का दुर्भाग्य रहा है कि यहाँ का शिक्षाविभाग प्रारंभ से ही शिथिल हाथों में रहा है और इसका पूरा फायदा कम्युनिस्टों ने उठाया है। इतिहास-परिषद् को उदाहरण के लिये प्रस्तुत किया जा सकता है। 'इति हि आस' इन तीन पदों से 'इतिहास' शब्द बनता है। इसका अर्थ है 'निश्चित रूप से ऐसा ही हुआ था'। आजकल इतिहास के नाम से जो कुछ लिखा जा रहा है, वह संकीर्ण दृष्टि का प्रचारमात्र है। विगत दो सौ वर्षों में लिखा गया इतिहास, कुछ अपवादों को छोड़कर, इसी परिधि में आता है। इन इतिहासकारों का कहना है कि भारतीयों को तो इतिहास का बोध ही नहीं था। भारतीय इतिहास के सबसे बड़े ज्ञाता आजकल कम्युनिस्टों को मान लिया गया है।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद एक-दूसरे को लड़ाकर ही पनपता है। इन प्रगतिशील इतिहासज्ञों ने समाज की समरसता के नाम पर विश्वव्यापी आतंकवाद के भूत को खड़ा कर दिया है। दूसरी तरफ "गर्व से कहो हम हिन्दु हैं" जैसा नारा बुलन्द किया जा रहा है। सर्वप्रथम भारतीय प्रजा को इन दोनों अन्तों से छुटकारा मिलना चाहिये। 'श्रमण-ब्राह्मणम्' के जैसे 'हिन्दु-मुसलमान' शब्द भी परस्पर के जन्मजात शत्रुओं के लिये प्रयुक्त हो रहा है। ब्राह्मणवाद और मनुवाद का उद्घोष करने वाले राजनीतिज्ञों में भी तो पक्ष-विपक्ष की भावना के स्थान पर शत्रु-मित्रभाव पनप रहा है। भारतीय जनतन्त्र के लिये यह भारी खतरा है। प्रस्तुत वाद इसीके इर्द-गिर्द घूम रहा है। इस्लाम इस दुनिया की सबसे पिछड़ी विचारधारा है। इसको सुधारने के स्थान पर आजकल अपने को सबसे प्रगतिशील

मानने वाला कम्युनिस्ट इस विश्व की सर्वश्रेष्ठ औपनिषद विचारधारा को नेस्तनाबूद करने में लगा हुआ है।

इनके अनुसार विदुषी रोमिला थापर ने मध्यमार्गी शब्द का प्रयोग कम्युनिस्ट विचारधारा के लिये किया है। महात्मा बुद्ध ने दोनों अन्तों का निषेध कर मध्यमा प्रतिपद् का उपदेश किया था। यह दृष्टि कम्युनिस्टों की पूरी सामग्री में देखने को नहीं मिलती। यहाँ लिखा गया है कि सबसे पहले महात्मा बुद्ध ने गायों को काटने के विरुद्ध आवाज उठाई। वेदांग निघण्टु में गाय को 'अघ्न्या' कहा गया है। आजकल के इतिहासज्ञों ने भी निरुक्तकार यास्क का समय महावीर और बुद्ध से पहले माना है। 'अघ्न्या' शब्द का अर्थ उन्होंने इस प्रकार दिया है– "अघ्न्या अहन्तव्या भवति, अघघ्नीति वा" (१०.४३), अर्थात् गाय अवध्य है, अथवा वह पापों का नाश करती है। महात्मा बुद्ध के पालि भाषा के जिस वचन की यहाँ चर्चा की गई है, उसे वहाँ खोजना पड़ेगा। इतना हम जानते हैं कि महावीर और बुद्ध ने यज्ञीय पशुहिंसा का निषेध किया था। अहिंसा की प्रतिष्ठा के विषय में भी हम भ्रम पाल रहे हैं। शतपथब्राह्मण में अहिंसक पांचरात्र सत्र का विधान है। छान्दोग्य उपनिषद् में देवकीपुत्र कृष्ण को घोर आंगिरस ने अहिंसा का उपदेश दिया था। अहिंसा के उपासक राजा वसु उपरिचर की कथा महाभारत के शान्तिपर्व के अतिरिक्त जैन साहित्य में भी मिलती है। यह राजा पांचरात्र (वैष्णव) धर्म का अनुयायी था। ईसा-पूर्व दसवीं शताब्दी तक आविर्भूत वैदिक साहित्य में सात्वत धर्म के रूप में भी इसका उल्लेख मिलता है। वैदिक और तान्त्रिक कर्मकाण्ड के प्रसंग में वसोर्धारा का विधान महाभारत में ही नहीं, बौद्ध तन्त्रों में भी मिलता है। प्राचीन उपनिषदों में भी मोक्ष-मार्ग के लिए यज्ञों को कमजोर नाव बताया था। भगवद्गीता में भी हमें इस आशय के वचन मिलते हैं।

जैन धर्म के चौबीसवें तीर्थंकर महावीर और तेईसवें पार्श्वनाथ की भी यहाँ चर्चा है, किन्तु उनका सही मूल्यांकन नहीं किया गया है। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग के प्रो. स्व. लल्लन जी गोपाल ने पार्श्वनाथ का और सांख्यदर्शन के प्रवर्तक कपिल मुनि का समय ईसापूर्व आठवीं शताब्दी माना है। प्रो. लल्लन जी गोपाल ने किसी वाद का चश्मा पहनकर इतिहास नहीं लिखा था।

भारत के आधुनिक इतिहास की कुछ घटनाओं को भी कम्युनिस्ट प्रचारतन्त्र अपने तरीके से पेश करता है। वे लोग मानते हैं कि हिन्दुओं और मुसलमानों में एकता स्थापित करने के लिये ऐसा किया गया है। उनका यह कार्य गणेश जी को बनाते-बनाते वानर बना देने की कहावत को चरितार्थ करता है। चित्रकार फिदाहुसेन की मानसिकता इसमें उजागर होती है। विश्वव्यापी आतंकवाद का नंगा नाच इसीकी परिणति है, जिससे भारत भी बचा नहीं है। पंचतन्त्र का पारसी अनुवाद छठी-७वीं शताब्दी में हो चुका था। वहाँ एक चूहे के उछल-कूद की कहानी है। आतंकवाद की समाप्ति भी तब तक नहीं होगी, जब तक पूरे विश्व में मध्यकालीन बर्बरता के शिकार अतिक्रमणों को पूर्व स्थिति में नहीं ले आया जाता। कम्युनिस्ट प्रचारतन्त्र संघ परिवार की अनावश्यक समालोचना में लगा रहता है। हम पूछना चाहते हैं कि बाबा साहब अम्बेडकर की स्वतन्त्रता-संग्राम में क्या भूमिका रही है?

आर्य और अनार्य, साम्प्रदायिक और धर्म-निरपेक्ष, प्रगतिशील और प्रतिगामी, ब्राह्मणवाद और मनुवाद, मंडल-कमण्डल, भगवाकरण, तालिबानीकरण जैसे अर्थहीन और दुराग्रह से भरे शब्दों से

छुटकारा पाये बिना हम प्राचीन और मध्यकालीन भारत के सही स्वरूप से परिचित नहीं हो पावेंगे। इतिहास एक सतत गतिशील प्रक्रिया है। नये प्रमाणों के मिलने के साथ पूर्व मान्यताएं पुरानी पड़ जाती हैं। अनुपयोगी पुरानी मान्यताओं से चिपके रहना भारतीय संस्कृति का स्वभाव नहीं है। प्राचीन भारतीय मान्यताओं को मिथक मान लेना और अन्यत्र प्रचलित कथाओं को प्रामाणिक मानना कहाँ का बुद्धिवाद है ? इसको हम तर्क के तराजू पर कैसे तोल सकते हैं ?

●

साधक-बाधक तत्त्व

भारतीय संस्कृति का स्वरूप कैसा है ? इसकी अपेक्षा हमारे सामने मुख्य प्रश्न यह है कि इसका स्वरूप कैसा होना चाहिये ? भारतीय संस्कृति के विशाल कालव्यापी स्वरूप के प्रखर व्याख्याता डॉ. मंगलदेव शास्त्री ने भारतीय संस्कृति की सात धाराओं की चर्चा की थी। उनके नाम वहाँ इस प्रकार दिये गये हैं— १. वैदिक, २. औपनिषद, ३. जैन, ४. बौद्ध, ५. पौराणिक, ६. सन्त और ७. इस्लाम-ईसाइयत। प्रथम दो धाराओं पर उनके विचार ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित हो चुके हैं। अपने जीवन के अन्तिम दिनों में वे पौराणिक धारा पर लिख रहे थे। हमारा दुर्भाग्य है कि उनके पुराण-धारा संबन्धी विचार हमारे सामने पुस्तक के रूप में न आ सके। इनके इस अनुशीलन का हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि अभिनव भारतीय संस्कृति के निर्माण में इन सभी धाराओं का समन्वय उन्हें अभीष्ट था। यही सही रास्ता भी है।

भारत में दो परस्परविरोधी विचारधाराएँ एक साथ पनपती रही हैं। प्रथम रूढ़िवादी विचारधारा के अनुसार वेद के सिवाय बाकी सारा वाङ्मय अप्रामाणिक माना गया है, जबकि दूसरी उदारवादी विचारधारा के अनुसार वेद के साथ सांख्य, योग, पांचरात्र (वैष्णव) और पाशुपत (शैव)-मतों का ही नहीं, जैन और बौद्ध दर्शनों का भी समावेश छः दर्शनों में किया गया है। आगम-तन्त्रशास्त्र और पुराण साहित्य का विकास इसी दृष्टिकोण के आधार पर हुआ है। इसीलिए सन्त तुलसीदास ने अपने महनीय ग्रन्थ रामचरितमानस को नानापुराण-निगमागम संमत माना है। भारतीय संस्कृति की सन्त धारा में हमें इन सब धर्मों और मत-मतान्तरों का समन्वित स्वरूप देखने को मिलता है।

किन्तु इससे हमें यह समझने की गलती नहीं कर बैठना चाहिये कि पूरे भारतीय समाज को यह स्वरूप मान्य हो गया था। वैदिक वर्णाश्रम-व्यवस्था आज भी किसी न किसी रूप में पूरे देश में विद्यमान है। रामायण, महाभारत आदि में इसको नकारा नहीं गया है। अन्यथा सिक्ख संप्रदाय के आविर्भाव की कोई आवश्यकता ही न रह जाती। श्रमण और ब्राह्मण के विद्वेष को हवा देने वालों की आज भी कमी नहीं है और अब ब्राह्मणवाद और मनुवाद का नारा इसीके सहारे पनप रहा है। विगत सौ-दो सौ वर्षों का सुधारवादी आन्दोलन भी वैदिक संस्कृति के संकीर्ण उपादानों का पोषक रहा है। कुछ अपवाद अवश्य हो सकते हैं। शैव और वैष्णव धर्म के समान जैन और बौद्ध धर्म से हम पूरी तरह से समरस नहीं हो सके हैं। अब तो सिक्ख धर्म को भी अलग से मान्यता मिल चुकी है। इस पृष्ठभूमि में जब हम इस्लाम और ईसाई धर्मों की बात सोचते हैं, तो हमारी आँखों के सामने अंधेरा छा जाता है कि क्या आज की परिस्थिति में हम एक अखण्ड भारतीय संस्कृति का निर्माण कर सकेंगे? प्रयत्न तो होना ही चाहिये।

सहिष्णुता और समन्वय भारतीय संस्कृति की विशेषता रही है। इस विशेषता का विकास यदि हम पूरी ईमानदारी के साथ सारी भारतीय प्रजा में कर सकें, तो यह संभव है, ऐसा हमारा विचार है। धर्म की भिन्नता हमारे लिये कोई समस्या नहीं है, समस्या है विभिन्न धर्मों के अनुयायियों में व्याप्त आपसी घृणा। इस घृणा को हटाने के लिये हमें भारतीय संस्कृति के बाधक और साधक तत्त्वों की समीक्षा करनी होगी। हमारी समझ में बाधक तत्त्वों की समीक्षा के बाद साधक तत्त्वों को उपस्थापित करना ठीक रहेगा।

बाधक तत्त्व

१. जैन और बौद्ध परम्परा पर उपनिषदों का सांख्य-योग दर्शन का तथा भागवतों और पाशुपतों की प्राचीन परम्परा के प्रभाव का एवं महाभारत और पुराण साहित्य पर शैव और वैष्णव मतों के अतिरिक्त जैन और बौद्ध मतों के प्रभाव का अभी तक सही मूल्यांकन नहीं हो पाया है। श्री लक्ष्मण शास्त्री जोशी ने अवश्य कुछ इस क्षेत्र में काम किया है। तान्त्रिक साहित्य की पूरी उपेक्षा भारतीय संस्कृति का पहला बाधक तत्त्व है। यहाँ जैन मत की अपेक्षा बौद्ध दृष्टि का जरूरत से ज्यादा अनावश्यक प्रवेश भी उत्तरदायी है।

२. धर्मान्तरण और धार्मिक हठवाद को प्रोत्साहित करना संस्कृति का दूसरा बाधक तत्त्व है। प्रो. मुकुटबिहारीलाल ने किसी मुस्लिम राजनेता को उद्धृत करते हुए लिखा है कि मुट्ठी भर पारसी सैकड़ों वर्षों से यहाँ शान्ति के साथ रह रहे हैं। उनके सामने कोई खतरा नहीं आया, तो करोड़ों की संख्या में पूरे भारत में फैले मुसलमानों के सामने खतरा कहाँ से आने वाला है ? यह सोचने की बात है। वास्तव में इस्लाम के सामने कोई खतरा नहीं है, किन्तु इस्लाम धर्म की मध्यकालीन सर्वक्षार प्रवृत्ति उसका पीछा नहीं छोड़ रही है। वह अब भी पूरे संसार पर छा जाने का सपना देख रही है। इस्लामिक आतंकवाद को इसके प्रमाण के रूप में पेश किया जा सकता है। इस प्रवृत्ति के रहते एक भारतीय संस्कृति केवल स्वप्नविलास है।

३. यूरोप अपने तो अनेक टुकड़ों में बँटा ही है, यहाँ भी उसने आर्य-द्रविड़ सरीखे अनेक विवादों को जन्म देकर अलगाव के बीज बो दिये हैं। रही-सही कमी की पूर्ति पूरे भारत में फैली ईसाई मिशनरियाँ कर रही हैं। प्राचीन भारत की बौद्ध भिक्षुओं की निःस्वार्थ सेवा-भावना से ये कोसों दूर हैं। कम्युनिस्टों का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद वर्गविद्वेष और हिंसा की आग को हवा दे रहा है। कम्युनिज्म से प्रभावित भारतीय रचनाकार प्राचीन भारतीय साहित्य से दूर भाग कर यूरोप और अमेरिका की दौड़ में शामिल हो गये हैं। इसमें हिन्दी-भाषी क्षेत्र सबसे आगे है। कबीर इनकी दृष्टि में स्वयंस्फूर्त प्रतिभा है। इस तरह का निराधार अध्ययन संस्कृति का तीसरा बाधक तत्त्व है। अब तो इस दृष्टि में नव बौद्ध भी अपना योगदान करने लगे हैं।

४. बाबरी मस्जिद और राम-जन्मभूमि का विवाद भी इन सबकी दृष्टि में धार्मिक प्रश्न है और धर्म को तो कम्युनिस्ट अफीम मानते ही हैं। वास्तव में यह धार्मिक प्रश्न न होकर सांस्कृतिक के साथ नैतिक प्रश्न भी है। अन्धी धार्मिकता के नाम पर किये गये इस प्रकार के अतिक्रमणों को जब तक हटाया नहीं जायगा, तब तक हठवादिता को ही प्रश्रय मिलता जायगा और बची-खुची सहिष्णुता और समन्वय के स्रोत भी सूखते चले जायेंगे। इस्लाम की हठवादिता को हटाने का तथा उसके भाई-

चारे के क्षेत्र को बढ़ाने का एक मात्र उपाय है– इन सब पुराने अतिक्रमणों को पूरी दुनिया से समाप्त कर देना। इस्लाम का भाई-चारा क्या अपने घरौंदे तक ही सीमित रहेगा ? इसके लिए क्या पूरी दुनिया को इस्लाम धर्म स्वीकार करना होगा ? इस तरह की समस्याओं का समाधान न हो पाना संस्कृति का चौथा बाधक तत्त्व है। वोट बटोरने वाली क्षुद्र राजनीति इस शुभ कार्य को नहीं होने दे रही है।

इन बाधक तत्त्वों से निजात पाने के लिये हमें ऐसे साधक तत्त्वों की खोज करनी होगी, जो पूरे भारतीय समाज को एक सुदृढ़ आधार दे सके, उसे एकता के मजबूत धागे में पिरो सके।

साधक तत्त्व

१. हम देखते हैं कि संगीत, नृत्य, वाद्य, चित्र, स्थापत्य आदि कलाओं के क्षेत्र में पूरा राष्ट्र एकरस हो चुका है। जब बहादुरशाह जफर कहता है कि मुझे दफन होने के लिए दो गज़ जमीन अपने वतन में न मिल सकी, तो पूरा राष्ट्र अपने बहते हुए आँसुओं को रोक नहीं पाता। अकबर महान् और दाराशिकोह के दिखाये मार्ग से हम इस तरह की एकता के डग भर सकते हैं।

२. पूरे भारत में फैले पवित्र तीर्थों, नदियों, पर्वतों और सुन्दरतम प्राकृतिक दृश्यों से भरपूर इस महान् देश के साथ हम पूरी तन्मयता से अपनी ममता को अनायास मोड़ सकते हैं। आधुनिक इतिहास के समान हम यहाँ के मध्यकालीन और प्राचीन इतिहास के साथ भी अपना नाता जोड़ सकते हैं। वैदिक वाङ्मय और संस्कृत भाषा आज प्राचीनतम साहित्य और भाषा के रूप में पूरे विश्व में मान्य हो चुकी है। सभी भारतीय भाषाओं में आज संस्कृत भाषा सर्वाधिक मान्य और व्यवहार्य है। इसका आदर करना तो हम सीख ही सकते हैं।

३. भगवद्गीता कहती है कि सभी महान् विभूतियाँ और तेजस्वी व्यक्तित्व भगवान् के ही अंश हैं। इस संसार के सभी धर्म-प्रवर्तकों, आचार्यों और अवतारों के प्रति हम अपना आदरभाव तो प्रकट कर ही सकते हैं।

४. कुछ पूर्वाग्रहों को छोड़कर यदि हम त्यौहारों को मनावें, झगड़ा करने की मंशा के बिना उत्सवों का आयोजन करें, तो इन अवसरों पर कटुता और हिंसा का वातावरण स्वतः धीरे-धीरे समाप्त हो सकता है। मस्जिदों के पास बाजा बजाना, कुर्बानी के लिये गाय को चुनना, एक-दूसरे के खिलाफ नारेबाजी करना जैसे दुराग्रहों को हम अनायास छोड़ सकते हैं।

५. यहाँ रह रहे समुदायों में परस्पर के प्रति कुछ निराधार अथवा साधार आशंकाएं घर करके बैठी हैं। पाकिस्तान के बनने से वे और गहरा गई हैं। पाकिस्तान के और पाकिस्तानियों की मनोवृत्ति के रहते हुए भी हम इन आशंकाओं के निराकरण का रास्ता खोज सकें, तो अवश्य ही एक भारतीय संस्कृति के निर्माण का पथ प्रशस्त हो सकता है।

●

सुधारवादी आन्दोलन

भारत में १९वीं-२०वीं शताब्दी में सामाजिक और सांस्कृतिक समस्याओं के समाधान का जो आन्दोलन हुआ, उसका परिचय देना इस शीर्षक का प्रयोजन नहीं है। यहाँ केवल सांस्कृतिक दृष्टि को विशेष रूप से उजागर करने वाले कुछ विशिष्ट आचार्यों का परिचय दिया जा रहा है। यहाँ हम, पहले स्वामी विवेकानन्द के साथ स्वामी दयानन्द को भी रख सकते हैं, क्योंकि इन दोनों महानुभावों का दृष्टिकोण वेद और वेदान्त के अधिक नजदीक है। इन दोनों ही महान् भारतीय चिन्तकों का यह दृढ़ विश्वास रहा है कि हम अपनी आधुनिक समस्याओं का ही नहीं, पूरे विश्व की आध्यात्मिक, धार्मिक तथा सामाजिक समस्याओं का भी समाधान इनकी सहायता से कर सकते हैं। कुछ संशोधनों के साथ हम स्वामी विवेकानन्द के विचारों से सहमत हैं।

स्वामी विवेकानन्द—स्वामी दयानन्द

एक स्थान पर स्वामी विवेकानन्द लिखते हैं— 'धिक्कार है ऐसे लोगों को, जो साहबों के सामने गिड़गिड़ाते हैं कि हम अतिनीच हैं, हम बहुत क्षुद्र हैं, हमारा सब कुछ खराब है। पर हाँ, यह बात तुम्हारे लिए ठीक हो सकती है। तुम लोग अवश्य सत्यवादी हो, पर तुम लोग अपने भीतर सारे देश को क्यों जोड़ लेते हो ? भगवान् ! यह किस देश की सभ्यता है ? (प्राच्य और पाश्चात्य, पृ. ५)।

आज कम्युनिस्टों और डॉ. राममनोहर लोहिया एवं राजनारायणसिंह जैसे समाजवादियों की तो बात ही दूर है, महात्मा गाँधी और महान् चिन्तक आचार्य नरेन्द्रदेव के गाँधीवादी और समाजवादी अनुयायियों की भी प्रायः यही स्थिति है। इनको इस्लाम और ईसाइयत में तो कुछ अच्छाई दिखाई भी देती है, किन्तु अन्य भारतीय धर्मों में इनको केवल बुराइयों का भंडार ही दिखाई पड़ता है। पं. जवाहरलाल नेहरु और आचार्य नरेन्द्रदेव के प्रयत्नों के कारण कुछ अंशों में इन्होंने बौद्ध धर्म को मान्यता दे दी है, किन्तु अन्य धर्मों को ये आजकल के बुद्धिजीवी फूटी आँखों से भी देखना नहीं चाहते। बेचारा जैन धर्म तो "किन गण्यो गरीबः" होकर रह गया है, जबकि भारतीय सभ्यता, संस्कृति और दर्शन के विकास में इन दोनों धर्मों की समान रूप से महनीय भूमिका रही है।

एक-दो उदाहरणों से हम इस बात को समझ सकते हैं। बौद्ध तन्त्र-ग्रन्थों में ब्रह्मसूत्र के भाष्यकार भास्कर की एक वेदान्ती के रूप में चर्चा आई है। ये अपने भाष्य में धर्मकीर्ति को विप्रभिक्षु कहते हैं और आचार्य शंकर के सिद्धान्त को 'महायान-बौद्ध-गाथित' कहते हैं। इसीके साथ यह भी देखने योग्य है कि आचार्य शंकर के शिष्य पद्मपाद की पंचदशिका के विवरण में भास्कर को 'क्षपणक-पादावनत-शिरोबिम्ब' विशेषण से विभूषित किया गया है। स्पष्ट है कि यहाँ एक-दूसरे पर बौद्ध और जैन दर्शन से प्रभावित होने की बात कही गई है, जो पूरी तरह से सच है। इस विषय में कश्मीर के महान् दार्शनिक, आगमशास्त्र और साहित्यशास्त्र के महान् विद्वान् आचार्य अभिनवगुप्त

अधिक स्पष्ट हैं। वे अपने परमगुरु भट्ट उत्पलदेव के ग्रन्थ ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृति पर विमर्शिनी टीका लिखते समय अन्त में कहते हैं कि आगमशास्त्र से द्वैतवाद को हटा कर, ब्रह्मवाद की अविद्या को मायाशक्ति के रूप में स्वीकार कर और बौद्धों के क्षणिक विज्ञानाद्वयवाद की नित्य आत्मेश्वरवाद के रूप में व्याख्या कर इस प्रत्यभिज्ञा दर्शन की सृष्टि की गई है।

भारतवर्ष में अभिनवगुप्त की इस दृष्टि का विकास न हो सका। जैन और बौद्ध आचार्य भी इसी धरती के वरेण्य पुत्र हैं, किन्तु उनके साथ भावात्मक एकता कभी स्थापित न हो सकी। आगमिक और तान्त्रिक धर्मों को छोड़कर जैन और बौद्ध तथा समय-समय पर प्रादुर्भूत हुए अन्य सभी भारतीय धर्मों ने भी अपने से पहले विकसित हुए ज्ञान को नकार दिया। सभी भारतीय धर्मों, सम्प्रदायों और पन्थों का यही इतिहास है। जैन और बौद्ध मत में जैसे वैदिक धर्म को कोई मान्यता नहीं दी गई, प्रायः उसी तरह की स्थिति कबीर पन्थ और सिक्ख धर्म आदि की भी है। पंजाब की समस्या इसी दृष्टिकोण का उत्पाद है। जनतन्त्र के आ जाने पर भी इस दृष्टि से हमें मुक्ति नहीं मिली है। राजनीतिक दल आपस में एक-दूसरे को अपना सहयोगी अथवा प्रतियोगी नहीं, दुश्मन मानते हैं। भारतीय प्रजा को इस संकुचित विचार से मुक्ति दिलाने के लिए हमें अभिनवगुप्त के मार्ग का अनुसरण करना पड़ेगा। वेद और वेदान्त का अनुसरण करने मात्र से भावात्मक एकता कभी स्थापित नहीं हो सकती। विदेशी प्रचार से अभिभूत हमारे बुद्धिजीवियों की भ्रान्ति भी तब तक दूर नहीं हो सकती, जब तक आगम और तन्त्रशास्त्र, जैन और बौद्ध, शैव, वैष्णव और शाक्त धर्मों की शाखा-प्रशाखाओं की पृष्ठभूमि में उद्भूत आलवारों (वैष्णवों), नायनारों (शैवों), सिद्धों, नाथों, सन्तों और गुरुओं के विशाल भारतीय साहित्य को इसी दृष्टिकोण से सही रूप में प्रस्तुत नहीं किया जाता। जागते हुए भी सोने का बहाना करने वाले कम्युनिस्टों के लिए तो स्वामी विवेकानन्द के द्वारा ऊपर प्रयुक्त शब्दावली ही शेष रह जाती है। साथ ही यह भी सही है कि आधुनिक समस्याओं का समाधान वेदान्त में तो खोजा भी जा सकता है, वैदिक कर्मकाण्ड में इसकी गुंजाइश बहुत ही कम है।

धर्म के विषय में स्वामी विवेकानन्द अधिक सजग हैं। उनका कहना है कि धर्म के बिना और दूसरी किसी चीज से भारत में जातीय जीवन की प्रतिष्ठा असंभव है। एक स्थान पर फ्रांसिसी, अंग्रेज और भारतीय चरित्र की विशेषता पर प्रकाश डालते हुए वे कहते हैं कि राजनीतिक स्वाधीनता फ्रांसिसी चरित्र का मेरुदण्ड है। अंग्रेजों के चरित्र में व्यवसाय-बुद्धि तथा आदान-प्रदान की प्रधानता है। एक भारतीय की दृष्टि से वास्तविक चीज आध्यात्मिक स्वाधीनता, अर्थात् मुक्ति है। उसके प्राण धर्म में निहित हैं और यह धर्म संस्कृत भाषा से ज्ञात हो सकता है। भारतीय धर्म और संस्कृत भाषा की विशेषताओं के वर्णन से स्वामी विवेकानन्द का साहित्य भरा हुआ है।

शिकागो वक्तृता का प्रारंभ करते हुए वे कहते हैं कि मुझे एक ऐसे देश का व्यक्ति होने का अभिमान है, जिसने इस पृथ्वी की समस्त पीड़ित और शरणागत जातियों तथा विभिन्न धर्मों के बहिष्कृत मतावलंबियों को आश्रय दिया है। मुझे यह बताने में गर्व होता है कि जिस वर्ष यहूदियों का पवित्र मन्दिर रोमन जाति के अत्याचार से धूल में मिला दिया गया, उसी वर्ष कुछ अभिजात यहूदी

आश्रय लेने दक्षिण भारत में आये, हमारी जाति ने उन्हें छाती से लगाकर शरण दी। ऐसे धर्म में जन्म लेने का मुझे अभिमान है, जिसने पारसी जाति की रक्षा की और पालन अब तक कर रहा है। भाइयों! मैं आप लोगों को संस्कृत के क्षेत्र के कुछ पद सुनाता हूँ, जिसे मैं अपने बचपन से गाता आ रहा हूँ और जिसे प्रतिदिन लाखों भारतीय गाया करते हैं–

रुचीनां वैचित्र्याद् ऋजुकुटिलनानापथजुषां
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव।। (श्लो. ७)

यह पद पुष्पदन्त के महिम्नस्तोत्र का है। भारत की यह विशेषता आज भी विद्यमान है। अभी हमने देखा है कि चीनी आक्रान्ताओं से प्रताड़ित भोट देश (तिब्बत) की प्रजा के साथ वहाँ के साहित्य और संस्कृति की रक्षा में यह देश उसी तरह से दत्तचित है, जैसे उसने कभी यहूदी और पारसी जनों की रक्षा की थी। बाबरी ढाँचे की घटना को लेकर आजकल के तथाकथित धर्मनिरपेक्ष राजनीतिज्ञ और बुद्धिजीवी जोर-शोर से प्रचार करने में लगे हुए हैं कि भारतीय सहिष्णुता को नष्ट किया जा रहा है, किन्तु वास्तविकता यह है कि एक आक्रान्ता असहिष्णु संस्कृति से अपने को बचाये रखने के लिये किये जा रहे प्रयत्नों की यह एक आकस्मिक परिणति थी। राजनीतिज्ञों और तथाकथित बुद्धिजीवियों को समय रखते समझ लेना चाहिये कि बाबरी ढाँचे को ढहाकर भारतीय प्रजा ने जगद्व्यापी असहिष्णुता को एक सबक सिखाया है।

शिकागो-सम्मेलन को संबोधित किये सौ वर्ष बीत गये हैं, किन्तु ईसाई और इस्लाम धर्म के अनुयायियों ने अभी तक सहिष्णुता का पाठ नहीं पढ़ा है और भारतीयता को पूरी तरह से नेस्तनाबूद कर देने में वे अभी भी प्राण-पण से जुटे हुए हैं। पेट्रो-अमेरिकन डालर का यह कुकृत्य तथाकथित वादों, उनके अनुयायियों, धर्मनिरपेक्ष राजनीतिज्ञों और बुद्धिजीवियों के माध्यम से ही अबाध रूप से नहीं चल रहा है, अंग्रेजी पत्रकारिता भी आँख मूँद कर उनका साथ दे रही है। आज चोर ही साहूकार को दोषी बताने में जुटा हुआ है। दुनिया की सारी असहिष्णु संस्कृतियाँ मिलकर इस पवित्र भारतीय संस्कृति पर चारों तरफ से आक्रमण कर रही हैं। पूरे साहस और दृढ़ता के साथ निर्भय होकर हमें इस प्रचार का सामना करना होगा, अन्यथा दुनिया में सहिष्णुता नाम की कोई चीज रह ही नहीं जायेगी। आजकल हमारा व्यवहार तो साँपों को दूध पिलाकर पालने जैसा हो रहा है।

अपने धर्म-संबन्धी विचारों को आगे बढ़ाते हुए स्वामी विवेकानन्द लिखते हैं– मुझे ऐसा धर्मावलम्बी होने का गौरव है, जिसने संसार को सहिष्णुता तथा सब धर्मों को मान्यता प्रदान करने की शिक्षा दी है। हम लोग सब धर्मों के प्रति केवल सहिष्णुता में ही विश्वास नहीं करते, वरन् समस्त धर्मों को सच्चा मानकर ग्रहण करते हैं। सारे संसार को मेरी यह चुनौती है कि वह समग्र संस्कृत दर्शनशास्त्र में मुझे एक भी ऐसी उक्ति तो दिखा दे, जिसमें यह बताया गया हो कि हिन्दुओं का ही उद्धार होगा, दूसरों का नहीं।

सार्वभौम धर्म की कल्पना कर वे कहते हैं कि इसकी ज्योति भी कृष्ण के भक्तों पर और ईसा के प्रेमियों पर, सन्तों पर और पापियों पर समान रूप से प्रकाशित होगी। वह न तो ब्राह्मणों का होगा, न बौद्धों का, न ईसाइयों का और न मुसलमानों का, वरन् इन सभी धर्मों का समष्टि स्वरूप होते हुए भी इसमें उन्नति का अनन्त पथ खुला रहेगा। यह इतना व्यापक होगा कि अपनी असंख्य बाजुओं से सृष्टि के प्रत्येक मनुष्य का आलिंगन करेगा और इसे अपने हृदय में स्थान देगा। चाहे वह मनुष्य हिंसक पशु से किंचित् ही उठा हुआ, अतिनीच, बर्बर और जंगली ही क्यों न हो, अथवा अपने मस्तिष्क और हृदय में सद्गुणों के कारण मानव समाज में कितना ही ऊँचा क्यों न उठ गया हो; वह धर्म प्रत्येक स्त्री-पुरुष के ईश्वरीय स्वरूप को स्वीकार करेगा।

धर्म की चरम सत्ता को स्वीकार करते हुए ही स्वामी विवेकानन्द धर्मों में समन्वय का आधार प्रस्तुत करते हैं। उनका कहना है कि हिन्दु धर्म बौद्ध धर्म के बिना नहीं रह सकता और न बौद्ध धर्म हिन्दु धर्म के बिना ही। हमारे पारस्परिक वियोग ने यह स्पष्ट कर दिया है कि बौद्ध ब्राह्मणों के दर्शन शास्त्र और मस्तिष्क के बिना नहीं ठहर सकते और न ब्राह्मण ही बौद्धों के विशाल हृदय के बिना, यह निश्चित है। बौद्ध और ब्राह्मण के बीच का विभेद ही भारतवर्ष की अवनति का कारण है। अतः आओ! हम ब्राह्मणों के उस अपूर्व मस्तिष्क के साथ महापुरुष बुद्धदेव के उस अद्भुत हृदय, महानुभावता और लोकहितकारी शक्ति को मिलाकर एक कर दें। रामकृष्ण मिशन की स्थापना उनके इसी चिन्तन की परिणति थी।

आगे चलकर वे कहते हैं— क्या मैं यह चाहता हूँ कि ईसाई लोग हिन्दु हो जाय ? कदापि नहीं, ईश्वर ऐसा न करे। क्या मेरी यह इच्छा है कि हिन्दु या बौद्ध लोग ईसाई हो जाय? ईश्वर इस इच्छा से भी बचावे। ईसाई को हिन्दु या बौद्ध नहीं होना चाहिये और न हिन्दु या बौद्ध को ईसाई ही। पर हाँ, प्रत्येक को चाहिये कि वह दूसरे के सार भाग को आत्मसात् करके पुष्टि लाभ करे और अपने वैशिष्ट्य की रक्षा करते हुए अपनी निजी प्रकृति के अनुसार वृद्धि को प्राप्त हो। शुद्धता, पवित्रता और दयाशीलता किसी संप्रदाय विशेष की संपत्ति नहीं है एवं प्रत्येक धर्म ने श्रेष्ठ व अतिशय उन्नत चरित्र के स्त्री-पुरुषों को जन्म दिया है। वे कहते हैं कि अड़ंगो के बावजूद प्रत्येक धर्म की पताका पर यह वाक्य स्वर्णाक्षरों में लिखा रहेगा— सहयोग, न कि विरोध; परभावग्रहण, न कि परभाव-विनाश; समन्वय और शान्ति, न कि मतभेद और कलह।

आज इस दृष्टिकोण को इस्लाम के अनुयायियों के बीच प्रचारित करने की सर्वाधिक आवश्यकता थी, किन्तु ऐसा नहीं हो रहा है। चिन्तनशील राजनीतिज्ञों का और लोकैषणा एवं वित्तैषणा से विहीन विद्वानों का आज इस देश में अकाल सा पड़ गया है।

शिकागो सम्मेलन कितने दिन चला और उसमें स्वामी जी ने कितनी बार भाषण किया, यह कोई महत्त्व की बात नहीं है। महत्त्व की बात तो यह है कि उनके विचारों का वहाँ आदर हुआ और उपस्थित प्रबुद्ध श्रोताओं ने उनको बार-बार सुनना चाहा, "वसुधैव कुटुम्बकम्", "शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः", "यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्" जैसे आदर्शवाक्य शायद अमेरिकी श्रोतृवर्ग को पहली

बार सुनने को मिले थे। "आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्", "नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते" जैसे वचनों को आचार्य नरेन्द्रदेव ने भी उद्धृत किया है। आचार्य जी प्राच्य और पाश्चात्य विचारों का सतर्क अध्ययन प्रस्तुत करने की सलाह देते हैं। स्वामी विवेकानन्द ने भी कहा है कि पाश्चात्य जाति के गुणों और विचारों को अपने साँचे में ढाल कर ग्रहण करना चाहिये।

इस विषय का विस्तार करते हुए वे आर्यजाति सम्बन्धी पाश्चात्य विचारों का खण्डन करते हुए कहते हैं कि यूरोपियन पंडितों का यह कहना है कि आर्य लोग कहीं से घूमते-फिरते आकर भारत में जंगली जातियों को मार-काट कर और उनकी जमीन छीन कर स्वयं यहाँ बस गये, यह केवल अहमकों की बात है। आश्चर्य इस बात का है कि हमारे भारतीय विद्वान् भी उन्हींकि स्वर में स्वर मिलाते हैं और वही सब झूठी बातें हमारे बाल-बच्चों को पढ़ाई जाती हैं। यह घोर अन्याय है। इस विषय को स्पष्ट करते हुए आगे वे लिखते हैं कि यूरोपियनों को जिस देश में मौका मिलता है, वहाँ वे आदिम निवासियों का नाश करके स्वयं मौज से रहने लगते हैं। इसीलिये उनका कहना है कि आर्य लोगों ने भी ऐसा ही किया था। मैं पूछना चाहता हूँ कि इस धारणा का आधार क्या है ? सिर्फ अन्दाज ही। तुम अपना अन्दाज, अनुमान अपने घर में रखो। किस वेद अथवा सूक्त में अथवा अन्यत्र कहीं तुमने देखा है कि आर्य दूसरे देशों से भारतवर्ष आये? इस बात का प्रमाण तुम्हें कहाँ मिला कि उन लोगों ने जंगली जातियों को मार काट कर यहाँ अपना निवास बनाया ? रामायण की कथा को आर्य जाति की विजययात्रा के रूप में पेश किया जाता है। स्वामी जी ने इसका भी सटीक उत्तर दिया है।

इस विषय को आगे बढ़ाते हुए और पाश्चात्य जगत् की भारत के साथ तुलना करते हुए स्वामी जी कहते हैं— ऐ यूरोपीय लोगों ! तुमने कब किस देश का भला किया है ! अपने से अवनत जाति को ऊपर उठाने की तुममें शक्ति कहाँ है ? जहाँ तुमने दुर्बल जाति को पाया, उसे नेस्तनाबूद कर दिया और उसकी निवासभूमि में तुम खुद बस गये और वे जातियाँ एकदम मटियामेट हो गईं। तुम्हारे अमेरिका का क्या इतिहास है ? तुम्हारे आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, प्रशान्त महासागर के द्वीपसमूह और अफ्रीका का क्या इतिहास है ? भारतवर्ष ने तो ऐसा कार्य कभी भी नहीं किया। आर्य लोग बड़े दयालु थे। उनके अखंड समुद्रवत् विशाल हृदय में, दैवी प्रतिभा से संपन्न मस्तिष्क में, उन सब आकर्षक प्रतीत होने वाली पाशविक प्रणालियों ने किसी समय भी स्थान नहीं पाया। यूरोप का उद्देश्य तो सबको नष्ट करके स्वयं अपने को बचाये रखना है। वे अपनी मनोवृत्ति से ही दूसरों का मूल्यांकन करना चाहते हैं, जो पूरी तरह से गलत है। आर्यों का तो उद्देश्य था— सबको अपने समान करना अथवा अपने से भी बड़ा बनाना। यूरोपीय सभ्यता का साधन तलवार और आर्यों की सभ्यता का उपाय वर्णविभाग था। शिक्षा और अधिकार के तारतम्य के अनुसार सभ्यता सीखने की सीढ़ी थी वर्णविभाग। यूरोप में बलवानों की जय और दुर्बलों की मृत्यु होती है। भारत में प्रत्येक सामाजिक नियम दुर्बलों की रक्षा के लिये बनाया गया है।

स्वामी विवेकानन्द ने यूरोपीय और भारतीय विचारों की तुलना करते हुए जो कुछ कहा है, उसे हम इस्लाम धर्म के अनुयायियों पर भी लागू कर सकते हैं अथवा इसे हम यों पेशकर सकते हैं कि ये

सब बातें यूरोप ने अरबों से सीखी हैं। इस्लाम धर्म के विस्तार का इतिहास यूरोप से भी अधिक क्रूर और रक्तपात से भरा हुआ है। उसने अभी इस प्राचीनतम देश भारत के तीन टुकड़े कर दिये और इतने से भी उसके खूनी इरादे पूरे नहीं हुए हैं। वह इस देश को और इसकी संस्कृति को उसी तरह से जड़मूल से उखाड़ फेंकना चाहता है, जैसा उसने मिस्र, ईरान जैसे प्राचीन देशों में किया, यहूदियों और पारसियों के साथ किया, जिसकी चर्चा स्वामी विवेकानन्द ने अपने शिकागो भाषण में की थी। भव्य भवनों और पुस्तकालयों को इस क्रूर पैशाचिकता ने सर्वत्र भूमिसात्, भस्मसात् कर दिया और उसकी यह क्रूर प्रवृत्ति वामियान की बुद्ध प्रतिमा के साथ किये गये पैशाचिक कृत्य में आज भी देखी जा सकती है।

इससे अच्छी तो वह यूरोपीय संस्कृति है, जो सर्वत्र प्राचीनता की रक्षा में प्राणपण से जुट जाती है। साथ ही यह भी सही है कि इनका मूल्य उसकी दृष्टि में समृद्ध संग्रहालय की स्थापना से अधिक कुछ भी नहीं है और वह वस्तु का, विचारधारा का सही मूल्यांकन करने से कतराती है। इसकी राजनीतिक दृष्टि अत्यन्त संकीर्ण है। यूरोप स्वयं अनेक टुकड़ों में बँटा हुआ है और अब भी यह प्रक्रिया वहाँ रुकी नहीं है। अभी हमने रूस और युगोस्लाविया का हश्र देखा है। ठीक यही स्थिति वह भारत में भी पैदा कर देना चाहते हैं। आर्यों के बाहर से आगमन का और यहाँ की प्राचीन जनजातियों के संहार का उनका कल्पित इतिहास अब भारत के प्रबुद्ध वर्ग में सत्य का बाना पहन चुका है और इसीकी पृष्ठभूमि में आर्य-द्रविड़, अगड़े-पिछड़े आदि के झगड़े पैदा कर दिये गये हैं, जिससे कि यह देश कहीं का न रह जाय।

हमारा निश्चित मत है कि धर्मनिरपेक्षता और सर्वधर्म-समभाव भी सभी धर्मों को नजदीक नहीं ला सकते, उनमें भावात्मक एकता स्थापित नहीं कर सकते। ये तो उनकी दूरी को बढ़ाने का ही साधन बन सकते हैं। राष्ट्रीय एकता के लिए तो हमें इन सबका तार्किक विश्लेषण प्रस्तुत करना होगा, इनकी अच्छाइयों और बुराइयों का पक्षपातरहित परीक्षण करना होगा। सभी धर्मों के प्रति आदर रखते हुए भी उनके गुण-दोषों के विवेचन की लम्बी भारतीय परम्परा रही है। "शत्रोरपि गुणा वाच्या दोषा वाच्या गुरोरपि" जैसे वाक्य इस कार्य में हमारे सहायक हैं। यदि यह कार्य हमें करना है, तो सबसे पहले धर्मपरिवर्तन की गति पर रोक लगानी होगी। आज तो बौद्ध धर्म भी इस गलत रास्ते पर चल पड़ा है। इसका कारण है भारत में बौद्ध धर्म के पुनरुत्थान में श्रीलंका की वरीयता। 'श्रमणब्राह्मणम्' जैसे दृष्टिकोण को आज भी वहाँ पाला-पोसा जाता है। महायान की विशेषताओं के अभाव में यह बौद्ध वाङ्मय आज हीनयान के नाम से प्रसिद्ध हो गया है।

साम्प्रतिक बौद्ध धर्म को इस दृष्टिकोण से मुक्त करना होगा। भारत के बहुख्यकों को भी यह सोचना होगा कि यह देश सभी धर्मों का[१] चरागाह क्यों बनता चला जा रहा है ? यहाँ की प्रबुद्ध जनता धर्म से ही नहीं, संस्कृति से भी क्यों विमुख होती जा रही है ? इस्लाम इस दुनिया का मानसिक दृष्टि से सबसे पिछड़ा मजहब है और ईसाई मत को मिथ्या अहंकार (सुपीरियारिटी

---

१. भारतीय संस्कृति का समग्र स्वरूप, पृ. १४६-१४९ द्रष्टव्य।

कम्प्लेक्स) ने धर दबोचा है। सभी मतों, दर्शनों और वादों को भारतीयता के साँचे में ढाल कर ही हमें ग्रहण करना होगा, तभी भावात्मक एकता, राष्ट्रीय एकता स्थापित हो सकेगी। आज तो देश का विभाजन कराने वाले ही दूसरों पर दुबारा देश-विभाजन की जिम्मेदारी डालने का दुस्साहस कर रहे हैं। भगवान् इनको सुबुद्धि दे। पहला विभाजन नेताओं के प्रति जनता के अतिविश्वास के कारण हुआ था। अब यह स्थिति नहीं है और जनता पुनः देश का विभाजन कभी नहीं होने देगी, कभी नहीं होने देगी।

अब हमारे सामने प्रश्न यह उठता है कि सुधारवादी आन्दोलनों की एक लंबी परम्परा के चलते हुए भी यह देश इस्लाम और ईसाइयत की ओर झोली लिये क्यों बढ़ता चला जा रहा है? अतितीव्र गति से अपने स्वरूप को भूल कर बाह्य संस्कृतियों से क्यों प्रभावित होता चला जा रहा है ? बात यह है कि अमेरिका आदि में होने वाले धर्म-संमेलन मुख्यतः ईसाई मत के प्रचार के उद्देश्य से किये जाते हैं। स्वामी विवेकानन्द के शिकागो प्रवचन ने श्रोताओं को मन्त्रमुग्ध किया, किन्तु इतर धर्मावलंबियों के मन में ईर्ष्या का भाव भर दिया। यही कारण है कि यहाँ धर्मान्तरण की प्रक्रिया अबाध गति से चलती रही और ये धर्मप्रचारक छिद्रान्वेषण में लग गये। भारत की सामाजिक परिस्थितियों में उनको पर्याप्त सामग्री मिल गई। स्वामी दयानन्द के साथ स्वामी विवेकानन्द ने भी वर्णाश्रम-व्यवस्था की पूरी हिमायत की है। वर्तमान समय की सामाजिक समस्याओं का समाधान भी वे वेद और वेदान्त के आधार पर प्रस्तुत करते हैं। बाह्य संस्कृतियों के आगमन से पूर्व इसमें किसी प्रकार की परेशानी भी पैदा नहीं हुई, किन्तु बौद्ध, जैन आदि मतवादों के उद्भव और विकास के साथ वर्णाश्रम-व्यवस्था में परिवर्तन आया और समाज का संचालन ब्राह्मणों के हाथ से खिसक कर धर्माचार्यों के पास पहुँच गया। आगम-तन्त्रशास्त्र ने और इसके आधार पर विकसित हुए सन्त साहित्य ने इसको एक झटका पुनः दिया। समाज में गुण और कर्म को प्रधानता दी जाने लगी। इस्लाम और ईसाइयत के धर्मान्तरण ने और अन्ततः द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद ने भारतीय समाज-व्यवस्था में उथल-पुथल मचा दी। उस झटके से यह व्यवस्था पूरी तरह से चरमरा गई है।

स्वामी दयानन्द ने गुण और कर्म पर आधारित समाज-व्यवस्था को वेदों के आधार पर समर्थन किया, किन्तु उन्होंने वेदबाह्य सारे भारतीय विकास को नकार दिया। ब्रह्मसूत्र के तर्कपाद की पद्धति से उन्होंने अन्य सभी मतों को अवैदिक, अप्रमाण सिद्ध कर दिया। सत्यार्थप्रकाश का एक प्रकरण उन्होंने तर्कपाद की पद्धति से ही लिखा है। इसका फल हमें इतना ही मिला है कि आज कोई भी शर्मा, वर्मा, शास्त्री, द्विवेदी बन सकता है। इससे व्यक्तिगत समस्या का समाधान तो हो गया, किन्तु अन्य समस्याएं ज्यों की त्यों रह गई हैं।

इस विषय में स्वामी विवेकानन्द अधिक सजग हैं। भंगी की तम्बाकू पीने में और मौलवी साहब के घर पर भोजन करने में उनको कोई एतराज नहीं है। जाति और वर्ण का भेद न रखकर वे सहभोज का आयोजन कर सकते हैं। विश्वमानवता और विश्वभ्रातृत्व की स्थापना पर वे जोर देते हैं। छुआछूत का बहिष्कार करने की सलाह देते हुए भी वे वेदों पर पूरी आस्था रखते हैं। वे कहते हैं कि नीच जाति, मूर्ख, दरिद्र, चमार, मेहतर तुम्हारा ही खून और तुम्हारे ही भाई हैं। मातृदेवो भव, पितृदेवो

भव, जैसे उपनिषद् वाक्यों की तरह दरिद्रदेवो भव, मूर्खदेवो भव, जैसे वाक्यों का वे प्रचार करते हैं और कहते हैं कि भारत के दरिद्रों, पतितों और पापियों को सहारा देने वाला कोई मित्र नहीं है। हिन्दु धर्म की तरह अन्य कोई भी धर्म ऐसे उच्च स्वर में मानवता की महिमा का प्रचार नहीं करता। फिर वही हिन्दुधर्म जिस प्रकार पैशाचिक भाव से गरीबों और पतितों का गला घोटता है, संसार में दूसरा कोई धर्म वैसा नहीं करता। वे यह भी कहते हैं कि भारत में संघबद्ध होकर काम करने की शक्ति का एकदम अभाव है। अपनी अमरनाथ यात्रा के प्रसंग में वे कश्मीर में क्षीरभवानी मन्दिर के ध्वंसावशेष को देखकर जातीय क्रूरता पर अफसोश भी जाहिर करते हैं और साथ ही म्लेच्छ शब्द पर भी घोर आपत्ति प्रकट करते हैं। वे यह भी कहते हैं कि समय आने पर सभी को ब्राह्मण पदवी में उन्नत करना होगा।

"शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः" भगवद्गीता के इस वचन की प्राचीन भाष्यकारों ने जो व्याख्या की है, उसे स्वामी विवेकानन्द नहीं मानते, किन्तु वे वेद और वेदान्त शास्त्र के आधार पर इनका समर्थन कैसे कर सकते हैं ? ब्रह्मसूत्र के अपशूद्राधिकरण और तर्कपाद के रहते उनकी विश्वमानवता और विश्वभ्रातृत्व की कल्पना "वसुधैव कुटुम्बकम्" जैसे आदर्शवाक्य की सी रह जायगी। ब्रह्मसूत्र के उक्त अंशों की वेदान्तानुवर्तिनी व्याख्या के कारण ही वैष्णव और शैव आचार्यों और सन्तों में गहरा मतभेद रहा है। इन सन्तों के आचार को स्वामी विवेकानन्द ने अपने व्यक्तिगत जीवन में उतारा, किन्तु इस दृष्टिकोण की पुष्टि करने वाले पौराणिक, आगमिक और तान्त्रिक साहित्य की उन्होंने स्वामी दयानन्द की तरह ही वेद और वेदान्त के आगे उपेक्षा कर दी। हमने ऊपर अभिनवगुप्त के दृष्टिकोण की चर्चा की है। विश्वमानवता और विश्वभ्रातृत्व के लिये वेदान्त की अपेक्षा आगमिक दर्शन अधिक सहायक बन सकता है, किन्तु कुछ मनीषियों को छोड़कर आज भी भारतीय दार्शनिकों की इसकी तरफ पूर्ण उपेक्षादृष्टि रही है। वस्तुतः भारतीय दर्शन का आधुनिक विकास आगमिक दर्शन को आधार मानकर होना चाहिये था, जिसमें बौद्ध मन्त्रनय का दर्शन भी शामिल है। आधुनिक भारतीय दार्शनिकों की यह उपेक्षा प्रायः वैसी ही भूल है, जैसी स्वामी दयानन्द ने एक लंबी भारतीय परम्परा की उपेक्षा कर की है।

महात्मा गाँधी का यह कथन अक्सर रेडियो व टेलीविजन पर सुनने को मिलता है कि प्रेम का विस्तार कुल, ग्राम, नगर, राष्ट्र और संपूर्ण विश्व तक होना चाहिये। प्रत्यभिज्ञादर्शन ने परिमिताहन्ता और विश्वाहन्ता का विकास इसी पद्धति से किया है। आचार्य धर्मकीर्ति का एक श्लोक है— "आत्मनि सति परसंज्ञा स्वपरविभागात् परिग्रहद्वेषौ । अनयोः संप्रतिबद्धाः सर्वे दोषाः प्रजायन्ते।।" इसके उत्तर में प्रत्यभिज्ञादर्शन का कहना है कि विश्वाहन्ता का विकास होने पर स्व-पर विभाग अपने आप समाप्त हो जाता है। वेदान्त इस संसार को मिथ्या मानता है और प्रत्यभिज्ञादर्शन इसको स्वत्व का विलास कहता है। श्रद्धेय कविराज जी की दृष्टि में भारतीय दर्शन का यह चरम उत्कर्ष है। योगी अरविन्द की दिव्य मानवता का प्रेरणास्रोत यही है। यह भारत को आगम और तन्त्रशास्त्र की देन है।

आज साधारण भारतीय 'तन्त्र' का नाम सुनकर नाक-भौंह सिकोड़ने लगता है, किन्तु पूरे भारतीय समाज के अनेक तथाकथित वरेण्य व्यक्ति और भाई राजनारायणसिंह जैसा लोहियाभक्त

समाजवादी भी तान्त्रिकों की शरण में पहुँच चुके थे। दलितों के उद्धार के लिये जिस पद्धति का विकास हुआ था, उच्चवर्ग उसीका सहारा लेकर पतनोन्मुख है। इस असामाजिक कार्य को तो वे पूरी तत्परता से पूरा कर रहे हैं, किन्तु सारी विश्वमानतवा के उद्धार के लिये जिस पद्धति का यहाँ वर्णन मिलता है, जिस प्रकार विश्वाहन्ता की दृष्टि के विकास का मार्ग उद्‌घाटित हुआ है, उसकी हमने आज घोर उपेक्षा कर दी है।

आगम और तन्त्रशास्त्र की इस दृष्टि का विकास भारतीय लोकभाषाओं में हुआ और गुजरात के भक्त नरसी मेहता की वाणी में "वैष्णव जन तो तेने कहिये, जे पीर पराई जाणे रे" जैसी पदावली का स्फुरण हुआ, जिसने मोहनदास करमचन्द गाँधी को महात्मा गाँधी बना दिया। यह हमें स्पष्ट रूप से हृदयंगम कर लेना चाहिये कि इस पूरी सन्त-परम्परा का अजस्र स्रोत भारत में आगम और तन्त्रशास्त्र या बौद्ध मन्त्रनय के नाम से विकसित संस्कृत और अपभ्रंश भाषा का वाङ्मय ही रहा है। ब्राह्मणवाद और मनुवाद को इसने बहुत पीछे छोड़ दिया है। महात्मा गाँधी इस उदारवादी परम्परा का पूर्ण प्रतिनिधित्व करते हैं, तभी तो वे सम्पूर्ण विश्व तक प्रेम का विस्तार करने की बात करते हैं।

पूरे देश में लोकभाषाओं के माध्यम से हुए आध्यात्मिक प्रचार ने एक शून्यता यह पैदा कर दी है कि उससे संबद्ध पूर्ववर्ती पूरा संस्कृत साहित्य विस्मृति के गर्त में चला गया और बचा हुआ अपेक्षाकृत अनुदारवादी संस्कृत साहित्य उसका प्रतिनिधित्व करने लगा। वेद और वेदान्त का यह साहित्य ही सारे सुधारवादी आन्दोलनों का प्रधान आधार रहा है और इस दृष्टि को वरीयता देने में विदेशी धर्मप्रचारकों का भी प्रच्छन्न अथवा प्रकट हाथ रहा है। आज संस्कृत भाषा के प्रति द्वेष रखने वालों और अपने भाषा-साहित्य पर गर्व करने वालों की संख्या बड़ी तेजी से बढ़ रही है। राष्ट्रीय एकता के लिये अब यह दृष्टिकोण भी प्रबल बाधक के रूप में उपस्थित है। इसका विरोध होना चाहिये और आगम-तन्त्रशास्त्र के संस्कृत साहित्य में ही प्रथमतः विश्वमानवता की दृष्टि विशेष रूप में विकसित हुई है, इसकी सही जानकारी सामान्य जनता तक पहुँचनी चाहिये। ऐसा होने पर ही भारतीय संस्कृति और संस्कृत भाषा के प्रति रुचि जागेगी, पूरी भारती प्रजा के साथ उसकी भावात्मक एकता स्थापित होगी और वह ब्राह्मणवाद-मनुवाद का भूत खड़ा करने वालों के मिथ्या प्रचार में कभी नहीं फँसेगी।

आगम-तन्त्रशास्त्र और बौद्ध मन्त्रनय ने गुरु और शास्त्र के समान मनुष्य के प्रातिभ ज्ञान को भी प्रमाण माना है। प्रत्यभिज्ञादर्शन का ही नहीं, योगवाशिष्ठ का भी कहना है कि इनका उत्तरोत्तर प्रामाण्य अभिप्रेत है, अर्थात् स्वानुभव, स्वात्मसंवेदन को शास्त्र और गुरु के उपदेश से भी श्रेष्ठ माना गया है। सारा संत-साहित्य इसी सिद्धान्त के आधार पर विकसित हुआ है। सन्त कबीर और गुरु नानकदेव इसी सिद्धान्त से प्रेरित थे। हमें योगी अरविन्द की दिव्य मानवता तक श्रद्धेय श्री श्री गोपीनाथ कविराज के अखण्ड महायोग की सहायता से सर्वत्र अखण्ड प्रेम का विस्तार कर पहुँचना होगा और पूरी मानव जाति को इसी जन्म में सारे दुःख-दर्दों से मुक्ति दिलाने का पथ प्रशस्त करना होगा। इस स्थिति में [१]"परस्परदेवो भव" हमारा आदर्शवाक्य बन सकता है और हम कुल, वंश, वर्ण, विद्या अथवा अर्थ के आधार पर नहीं, चरित्र के आधार पर मानवता का मूल्यांकन कर सकते हैं, जैसा कि सन्तों ने किया। महात्मा बुद्धदेव हममें महाकरुणा का अजस्र स्रोत प्रवाहित करें, यही ईश्वर से निवेदन है।

---

१. निगमागमीयं संस्कृतिदर्शनम्, पृ. २५८-२६० द्रष्टव्य ।

योगी अरविन्द

भारतीय तर्कशास्त्र के उज्ज्वल नक्षत्र आचार्य धर्मकीर्ति ने आत्मवाद को इसलिये अस्वीकार कर दिया था कि इससे अपना-परायापन पनपता है, जो राग और द्वेष का जनक है और इसीसे संसार के सारे दोष पैदा होते हैं। कश्मीरी शैव आचार्यों ने इसका उपचार बताया कि हम अपनी अहन्ता (अपनेपन) का इतना विकास करेंगे कि पराया कोई रह ही नहीं जायगा। इस भाव को यहाँ 'विश्वाहन्ता' नाम दिया गया है। विरूपाक्षपंचाशिका में इस स्थिति का हृदयाभिराम वर्णन मिलता है। स्कन्दपुराण का कहना है कि इस संसार के सारे दुःख दूर हो जाय, प्रजा में विद्यमान लोभ आदि दुष्ट भाव मिट जाय। हमारा अपने प्रति, अपने भाई के प्रति अथवा पुत्र के प्रति जो भाव है, वही भाव साधारण मनुष्य के प्रति भी जाग उठे। यही इच्छा तो भगवान् बुद्ध की भी रही है कि जब तक इस संसार में एक भी प्राणी दुःखी रहेगा, तब तक मैं निर्वाणलाभ नहीं करूँगा। जब हम धर्म, राष्ट्र, राज्य, भाषा, जाति, कुटुम्ब, कबीले आदि के भेदों को भुलाकर पूरी मानवता को आत्मसात् कर लेते हैं, तो यही वह अखण्ड दृष्टि है, जो विश्वाहन्ता के रूप में हममें प्रतिष्ठित होती है। योगी अरविन्द की अतिमानस स्थिति की और श्रद्धेय श्री श्री गोपीनाथ कविराज के अखण्ड महायोग की प्रतिष्ठा की भूमिका यहीं से आरंभ होती है।

स्वामी दयानन्द के वैदिक कर्मकाण्ड और स्वामी विवेकानन्द के शांकर वेदान्त के स्थान पर योगी अरविन्द ने प्रत्यभिज्ञादर्शन से अनुप्राणित शाक्त दर्शन को अपने जीवन में उतारा था। यहाँ तक आकर भारतीय मनीषा ने एक हजार वर्ष पहले विश्राम लिया था। आज धर्म, संस्कृति और दर्शन के क्षेत्र में नवीन विचारों की उद्भावना यहीं से प्रारंभ होनी चाहिये थी। सही रूप में यह कार्य योगी अरविन्द ने किया।

योगी अरविन्द के द्वारा प्रतिपादित योग पूर्णयोग कहलाता है। यह नाम उन्होंने स्वयं दिया है। पूर्णयोग का लक्ष्य है, भागवत चेतना की अतिमानसी शक्ति को उतार कर मन, प्राण और देह में इस प्रकार से लाना कि उसका दिव्य रूपान्तरण हो जाय और इनकी सहायता से ही भगवान् का प्रत्यक्ष साक्षात्कार किया जाय। अभिप्राय यह है कि जड़ तत्त्व में दिव्यत्व की अवतारणा के लिये इस योग की आवश्यकता है। इस योग की साधना किसी नियत मानसिक अवबोधन की या ध्यानोपासना की विधि [1]मन्त्रजप आदि के रूप में नहीं चलती। इसके लिए तो अपेक्षित है, सच्ची अभीप्सा या अन्तर्मुखी-ऊर्ध्वमुखी संप्रेषण, उस दिव्य सत्ता और उसकी लीला के प्रति पूर्ण आत्मोद्घाटन, जो सर्वत्र विद्यमान है एवं जिसकी उपस्थिति हमारे हृदय में निरन्तर बनी रहती है।

---

१. कश्मीर के मालिनीविजयतन्त्र (१८.७४-८१) में कहा गया है कि यह सब कर्मकाण्ड किया भी जा सकता है और नहीं भी। साधक की इच्छा और अनिच्छा को ही यहाँ वरीयता दी गई है। उस पर प्रतिबन्ध नहीं लगाया गया है, किन्तु इतना अवश्य कहा गया है कि साधक को अपनी चर्या ऐसी बनानी चाहिये, जिससे उसका मन निर्मलता, बौद्ध शास्त्रों के अनुसार प्रभास्वरता की ओर बढ़ता चले।

योगी अरविन्द लेखन को भी पूर्णयोग का अंग मानते हैं और कहते हैं कि केवल लेखन ही नहीं, वास्तव में कोई भी काम योग[१] बन सकता है। उनके मत में यह सारा जीवन ही योग है। वे कहते हैं कि जो लोग सच्चे मन से श्री माँ के निमित्त काम करते हैं, उनके लिये तो वह काम ही अभीष्ट चेतना को प्राप्त कराने का साधन बन जाता है, भले ही वे ध्यान-चिन्तन में बैठते तक न हों, या योगसाधना की दृष्टि से कुछ भी न करते हों। एक स्थान पर तो वे आसन[२] और प्राणायाम के विषय में भी कहते हैं कि इनकी सहायता से मानसिक दोषों का निर्मूलन हो ही जाय, यह आवश्यक नहीं है। हमें तो अन्य सारी चिन्ताएं छोड़कर अपने को यथार्थ में भागवत सत्य और भागवत प्रेम का पात्र बनना चाहिये। इसका प्रथम चरण होगा— पूर्ण आत्मनिवेदन और आत्मशुद्धि, पूर्ण आत्मोद्घाटन और अपने अन्दर के उस सबका पूर्ण परित्याग, जो इसमें बाधक है।

इस पूर्णयोग की साधना के लिए, एक पूर्णतया विकसित अध्यात्मीकृत समाज के विकास के लिए और मानवीय विविधता में एकता की संसिद्धि के लिए निश्चित रूप से मार्गदर्शन स्वयं ही प्राप्त होता है। मानव का सच्चा धर्म है, देवत्व को प्राप्त करना और अपने पार्थिव जीवन की सत्ता को तदनुरूप ढालना। यही विकास का वास्तविक अर्थ भी होता है। उन्होंने स्पष्ट किया कि मन, प्राण और जड़ तत्त्व तीनों आध्यात्मिक मन अथवा अतिमन के द्वारा प्रादुर्भूत हुए आत्मा के ही परिणाम हैं। [३]मनुष्य अपने मन का अतिमन में विकास करके इसी जीवन में जड़ जगत् में आत्मा के वास्तविक सत्य का, प्राण के उच्चतम धर्म का साक्षात्कार कर सकता है। आत्मा ही सच्चिदानन्द स्वरूप है और उसके[४] एवं जगत् के बीच किसी प्रकार का कोई भेद नहीं है। जो भेद जान पड़ता है, वह केवल इस कारण है कि हम इसे जगत् की दृष्टि से देखते हैं, [५]ज्ञान की दृष्टि से नहीं। इस विकासप्रक्रिया का चरम रूप विशुद्ध आध्यात्मिक जीवन, अर्थात् दिव्यजीवन होता है।

---

१. "योगिनां तु विशेषोऽयं सम्बन्धे सावधानता" (श्लो. १०४) विज्ञानभैरव के इस श्लोक में योगी के कार्य करने की महत्ता पर प्रकाश डाला गया है। पूरी सावधानी से निपटाया गया प्रत्येक कार्य योग की कोटि में आ ही जायगा।

२. स्वरूप-साक्षात्कार में अष्टांग-योग की कोई अपेक्षा नहीं है, इस प्रसंग में आसन और प्राणायाम की निरपेक्षता पर भी अभिनवगुप्त ने तन्त्रालोक (४.८७-८८) में विस्तार से प्रकाश डाला है। नेत्रतन्त्र (८.९-२१) में अष्टांग योग की परिभाषा ही बदल दी गई है और उसमें भी तर्क को योग का सर्वश्रेष्ठ अंग माना गया है।

३. "यमो वैवस्वतो राजा यस्तवैष हृदि स्थितः। तेन चेदविवादस्ते मा गङ्गां माकुरून् गमः।।" (८.९२) मनुस्मृति के इस श्लोक में इन दोनों ही स्थितियों का विश्लेषण किया गया है।

४. सोमानन्द की शिवदृष्टि के प्रथम और चतुर्थ आह्निक में सब कुछ शिवमय है, इस सिद्धान्त का विस्तार से प्रतिपादन किया गया है।

५. विष्णुपुराण (१.४.३८-४१) के श्लोकों से तुलना कीजिये। विज्ञानवादी बौद्धों की भी यही मान्यता है।

शक्तितत्त्व को योगी अरविन्द ने अतिमानसी शक्ति कहा है। यह तब तक प्रकट नहीं होती[१], जब तक हम सब प्रकार के अहंभाव से अपने को मुक्त न कर लें। वह शक्ति अपने को व्यक्त ही केवल ऐसे प्राणी में करेगी, जिसने पूर्ण आन्तरिक अवस्था प्राप्त कर ली हो। एक अन्य स्थान पर इच्छाशक्ति और [२]कर्मशक्ति का उल्लेख करते हुए वे कहते हैं कि यह भी प्रतिबद्ध व्यक्तित्व और उसके अहंकार का प्रस्फुटन न होकर दैवी और आध्यात्मिक शक्ति होगी, मानव मूर्ति के माध्यम से उन्मुक्त रूप से कार्य करती हुई उस परात्पर [३]विश्वमूर्ति की, अखिल विश्व के आत्मा-परमात्मा की ही इच्छा और कर्म शक्ति होगी। वे यह भी कहते हैं कि जिन महापुरुषों में यह आध्यात्मिक चेतनाशक्ति बहुत विकसित हो जाती है, उनमें एक विशेष क्रियात्मक आध्यात्मिक शक्ति आ जाती है।

पूर्णयोग की कसौटी दिव्य रूपान्तरण है और शक्तितत्त्व की सहायता से यह प्राप्त हो सकता है। पहले अपनी प्रकृति का रूपान्तरण, फिर भौतिक और आध्यात्मिक रूपान्तरण और अन्तिम अतिमानसी रूपान्तरण। इसके लिए योगी अरविन्द दो[४] प्रतिज्ञाएं करते हैं— एक तो यह कि मैं तब तक धरती का वातावरण छोड़ कर नहीं जाऊँगा, जब तक यह रूपान्तरण न हो जाय; दूसरी यह कि अब मैं अतिमानसी स्थिति में निर्मित प्रथम अतिमानसी देह में ही प्रकट होऊँगा। वह इसलिए कि उनको अतिमानस के अवतरण और दिव्य रूपान्तरण के योग को परिपूर्णता देनी है, विश्व के क्रमविकास में अतिमानसी जीवन को प्रत्यक्ष करना है।

अतिमानसी जीवन के लिये दो तत्त्व आवश्यक हैं— एक तो पूर्ण और सतत [५]समानता का भाव और दूसरा उसके ज्ञान के संबन्ध में पूरी निश्चितता। समानता सचमुच पूर्ण हो, इसके लिये आवश्यक है कि वह निरपवाद और अपरिवर्तिनी हो, सहज और स्वैच्छिक हो। अतिमानसी जगत् के समस्त

---

१. "नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः" (मुण्डको. ३.२३) इस तरह के उपनिषद् वचन भी इसी ओर इंगित करते हैं।

२. यहाँ कर्मशक्ति के स्थान पर क्रियाशक्ति शब्द का प्रयोग होना चाहिये। शैव-शाक्त तन्त्रों में इच्छा, ज्ञान और क्रिया नामक तीन शक्तियों का निरूपण हुआ है। मनुष्य को कुछ प्राप्त करने की इच्छा है और वह वस्तु वस्तुतः कैसे प्राप्त होगी, इसकी जानकारी भी उसे है; किन्तु यदि उसकी क्रियाशक्ति प्रबुद्ध नहीं है, अर्थात् आलस्य आदि के कारण उसकी यह शक्ति प्रसुप्त है, तो वह कुछ भी नहीं कर सकेगा, उसकी इच्छा और ज्ञान शक्ति निष्फल जायगी।

३. प्रत्यभिज्ञादर्शन में इसीको विश्वमय और विश्वोत्तीर्ण तत्त्व कहा गया है।

४. व्याधि-जरा-मृत्यु से ग्रस्त दुःखी संसार के उद्धार के लिए भगवान् बुद्ध ने भी ऐसी ही प्रतिज्ञा की थी और वे बोधिसत्त्व के रूप में अभी भी इस संसार के दुःखों की निवृत्ति के लिए सतत क्रियाशील हैं, ऐसी बौद्ध दार्शनिकों की मान्यता है।

५. अभिनवगुप्त और महेश्वरानन्द जैसे प्रत्यभिज्ञा और क्रम शास्त्र के आचार्यों ने त्रिकशासन के प्रमाण से अष्टविध समता का प्रतिपादन किया है। समताष्टक मार्ग का शक्तिसंगमतत्त्व (२.१८.२१) में भी उल्लेख है। इस विषय का विशेष विवरण हमारे लुप्तागमसंग्रह के द्वितीय भाग के संस्कृत उपोद्घात (पृ. २११) में देखा जा सकता है।

[1]प्राणियों का परस्पर संबन्ध मित्र, सहयोगी और बराबरवालों का होगा। इस स्थिति में हमारा पृथ्वीलोक अतिमानसी जीवन के लिये उपयुक्त भूमि बन जायेगा। अतिमानसी सृष्टि संभव हो सके, इसके लिये यह भी आवश्यक है कि [2]जिस तत्त्व का मनुष्यशरीर बना हुआ है, उसीमें भारी परिवर्तन हो। दैहिक तत्त्वों का अतिमानसीकरण हो जाने पर धरती पर शरीर लेकर जन्म लेने में भी हीनता का बोध नहीं होगा। इस सृष्टि में कोई धर्म आदि नहीं होंगे। जो भागवत इकाई विश्व भर में प्रकट होगी, प्राणी मात्र उसीकी अभिव्यक्ति, उसीका विभिन्न रूपों में पल्लवन-पुष्पन होंगे। मनुष्य आज जिनको देवता कहता है, वे भी फिर नहीं रह जायेंगे, क्योंकि नई सृष्टि में वे स्वयं भी भाग लेते होंगे। धरती पर अतिमानसी तत्त्वों का अवधारण इन्हें भी करना होगा।

यह एक अत्यन्त कठिन कार्य है। योगी अरविन्द का कहना है कि हमारा जीवन सरल कार्यों के लिये नहीं, कठिन कार्यों को पूरा करने के लिये ही है। वे यह भी कहते हैं कि कोई भी काम किसी दूसरे से न [3]ऊँचा समझा जाना चाहिये और न नीचा ही। किसी भी कार्य में सम्पूर्णता आ सके, इसके लिये आवश्यक है कि मानव प्राणी की जीवनगत कार्यप्रवृत्तियों में पाँचों प्रधान पक्षों को ध्यान में रखा जाय। ये पाँच पक्ष हैं— [4]शारीरिक, प्राणिक, मानसिक, चैत्तिक और आध्यात्मिक।

---

१. स्कन्दपुराण के निम्न श्लोक से इसकी तुलना की जा सकती है—
नश्यन्तु दुःखानि जगत्यपैतु लोभादिको दोषगणः प्रजाभ्यः।
यथात्मनि भ्रातरि चात्मजे वा तथा नरस्यास्तु जनेऽपि भावः ॥

२. अतिमानसी सृष्टि के प्रसंग में यह एक प्रमुख प्रश्न है। सांख्यदर्शन की दृष्टि से यह सृष्टि त्रिगुणात्मक है, सुख-दुःख-मोहात्मक है। इस प्राकृतिक सृष्टि में दिव्य भाव का उन्मेष हो ही नहीं सकता, किन्तु प्रत्यभिज्ञादर्शन में मायीय और महामायीय सृष्टि का भी वर्णन है। मायीय सृष्टि के उपादान शुद्धाशुद्ध सात तत्त्व और महामायीय सृष्टि के उपादान पाँच शुद्ध तत्त्व हैं। महामाया, कुण्डलिनी शक्ति, परा वाक् ये सब पर्यायवाची शब्द हैं। आणव, मायीय और कार्म नामक त्रिविध मलों से आवृत सकल प्रमाता का शरीर प्राकृतिक, आणव और मायीय मल से आवृत प्रलयाकल का मायीय और केवल आणव मल से आवृत विज्ञानाकल का शरीर महामायीय है। यह विज्ञानाकल अन्ततः मन्त्र (विद्या), मन्त्रेश्वर (ईश्वर), मन्त्रमहेश्वर (सदाशिव) और शिव-शक्ति का स्वरूप धारण कर लेता है। इस प्रकार यहाँ सप्तविध प्रमाताओं की स्थिति मानी गई है। क्या यह संभव है कि प्राकृतिक और मायीय सृष्टि के उपादानों की कोई सत्ता न रह जाय और शुद्ध महामायीय सृष्टि ही बची रह जाय। इस प्रसंग में यह दर्शनीय है कि योगी अरविन्द परमसत् के सात आयामों की चर्चा करते हैं, जिनमें वह मूर्तिमान् होता है। वे हैं— सत्, चित्, आनन्द, अतिमानस, मानस, जीवन और जड़ तत्त्व। हम विज्ञानाकल की उन्मनी अवस्था से अतिमानस स्थिति की तुलना कर सकते हैं।

३. चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था जन्मना मानी जाय अथवा कर्मणा, इस व्यवस्था से भारतीय समाज की वर्तमान स्थिति में कोई परिवर्तन आने वाला नहीं है। उसमें घुसी हुई ऊँच-नीच की अनन्त परम्परा की विषम दृष्टि की व्याधि का एकमात्र उपचार यही है कि हम किसी भी काम को छोटा या बड़ा न मानकर समाज के लिये उपयोगी सभी कार्यों को समान आदर दें।

४. विज्ञानभैरव (श्लो. १३५) के इस श्लोक से तुलना कीजिये—
मानसं चेतना शक्तिरात्मा चेति चतुष्टयम्। यदा प्रिये परिक्षीणं तदा तद् भैरवं वपुः ॥

गुरु के संबन्ध में योगी अरविन्द का कहना है कि गुरु तो उसे कहेंगे, जो चेतना और आत्मसत्ता के उच्च स्तर तक पहुँच चुका हो और जिसे उस चेतना की अभिव्यक्ति का प्रतिनिधि माना जाता हो। ऐसा गुरु अपने प्रवचन और उससे अधिक अपने प्रभाव और उदाहरण से ही सहायता नहीं करता, बल्कि अपनी अनुभूतियों को दूसरों तक संप्रेषित कर सकने की क्षमता के द्वारा भी करता है। एक दूसरे प्रसंग में वे कहते हैं कि [१]बिना गुरु के भी अतिमानसी रूपान्तरण को प्राप्त किया जा सकता है।

योगी अरविन्द के दर्शन की हम सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में व्याख्या कर सकते हैं। बन्ध और मोक्ष की व्यवस्था को प्रत्यभिज्ञादर्शन और सिद्धसाहित्य ने भी नकार दिया है। जीवन्मुक्त दशा की प्राप्ति ही उनका चरम ध्येय है। एक ही जन्म में मुक्ति की बात को भक्तिस्तोत्रकार शैव अवधूतसिद्ध ने भी स्वीकार किया है। सभी ने मानवमात्र को दीक्षा का अधिकारी माना है और बाह्य कर्मकाण्ड की अपेक्षा आन्तर (चित्त) शुद्धि पर अधिक जोर दिया है। मालिनीविजयतन्त्र की ऊपर चर्चा हो चुकी है। इसी अभिप्राय के वचनों से आगम-तन्त्रशास्त्र की विभिन्न शाखाओं के ग्रन्थ और सिद्धसाहित्य भी भरा पड़ा है। आगे विभिन्न भारतीय भाषाओं के माध्यम से विकसित सन्तसाहित्य के, विशेष कर कबीर जैसे निर्गुण सन्तों के साहित्य में हमें इस दृष्टि का चूड़ान्त उत्कर्ष देखने को मिलता है। [२]"आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्" और [३]"परस्परदेवो भव" शीर्षक संस्कृत के दो निबन्धों में हमने देखा है कि हम अपने मन में पूरी मानवता के प्रति समादरभाव का विकास कर सकते हैं। वैष्णव दार्शनिकों ने शुद्धसत्त्व स्थिति को स्वीकार किया है। यह स्थिति इस त्रिगुणात्मक प्राकृत सर्ग में भी प्राप्त की जा सकती है। यदि पूरी मानवता यहाँ तक पहुँच सके, तो उस स्थिति में न कोई साम्प्रदायिक रह जायगा और न सेक्युलर ही। महात्मा गाँधी की कल्पना के अनुसार उस स्थिति में राजकीय नियन्त्रण की भी कोई आवश्यकता नहीं रह जायगी।

यदि पूरी मानवता यहाँ तक पहुँच सके, तो उसका आगे का पग दिव्यभाव, अतिमानस सृष्टि की ओर ही बढ़ेगा, किन्तु क्या यह संभव होगा ? अभी तो बुद्ध-महावीर और राम-कृष्ण के उपदेशों की भूमि की मानसिकता भी शोचनीय स्थिति तक पहुँच गई है। आकाशवाणी, दूरदर्शन और सिनेमा उसको विपरीत दिशा की ओर ही ढकेल रहे हैं।

---

१. प्रत्यभिज्ञादर्शन, बौद्ध मन्त्रयान और योगवासिष्ठ में भी ज्ञान की प्राप्ति के त्रिविध अथवा चतुर्विध उपादान बताये गये हैं। "गुरुतः शास्त्रतः स्वतः" ये हैं तीन उपादान और इनमें बौद्ध 'परतः' को भी जोड़ते हैं, अर्थात् ज्ञान गुरु से, शास्त्रों के अध्ययन से, अपने अनुभव से और अन्य सहयोगी मित्र आदि के अनुभवों से भी प्राप्त होता है। संविद्देवियों के द्वारा स्वप्न में दीक्षा का विधान भी शास्त्रों में मिलता है। वसुगुप्त को शिवसूत्रों की प्राप्ति स्वप्न में प्राप्त आदेश के अनुसार हुई थी। महार्थमंजरीकार महेश्वरानन्द को भी स्वप्न में ही योगिनी का आदेश प्राप्त हुआ था।

२. "निगमागमीयं संस्कृतिदर्शनम्" (पृ. २६९-२७३) में हमारा संस्कृत निबन्ध देखिये।

३. "निगमागमीयं संस्कृतिदर्शनम्" (पृ. २५८-२६०) में हमारा संस्कृत निबन्ध देखिये।

महात्मा गाँधी

आज की पूरी दुनिया खान-पान, रहन-सहन, वेश-भूषा, भाषा-लिपि, कला-साहित्य, विज्ञान और दर्शन के क्षेत्र में भी पाश्चात्य संस्कृति से प्रभावित हुई है। भारत भी इससे अछूता न रह सका। यहाँ के नवशिक्षित वर्ग में आज जो कुछ भी भारतीयता बची है, उसका अधिकांश श्रेय महात्मा गाँधी को जाता है। महात्मा गाँधी के भारतीय राजनीति में पदार्पण करने के पूर्व यहाँ की राजनीति और नेतागण पूरी तरह से पाश्चात्य संस्कृति से प्रभावित थे। अंग्रेजी भाषा और वेश-भूषा का उस समय के राजनीतिक संमेलनों में एकछत्र राज्य था। भारतीय भाषा बोलने में अथवा भारतीय वेश-भूषा में समाज के सामने आने में शिक्षित वर्ग को हीनता का बोध होने लगा था। भारतीय राजनीति में राष्ट्रभाषा और खादी की प्रतिष्ठा कर महात्मा गाँधी ने तत्कालीन शिक्षित वर्ग को इस हीनता-ग्रन्थि से मुक्ति दिलाने का अचूक प्रयत्न किया। भारतीय ऋषि-मुनियों और महापुरुषों के द्वारा सेवित त्याग, तपस्या और अहिंसा के मार्ग को उन्होंने पूरे विश्व के सामने न केवल वाणी से, अपितु आचरण के द्वारा भी उजागर किया। भारतीय संस्कृति के उत्कृष्ट गुणों से कुछ प्रबुद्ध पाश्चात्य चिन्तक अवश्य पहले से परिचित थे, किन्तु उपनिषद्, गीता, बुद्ध और महावीर के द्वारा उपदिष्ट मार्ग पर अब भी चला जा सकता है, राजनीति में भी सत्य और अहिंसा की प्रतिष्ठा हो सकती है, इसको पूरे जगत् के साधारण जन तक पहुँचाने का श्रेय महात्मा गाँधी की जीवनचर्या को ही दिया जा सकता है। भारत की जनता ने ठीक ही उनको 'महात्मा' की उपाधि से विभूषित किया है।

महात्मा गाँधी ने न केवल भारतीय संस्कृति को भौतिक आक्रमण से बचाया, अपितु पाश्चात्य संस्कृति को भी अध्यात्म की ओर उन्मुख किया। इस दिशा में हम सुधारवादी आन्दोलन के रामकृष्ण परमहंस जैसे पुराधाओं के अवदान को भी भुला नहीं सकते। एक दुनिया, एक संस्कृति और एक राज्य की स्वर्णिम कल्पना बड़ी लुभावनी है। विचारक इस ओर सोचने भी लगे हैं। इसको मूर्त रूप देने के लिये संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना की गई, किन्तु आज पूरा विश्व विभिन्न गुटों में बँटा हुआ है। एक गुट दूसरे को निगल जाना चाहता है। इस परिस्थिति में एक विश्व-संस्कृति अथवा एक राज्य की कल्पना कैसे साकार हो सकती है ? द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद आज की दुनिया का सर्वाधिक प्रिय सिद्धान्त है, जिसकी इमारत विद्वेष, घृणा, क्रूरता और संघर्ष के पायों पर ही खड़ी है। सहिष्णुता और समन्वय के भारतीय सिद्धान्त की पृष्ठभूमि में गाँधी जी ने इस क्षेत्र में कुछ अपनी मान्यताएं स्थापित कीं; किन्तु उनके राजनीतिक अनुवर्तियों की उपेक्षा के कारण ये पनप न सकीं। भारतीय चार्वाक ने कहा था—

"त्रयो वेदस्य कर्तारो भण्ड-धूर्त-निशाचराः"

इस चार्वाक दर्शन के रचयिता देवगुरु बृहस्पति माने गये और उनका दर्शन भी भारतीय दर्शनों में परिगणित है। यह भारतीय सहिष्णुता इस विश्व के जनमानस में जब तक प्रतिष्ठित नहीं होगी, तब तक एक विश्व और एक संस्कृति की बात कोरी कल्पना ही साबित होगी। यदि विश्व को इस ओर आगे बढ़ना है, तो उसको एक न एक दिन गाँधीवाद की ही शरण में आना पड़ेगा।

गाँधी के अपने देश की राजनीति में आज वाम और दक्षिण का झगड़ा देखकर आश्चर्य होता है। वर्ग-संघर्ष पर आधारित साम्यवादी राजनीति के ये दो पहलू हैं। आज साम्यवादियों में भी अनेक वर्ग हो गये हैं। अधिक उग्र वर्ग अपने को वाम पक्ष में और दूसरे को दक्षिण पक्ष में रखकर प्रगतिशील और प्रतिगामी शब्दों का प्रयोग करते हैं। वाम और दक्षिण ने आज राजनीतिक गाली का रूप ले लिया है। इसके वे भी शिकार हो गये हैं, जिनको वर्ग-संघर्ष में विश्वास ही नहीं है। वर्ग-संघर्ष में विश्वास न रखने वाले दल और गाँधी जी की कांग्रेस का एक वर्ग भी आज अपने को वामपंथी घोषित करने में गौरव का अनुभव करते हैं। पाश्चात्य राजनीति के सामने यह भारतीय राजनीतिज्ञों का आत्मसमर्पण ही कहा जायगा। इसका कारण यही है कि बुद्ध और महावीर को तो हम देर से भूले, गाँधी को बहुत जल्दी भुला दिया गया। गाँधी जी के शरीर की हत्या तो एक अतिराष्ट्रवादी ने की, उनकी राजनीतिक और सांस्कृतिक हत्या उनके निजी अन्तरंग अनुयायियों ने ही की।

केवल राजनीति ही नहीं, अन्यान्य क्षेत्रों में भी भारतीय प्रतिभा पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान के आगे अपने स्वरूप को खो बैठी है। भारतीय साहित्यशास्त्र, ज्यौतिष, आयुर्वेद और दर्शन का विकास आज रुक गया है। आज की कविता की रचना और आलोचना पर पाश्चात्य समालोचनाशास्त्र की छाप गहरी होती जा रही है। ज्यौतिषशास्त्र आज पाश्चात्य पंचांगों और उपकरणों का सहारा ले रहा है। काशी के ही ख्यातनामा वैद्य एलोपैथी गोली के चूर्ण को आयुर्वेद का चमत्कार बताकर उसका गौरव बढ़ाने में लगे हैं! एक तरफ भारतीय दार्शनिक कहते हैं कि नवीन दर्शन का निर्माण ही नहीं हो सकता, दूसरी ओर लक्ष्यहीन पाश्चात्य दार्शनिक-पथ का अन्धानुकरण चल रहा है। हमारे कहने का यह अभिप्राय नहीं है कि पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान की उपेक्षा कर दी जाय। हमें संस्कृत विश्वविद्यालय के प्रतिष्ठापक स्वर्गीय सम्पूर्णानन्द जी के दर्शन परिषद् के उद्‌घाटन के अवसर पर कहे गये वे शब्द याद हैं कि ज्ञान और विज्ञान को देश और काल की सीमा में नहीं बाँधा जा सकता। इस संबन्ध में हमें वराहमिहिर के वचन से प्रेरणा लेनी है—

वृद्धा हि यवनास्तेषु सम्यक् शास्त्रमिदं स्थितम् ।
ऋषिवत् तेऽपि पूज्यन्ते...

किन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि अपनी मौलिक चिन्तन-धारा को ही हम विस्मृत कर दें।

भारतीय राष्ट्रीयता आज विघटन की ओर बढ़ रही है। देश में धर्म-निरपेक्ष जनतन्त्र प्रणाली का शासन है, किन्तु समाज धर्म, जाति, भाषा और प्रान्तीयता आदि की भाँति-भाँति की व्याधियों से ग्रस्त है। भारतीय राष्ट्रीयता और संस्कृति का न तो विकास हो रहा है और न इस ओर कोई ध्यान ही दे रहा है। जनतन्त्र में बहुमत का महत्त्व है। विभिन्न मतवादों के आधार पर संघटित राजनीतिक दल आज अपना बहुमत बनाने के चक्कर में एक राष्ट्रीयता अथवा एक संस्कृति के आधारभूत तत्त्वों की भी उपेक्षा करने में संकोच का अनुभव नहीं करते। इसी देश का एक अंग अब पाकिस्तान के नाम से इससे अलग होकर इस सम्पूर्ण राष्ट्र को नष्ट कर देने के लिए मुहम्मद गौरी के आक्रमणों से प्रेरणा ले रहा है। वहाँ के शासकों का यह दृढ़ विश्वास है कि भारत की विविधता तथा फूट के कारण कभी न कभी हम अवश्य पूरे देश पर शासन करने में समर्थ होंगे।

एक हजार वर्ष पूर्व का इस्लाम के अनुयायियों का इतिहास इनका प्रेरणास्रोत है। पाकिस्तान से सहानुभूति रखने वालों की संख्या यहाँ कम नहीं है। कुछ ऐसे भी दल हैं, जो रूस अथवा चीन से आदेश प्राप्त करते हैं। अंग्रेजी भाषा और संस्कृति एवं अंग्रेजियत के साथ अमेरिकन पद्धति का अनुकरण करने वालों का एक बड़ा वर्ग यहाँ अभी भी कार्यरत है। यह है आज देश की आशंकाओं से भरी भयावह परिस्थिति। विघटनकारी प्रवृत्तियाँ तीव्रता से कार्यरत हैं। आज की दूषित राजनीति में इसका समाधान नहीं मिल सकता। इसके लिए तो सांस्कृतिक धरातल पर ही आगे बढ़ा जा सकता है। प्रार्थना-सभा के माध्यम से सभी धर्मों में समन्वय-स्थापना के द्वारा इस मार्ग को महात्मा गाँधी ने उन्मुक्त-द्वार किया था। आज सच्चाई से इसीका सहारा लेने की जरूरत है। इसके लिए सबसे बड़ी आवश्यकता है— यहाँ के सभी धर्मों, वर्गों और सम्प्रदायों में सहिष्णुता की भावना के विकास की। महात्मा गाँधी ने जीवन भर इसके लिये अथक प्रयास किया, किन्तु तब पाश्चात्य राजनीति ने यह कार्य नहीं होने दिया और अब अवसरवादी राजनीतिज्ञ इसमें बाधक बने हैं।

संघर्ष, बिभीषिका, परस्पर अविश्वास और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की ओर तीव्रगति से बढ़ रहा यह विश्व तभी त्राण पा सकता है, जब "वसुधैव कुटुम्बकम्" और "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" का दिव्य संदेश विश्व को समर्पित किया जा सके। यह तभी हो सकता है, जब भारत इसको देने में समर्थ हो। दुनिया के सभी धर्म और संस्कृति के अनुयायी यहाँ बसते हैं। वे यदि शान्तिपूर्वक यहाँ रहना सीख जायँ, तो अनायास ही विश्व-संस्कृति की सर्जना का मार्ग खुल सकता है। इस पुण्य कार्य में महात्मा गाँधी का अवदान गतिशील प्रेरणास्रोत सिद्ध होगा।

४. महामनीषी कविराज जी

योगी अरविन्द के पूर्णयोग की भाँति महामनीषी कविराज जी ने अखण्ड महायोग की उद्भावना की है। महायोग का अर्थ है— अनन्त प्रकार के परस्पर असंश्लिष्ट और विक्षिप्त भावों की एकसूत्र में संयोजना एवं उनकी तादात्म्य रूप से प्रतिष्ठा। शिव के साथ शक्ति का योग, आत्मा के साथ परमात्मा का योग, एक आत्मा के साथ दूसरी आत्मा का योग, महाशक्ति के साथ आत्मा का योग, लोक और लोकोत्तर का परस्पर योग, लोकों के साथ लोकातीत का योग आदि सभी महायोग के अन्तर्गत हैं।

काल तात्त्विक दृष्टि से महाकाल और खण्डकाल में विभक्त है। महाकाल अखंड और निरन्तर सृष्टिशील है, तो खंडकाल अतीत, वर्तमान और अनागत रूप से त्रिधा विभक्त है। अनादि काल से यह काल का स्रोत चला आ रहा है, आलंकारिक भाषा में कहा जा सकता है कि विशाल काल-सरिता निरन्तर अनागत से प्रवाहित होकर वर्तमान का स्पर्श करती हुई अतीत के गह्वर में लीन हो जाती है। किन्तु ऐसी भी स्थिति है, जहाँ त्रिकाल नहीं। वहाँ एकमात्र नित्य वर्तमान[1] अखंड काल विराजमान रहता है। वहाँ सभी वस्तुएं नित्य प्रकाशमान रहती हैं। किसी का भी परिणाम नहीं होता। इस अखंड महाकाल में ऊपर बताये महायोग की स्थिति ही अखंड महायोग के नाम से अभिहित है।

---

१. "वर्तमानेन कालेन वर्तयन्ति विचक्षणाः" यह सुभाषित प्रसिद्ध है। "कालोभयापरिच्छिन्न वर्तमान" स्थिति में जीने का उपदेश अभिनवगुप्त और अद्वयवज्र दोनों समान रूप से देते हैं।

वर्तमान युग में बंगाल के प्रभु जगद्बन्धु, योगी अरविन्द, मेहर बाबा और पांडिचेरी की माँ किसी न किसी अंश में इस महायोग के उपासक रहे हैं। श्री अरविन्द का अतिमानस अवतरण इसी महायोग का एक अंश है। प्रभु जगद्बन्धु के 'चन्द्रपात' आदि ग्रन्थों में इसका आंशिक विवरण मिलता है। वस्तुतः अखंड महायोग की पूर्णता अमरत्व की प्राप्ति, निराकार प्रेम और अन्ततः साकार प्रेम-साधना में है।

इस योग में अन्ततोगत्वा जगत् का वैचित्र्य रहने पर भी भेद नहीं रहता। एक की प्राप्ति से सबकी प्राप्ति का नित्य संबन्ध बना रहता है। जगत् की वर्तमान स्थिति में यह नहीं है। एक की मुक्ति से सभी की मुक्ति, एक की प्राप्ति से सभी की प्राप्ति, चाहे पूर्ण रूप से, चाहे आंशिक रूप से, तभी हो सकती है, जब समष्टि या महासमष्टि की दृष्टि से समग्र जगत् में तादात्म्य प्रतिष्ठित हो।

अखंड महायोग की साधना में तात्त्विक दृष्टि से दो वस्तुओं की पूर्ण अपेक्षा है— एक तो मनुष्य का श्रेष्ठ प्रयत्न और दूसरा परमात्मा का परम अनुग्रह। मनुष्य के लिये चाहिये— पुरुषकार और एकीकरण। पुरुषकार द्वारा तत्त्वों का लय करना पड़ता है। यह सारा जगत् पृथ्वी से लेकर महामाया पर्यन्त विस्तृत है। प्रथम तत्त्व जितना व्यापक है, दूसरा तत्त्व उससे अधिक व्यापक है। इसी प्रकार अन्तिम तत्त्व सर्वाधिक व्यापक है। व्याप्य तत्त्व से व्यापक तत्त्व में उत्थान का एकमात्र उपाय है— कर्मगत कौशल। दूसरा तत्त्व प्राप्त होते ही उसके मंडल की अधिगति, प्राप्ति होती है। अन्तिम तत्त्व तक जाने पर समग्र विश्व उसके अधिकार में आ जाता है। इस प्रकार मनुष्य के श्रेष्ठ प्रयत्न, पुरुषकार के द्वारा साधक एकीकरण की प्रक्रिया को पूरी करता है।

योग-साधना की दूसरी धारा है— परमेश्वर की महाकरुणा के प्राप्त होने पर अपनी आश्रित सत्ता को अनुगृहीत करना। परमेश्वर की कृपा मनुष्य की कर्मगत या ज्ञानगत योग्यता से नहीं प्राप्त होती। कर्म का फल ऐश्वर्य है और ज्ञान का कैवल्य। ये दोनों महाकृपा के उद्बोधक नहीं हैं। गुरुकृपा का स्फुरण किसी जीव पर परमेश्वर की स्वातन्त्र्य शक्ति से होता है। इस कृपा का संचार होने पर मनुष्य में शिवत्व आ जाता है। उस समय वास्तविक दृष्टि से परमात्मा की क्रियाशक्ति काम करने लगती है। उसका पूर्ण विकास होने पर शिवत्व पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित हो जाता है।

कर्म और कृपा के समन्वय से ही योगी अखंड महायोग के मार्ग में आगे बढ़ता है।

अखण्ड महायोग का उद्देश्य है— गुरुकृपा के प्रभाव से काल की निवृत्ति। खंड रूप में यह अनादि काल से होती चली आ रही है, किन्तु उससे समग्र विश्व का सामूहिक कल्याण पूर्ण रूप से निष्पन्न नहीं होता । इसके लिये आवश्यक है कि मोक्षपथ की ओर आरोहण का कार्य समाप्त कर, महाशक्ति के साथ अपना तादात्म्य सिद्ध कर, स्वयं महाशक्ति से सम्पन्न होकर योगी महाप्रेम की साधना के लिये इसी संसार में अवतरण करे। इस अवतरण का उद्देश्य है— विशुद्ध प्रेम की साधना। महाकरुणा से प्रेरित होकर ही बुद्धदेव ने महाबोधि की प्राप्ति हो जाने पर भी निर्वाण में प्रवेश न कर सभी दुःखी प्राणियों के उद्धार का शिव संकल्प लिया था। महाप्रेमावस्था के सिद्ध हो जाने पर योगी महाप्रकाशमय हो जाता है। इसके बाद स्वातन्त्र्य शक्ति का उन्मीलन होता है और जगत् में महाप्रेम के पूर्ण विकास का मार्ग खुल जाता है। उस समय क्रमशः काल-राज्य गुरु-राज्य के अन्तर्गत आ जाता है। काल-संकर्षणी शक्ति की क्रिया पूर्ण हो जाने पर गुरु-राज्य की भी आवश्यकता नहीं रहती।

यही पूर्ण अद्वैत का स्वरूप है, ब्रह्मरूपी आत्मा का अपना स्वरूप है। वह अनन्त प्रकार से आनन्दमय लीला करता है, फिर भी लीलातीत नित्य साक्षी के रूप में प्रतिष्ठित रहता है। उस समय इस प्राकृत जगत् का कुछ भी नहीं रहता, फिर भी सब कुछ रहता है। इस महायोग को अखंड इसलिये कहा जाता है कि यह कभी खंडित नहीं होता। प्रत्येक वस्तु के साथ प्रत्येक वस्तु का अभेद प्रतिष्ठित होता है, फिर भी उसका अपना स्वरूप नष्ट नहीं होता।

इस अखंड महायोगी की सिद्धि का चरम लक्ष्य है— समग्र विश्व के सामूहिक कल्याण के लिये व्यष्टिरूपेण योगविशेष के द्वारा अमरत्व-प्राप्ति के उपरान्त समष्टि या महासमष्टि की दृष्टि से सारे जगत् में तादात्म्य प्रतिष्ठित कर क्रमशः निराकार और साकार प्रेम के उन्मेष के माध्यम से जगत् के सर्वविध दुःखों के प्रहाण के साथ अखंड आनन्द के आलोक की उद्भावना।

श्रद्धेय कविराज जी के इस आध्यात्मिक अखंड महायोग को आधिभौतिक स्थूल दृष्टि से अखंड संस्कृति के माध्यम से कुछ समझा जा सकता है। आधुनिक जगत् स्वत्व के संकोच के कारण दुःखी है। यह स्वत्व धर्म, राष्ट्र, राज्य, भाषा, जाति, कुटुम्ब, कबीले आदि के नाना विभ्रमों में पड़ कर बँटा हुआ है। अखंड संस्कृति के माध्यम से इन विभ्रमों को तोड़ पाने के उपरान्त ही अखंड स्वत्व का बोध संभव हो सकता है। सहिष्णुता और समन्वय भारत के सांस्कृतिक इतिहास की विशेषता रही है। यह प्रक्रिया अब भी निरन्तर गतिशील है। त्याग और तपस्या के उच्च आदर्शों से अनुप्राणित साधु-सन्तों की परम्परा परस्पर के स्थूल भेदों को मिटाने में निरन्तर सचेष्ट रही है। महात्मा गाँधी, योगी अरविन्द आदि महामानव इसी परम्परा की अलख जगाते रहे हैं। इन्होंने आधुनिक विश्व के वर्तमान धर्मों और विभिन्न वादों के विरोधी दृष्टिकोणों में सहिष्णुतापूर्वक समन्वय स्थापित कर अखंड संस्कृति के निर्माण का मार्ग प्रशस्त किया है, जिससे विश्वसमष्टि में इस अखंड संस्कृति के आविर्भाव से स्वत्व का संकोच दूर हो। जहाँ प्रत्येक वस्तु के साथ प्रत्येक वस्तु के अभेद की प्रतिष्ठा हो जाने पर भी अपने स्वरूप के नष्ट होने का कोई प्रसंग नहीं है, वहाँ विश्व के किसी भी वाद, धर्म या संस्कृति के स्वत्व के लोप का भय क्यों रहेगा ?

अखंड महायोग के स्थूल व्यापार की इतिकर्तव्यता इस अखंड संस्कृति के माध्यम से व्यष्टि एवं समष्टि में स्वत्व का विस्तार कर, उसमें विश्व के प्रति भ्रातृभाव का उन्मीलन कर समाप्त होती है। इस प्रकार यहाँ स्वत्व का विस्तार होता है, लोप नहीं। अखंड महायोगी के आध्यात्मिक स्थूल चिन्तन में यह स्थूल व्यापार भी निरन्तर जुड़ा रहता है, जिससे दुःख-व्याधि ग्रस्त यह सारा विश्व अपने स्थूल रूप में भी शान्ति और प्रेम के आलोक से आलोकित हो सके।

४. आचार्य नरेन्द्रदेव

प्रोफेसर मुकुटबिहारीलाल प्राच्य और पाश्चात्य राजनीतिशास्त्र के माने हुए विद्वान् और प्रसिद्ध समाजवादी राजनेता थे। वे स्व. आचार्य नरेन्द्रदेव के अन्तरंग सहयोगी रहे हैं। उन्होंने अपने कुछ निबन्धों और ग्रन्थों में समाजवाद की पृष्ठभूमि में आचार्य नरेन्द्रदेव और भारतीय संस्कृति का मूल्यांकन किया है। आचार्य जी ने अपने जीवनकाल में भारतीय संस्कृति और दार्शनिक विचारधारा

के साथ समाजवाद को समरस करने का महनीय प्रयास किया था। यद्यपि समाजवाद आज आम चर्चा का विषय बन गया है, किन्तु यह आन्दोलन भारतीय संस्कृति से दूर होता जा रहा है। अतः यह आवश्यक है कि भारतीय संस्कृति के इस सर्वजनीन स्वरूप का प्रायः उन्हीं के शब्दों में पुनरवलोकन किया जाय।

आचार्य जी ने भारतीय संस्कृति और दर्शन के विश्वजनीन सिद्धान्तों और दीर्घकालीन मूल्यों का न केवल गहन चिन्तन-मनन ही किया था, बल्कि उन्हें अपने जीवन में आत्मसात् करने की भरसक चेष्टा भी की थी।

आचार्य जी दो युगों के संक्रमणकाल के विचारक थे। इस काल के बहुत से विचारकों के विचार भी बहुत हद तक संक्रमणात्मक हो जाते हैं, बदलती दुनिया के साथ बदलते रहते हैं। कभी इस बात का समर्थन करते हैं, तो कभी दूसरी का। एक विषय में प्रगतिशील रहते हैं, तो दूसरे विषय में प्रतिक्रियावादी। इनमें से कोई भी बात आचार्य जी पर लागू नहीं होती। उन्होंने बहुत सोच कर नवीन और प्राचीन में समन्वय स्थापित कर उनको अपनाया, पर बदलती दुनिया को अपने ज्ञान पर हावी नहीं होने दिया।

मानव नरेन्द्रदेव सबको प्रिय थे। उनके विरोधी भी उनके व्यक्तिगत व्यवहार के प्रशंसक थे। आचार्य जी मानव व्यक्तित्व का आदर करते, हर एक में मानव का दर्शन करते, छोटे से छोटे माने जाने वाले व्यक्ति से भी मानवोचित ढंग से मिलते थे, जो जितना छोटा माना जाता था, उससे उतना ही अधिक स्नेह करते थे।

आचार्य नरेन्द्रदेव संस्कृत वाङ्मय की व्यापकता, गरिमा और गांभीर्य के प्रशंसक थे और भारतीय नवयुवकों के लिये उसका समुचित अध्ययन आवश्यक समझते थे। इनका विचार था कि इस युग में सर्वधर्म-समन्वय के द्वारा सांप्रदायिकता का समाधान होना असंभव है। वे जीवनोत्कर्ष और सामाजिक विकास के लिए धर्मनिरपेक्ष संस्कृति और नैतिकता का विकास आवश्यक मानते थे।

आचार्य जी के द्वारा प्रस्तुत की गई भारतीय संस्कृति की परिभाषा की चर्चा हम इस ग्रन्थ के प्रारंभ में ही कर चुके हैं। उनका इस प्रसंग में कहना है कि आज का हिन्दुसमाज चार वर्णों के बजाय सैकड़ों जातियों तथा उपजातियों में विभाजित है। इन जातियों-उपजातियों को चार वर्णों या समूहों में विभाजित कर चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था के आधार पर इस समाज का पुनः संघटन राजनीतिक शक्ति की क्षमता के बाहर है। वर्तमान परिस्थिति में यह और भी असंभव है, क्योंकि यहाँ पर अब हिन्दुसमाज के अतिरिक्त बौद्ध, जैन, सिक्ख, पारसी, मुसलमान, ईसाई और यहूदी भी बसते हैं। इसके लिये तो हमें जातिवाद और सम्प्रदायवाद के बजाय लोकतान्त्रिक नागरिकता और देशबन्धुत्व की भावना से सारी भारतीय जनता को अनुप्राणित करना होगा। महात्मा गाँधी ने ठीक ही कहा है कि देशबन्धुत्व की भावना को आत्मसात् किये बिना विश्वबन्धुत्व की उपलब्धि असंभव है। देशबन्धुत्व और समता पर आश्रित राष्ट्रीयता ही भारतीय गणतन्त्र को संघबद्ध तथा सबल कर सकती है, विभिन्न जातियों-उपजातियों और संप्रदायों से संबद्ध सज्जनों में सौजन्य की वृद्धि कर सकती है तथा विश्वबन्धुत्व का मार्ग प्रशस्त कर सकती है।

अपने को शान्तिप्रिय या शान्ति का अग्रदूत और दूसरों को युद्ध का पोषक बताना ठीक नहीं होगा। दूसरे देशों के विद्वान् भी विश्वसंघ और विश्वराज्य की कल्पना के माध्यम से इस ओर अग्रसर हैं। भारत इन सबकी उपेक्षा नहीं कर सकता। भारतीय विद्वानों का यह कर्तव्य है कि वे नवीन सिद्धान्तों और प्रयोगों का अध्ययन करें और अपनी परिस्थितियों और आवश्यकता के अनुसार इन सिद्धान्तों तथा व्यवस्थाओं के प्रगतिशील सजीव तत्त्वों को सहर्ष स्वीकार करें। भारतीय राष्ट्र को युगानुरूप बनाने के लिये यह नितान्त आवश्यक है। समता पर आधारित संस्कृति ही श्रेष्ठ मानी जा सकती है। तभी विश्वबन्धुत्व, मानवता और विश्वकल्याण की भावना को बढ़ावा मिल सकता है। निराग्रही समीक्षा तथा सर्जनात्मक समन्वय के द्वारा ही यह संभव है। विचार-वैचित्र्य से घबराने की कोई बात नहीं है। विचार-स्वातन्त्र्य चिरकाल से भारतीय संस्कृति का सद्गुण रहा है। भारतीय संस्कृति के विकास में विचार-स्वातन्त्र्य और विचार-विमर्श का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है और इनके द्वारा ही इस समय भी जड़ता और संकीर्णता का परित्याग तथा सर्जनात्मक चिन्तन हमारे लिये संभव हो सकते हैं।

ऊपर संस्कृति की जो व्याख्या की गई है, वह सभी संस्कृतियों से अधिक सर्वजनीन होने का दावा कर सकती है। वह मानव के द्वारा मानव के, राष्ट्र के द्वारा राष्ट्र के शोषण का विरोध करती है तथा पूर्ण स्वतन्त्रता के सन्दर्भ में विश्वबन्धुत्व का समर्थन करती है। वह एक ऐसे स्वतन्त्र संसार की रचना करना चाहती है, जिसमें सब मनुष्य आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक दासता से मुक्त हों, जिसमें सब मनुष्यों को मौलिक मानव अधिकार प्राप्त हों तथा सबको स्वतन्त्रता और संमान के साथ अपने आर्थिक अभ्युदय और सांस्कृतिक उन्नति की सुविधा प्राप्त हो, जिसमें प्रत्येक राष्ट्र को बराबर की जनतान्त्रिक आजादी हासिल हो, सब अन्तरराष्ट्रीय झगड़े शान्तिमय ढंग से निपटाये जा सकें और सब राष्ट्र पारस्परिक सहयोग के जरिये मानव-कल्याण में वृद्धि करें।

यह जनतान्त्रिक समाजवादी संस्कृति मानव-चेतना, मानव-भ्रातृत्व, मानव-अभ्युत्थान, मानव-व्यक्तित्व और मानव-श्रम का आदर करती है तथा राष्ट्रीयता, स्वतन्त्रता और अन्तरराष्ट्रीय शान्ति, सामाजिक न्याय और विश्वहित, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और स्वतन्त्र जनतान्त्रिक सहयोग, मानव-समाज की उन्नति और व्यक्तित्व का गठन, सार्वजनिक सेवा तथा उत्तरदायित्व की भावना, विश्वास की दृढ़ता और हर परिस्थिति में सामाजिक कुरीतियों का विरोध आदि जीवन के सर्वजनीन मूल्यों का समर्थन करती है।

समाजवादी संस्कृति जातिव्यवस्था और जातिगत अधिकारों को ठीक नहीं समझती। ऊँच-नीच, छूतछात के सिद्धान्तों, नियमों तथा प्रथाओं का वह विरोध करती है। एकान्त में मनन और तपस्या के द्वारा आत्मसिद्धि के सिद्धान्त को वह ठीक नहीं समझती। उसकी निश्चित धारणा है कि प्राचीन संस्कृति के पुनर्जीवन का आन्दोलन देश की समस्याओं को सुलझा नहीं सकता। ऊँच-नीच तथा छूतछात की भावना का त्याग हिन्दु समाज के स्वास्थ्य के लिए भी परम आवश्यक है। समत्व की भावना ही सामाजिक विषमताओं को दूर कर सकेती है, समाज के विभिन्न तत्त्वों में सामंजस्य और सौहार्द पैदा कर सकती है, समाज को स्वस्थ और सबल बना सकती है।

वस्तुतः समाजवादी संस्कृति भारतीय संस्कृति के सर्वजनीन सिद्धान्तों से समरस है। अहंकार, लोभ और अन्याय का परित्याग, समता की सिद्धि, निष्काम भावना, लोकहित की वृद्धि, कर्तव्य-परायणता, विनय, करुणा और शील प्राचीन भारतीय संस्कृति के दीर्घकालीन सर्वजनीन तत्त्व हैं। समाजवाद इन सब सिद्धान्तों का समर्थन करता है। वह स्वीकार करता है कि निष्काम लोकहित ही समता की सिद्धि का सुगम मार्ग है। समाजवाद की यह भी धारणा है कि समता की नींव पर आधारित समाजवादी व्यवस्था और संस्कृति में ही इन सर्वजनीन मानवीय मूल्यों का पूर्ण विकास और जनसाधारण के लिये उनकी उपलब्धि संभव है। सामन्तवादी और पूँजीवादी प्रथा में थोड़े से साधु-सन्त ही दूषित परिस्थितियों के कुप्रभाव से अपने को बचा कर इन सर्वजनीन मूल्यों को अपने जीवन में सिद्ध कर सकते हैं।

राष्ट्रीयता, अन्तरराष्ट्रीयता, लोकतन्त्र और समाजवाद इस युग की मुख्य मान्यताएं हैं। इन्हें अपनाना, भारतीय संस्कृति में इनका समावेश करना नितान्त आवश्यक है। इस तरह समाजवाद भारतीय संस्कृति के दीर्घकालीन, सर्वजनीन, सजीव मूल्यों तथा तत्त्वों का पाश्चात्य संस्कृति के सजीव, प्रगतिशील तत्त्वों तथा वैज्ञानिक उपलब्धियों में समन्वय स्थापित करता है। आचार्य नरेन्द्रदेव के शब्दों में समाजवाद पर आस्था रखने वाले विचारक एक ऐसी नई संस्कृति का निर्माण करना चाहते हैं, जिसका मूल प्राचीन सभ्यता में होगा, जिसका रूप-रंग देशी होगा, जिसमें पुरातन सभ्यता के उत्कृष्ट अंग सुरक्षित रहेंगे और साथ-साथ इसमें ऐसे नवीन अंशों का भी समावेश होगा, जो आज जगत् में प्रगतिशील हैं और संसार के सामने एक नवीन आदर्श उपस्थित करना चाहते हैं।

●

सांस्कृतिक पुनर्जागरण

सुधारवादी आन्दोलन की कुछ विसंगतियों को दूर करने के लिए सांस्कृतिक जागरण और सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की अपेक्षा है। उसीको अब यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। हमारा निश्चित मत है कि अयोध्या के राममन्दिर का मसला धर्म से न जुड़कर संस्कृति से संबद्ध है। सांस्कृतिक पुनर्जागरण की यह एक प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया तब तक पूरी नहीं होगी, जब तक मध्यकालीन बर्बर आक्रान्ताओं के द्वारा किये गये दुनिया के सभी धार्मिक स्थल अपने पूर्व रूप में नहीं आ जाते, उन अतिक्रमणों को हटा नहीं दिया जाता। इसमें मस्जिदों को नष्ट करने का कोई प्रसंग नहीं है। यह तो तब उठता, जब स्वतन्त्र रूप से बनाई गयी किसी मस्जिद को क्षति पहुँचाई जाती। भारत की अधिसंख्य प्रजा का ऐसा कोई संकल्प नहीं है, क्योंकि उसमें हजारों वर्षों से सर्वधर्म-समादर की भावना भरी गई है। इधर जो अन्यथा देखा जा रहा है, वह सब इस्लाम के कुप्रभाव के हावी हो जाने की वजह से है।

भारत में भावात्मक एकता की स्थापना के लिये ढेर सारे लोगों की एकता परिषद् बनाई गई है, किन्तु इसका कार्य सर्वधर्म-समादर की स्थापना के स्थान पर पूरे देश को धर्मविहीन बनाने का हो रहा है। धर्म को अफीम मानने वालों की इसमें बहुतायत है। रूस की परिणति को देखने के बाद भी इनकी आँखें नहीं खुली हैं और न ये भारतीय धर्म के सही स्वरूप को ही समझ पाये हैं, जो भारतीय संस्कृति में स्वीकृत चार पुरुषार्थों में से एक है। यहाँ धर्म को ही बाकी तीन पुरुषार्थों का प्रधान आधार माना गया है। इसके अभाव में आज का धर्मनिरपेक्ष भारतीय समाज अर्थ और काम की अन्धी दौड़ में सारी दुनियां से बाजी मार लेने में लगा हुआ है। इसकी नई बुनियाद जो अर्थ के आधार पर डाली गयी है। इस एकता परिषद् का हश्र उस जंगली जानवर के जैसा होकर रह गया है, जो बस्तियों से बहुत दूर नहीं रहता और एक के बोलने पर एक साथ चारों तरफ से एक-सी आवाजें निकालने पर जुट जाता है। केवल एकता परिषद् का ही नहीं, अंग्रेजी पत्रकारिता का भी दुर्भाग्य इसके साथ जुट गया है। कम्युनिस्टों का तो भारतीय संस्कृति से भी कुछ लेना-देना है ही नहीं। वाराणसी की एक गोष्ठी में ऐसे ही एक महानुभाव भारतीय संस्कृति और सभ्यता की उम्र मात्र १००-१५० वर्ष आँक सके थे। शायद उनकी दृष्टि में भगवाकरण का भूत काम कर रहा था।

यह तथाकथित एकता परिषद् कुछ लोगों को भुलावे में अवश्य डाल सकती है, किन्तु यह अपने मूल उद्देश्य, भावात्मक एकता को कभी प्राप्त नहीं कर सकती। अंग्रेजों के जाने के साथ अंग्रेजियत को हटाने का प्रयास किया गया, किन्तु वह दिन-दूनी, रात-चौगुनी गति से यहाँ पनपती जा रही है।

भारतरत्न डॉ. भगवान्दास, आचार्य नरेन्द्रदेव, राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन, मनीषिप्रवर डॉ. सम्पूर्णानन्द, पद्मविभूषण प्रो. राजाराम शास्त्री जैसे भारतीय संस्कृति के पोषकों का नेतृत्व समाप्त हो गया है और अब युवातुर्कों का सर्वत्र बोलबाला है, जो अब्दुल्ला बुखारी जैसे अराष्ट्रीय अल्पसंख्यक नेतृत्व को बढ़ावा दे रहे हैं।

पाकिस्तानी छद्मनीति की यह विशेषता रही है कि वह शरारत तो अपनी तरफ से शुरू करती है, किन्तु सारी दुनिया में यह प्रचारित करने में सफल हो जाती है कि भारत हमारे खिलाफ बेवजह गलत कदम उठा रहा है। ठीक इसी तरह का आचरण इन तथाकथित अल्पसंख्यक नेताओं का भी है। सारे राजनीतिक दल ऐसे ही लोगों को आगे बढ़ा रहे हैं और राष्ट्रीय विचारों के वाहक अल्पसंख्यक नेताओं को पूछने वाला कोई नहीं है। तुर्रा यह है कि "उल्टा चोर कोतवाल को डाँटे" वाली कहावत को चरितार्थ करते हुए ये सब तथाकथित नेतागण राष्ट्रीय विचारों के अग्रदूतों को ही भारत में विद्यमान सारे अनर्थों की जड़ सिद्ध करने में सफल हो जाते हैं। राजनीतिक दलों के अतिरिक्त विदेशी पत्रकार भी इन्हींका साथ दे रहे हैं। अंग्रेजों के छल-छद्म से भरे आचरण ने देश का विभाजन करा दिया। अब अंग्रेजियत के दासों की करतूतों से देश पुनः अनेक टुकड़ों में बँट सकता है। आश्चर्य यह है कि पाकिस्तानी प्रचार के समक्ष इनका लक्ष्य वे हो गये हैं, जो जी-जान से भारत राष्ट्र की एकता के पोषक हैं।

एक हजार वर्षों से साथ रहते हुए भी हम अल्पसंख्यकों को सहिष्णुता का पाठ नहीं पढ़ा सके, मुल्ला-मौलबियों और इमामों के फतवों से इनको छुड़ा नहीं पाये। इनके उद्धार की अपेक्षा है, इनसे सीधे सम्पर्क साधना जरूरी है। अल्पसंख्यक नेतृवृन्द अपने भूतकालीन शासकीय स्वरूप को और उनके प्रतीक स्थान-स्थान पर किये गये अतिक्रमणों को सामने रखकर अल्पसंख्यकों को डराने में लगा रहता है। बहुसंख्यकों के त्यौहारों के अवसर पर अशान्ति पैदा करके वह इस मनोवृत्ति को सदा-सदा के लिए जिलाये रखना चाहता है। एकता परिषद् को इस मूल समस्या पर विचार करना चाहिये था, किन्तु ये अल्पसंख्यक अनुदार नेतृवृन्द को छेड़ने से कतराते हैं और इनका सारा उपदेश बहुसंख्यकों तक ही सिमट कर रह जाता है। क्या ऐसी बुजदिल एकता परिषद् भारत में कभी भावात्मक एकता को स्थापित करने में समर्थ हो सकेगी ?

भारत की स्वतन्त्रता के बाद सरदार पटेल का सारा प्रयत्न इस राष्ट्र को जोड़ने में लगा था। इसके विपरीत, श्री लालबहादुर शास्त्री को छोड़, पं. नेहरु की और उनके अन्य उत्तराधिकारियों की प्रवृत्ति जाने-अनजाने इस देश को नैतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से भी दुर्बल करती रही है। इसीका परिणाम कश्मीर और तिब्बत की समस्या और राष्ट्र के चारित्रिक ह्रास के रूप में हमारे सामने आया है। यही कारण है कि वर्षों बीत जाने के बाद भी एक राष्ट्र, एक भाषा और एक संस्कृति की प्रतिष्ठा आज तक हम नहीं कर पाये हैं। आज देश की नियति नेहरु-मनोवृत्ति के नेताओं के हाथ में है। इनसे छुटकारा पाये बिना इस देश में सांस्कृतिक और भावात्मक एकता स्थापित नहीं हो सकती।

अभी प्रकाशित हुए हमारे ग्रन्थ "निगमागम संस्कृति" के संस्कृत-संस्कृति खण्ड (पृ. १९७-२५६) में सांस्कृतिक पुनर्जागरण के लिए अपेक्षित तत्त्वों के स्वरूप पर विचार किया है। उनको हम कुछ परिवर्तनों के साथ संक्षेप में इस प्रकार रख सकते हैं—

१. इस्लामिक संस्कृति और पाश्चात्य विचारों की पृष्ठभूमि में वेदों के और केवल शांकर वेदान्त के आधार पर किये गये अनुशीलन ने भारतीय संस्कृति में अनेक विकृतियों को जन्म दे दिया है। इसके स्थान पर एक हजार वर्ष पहले के कश्मीरी आचार्य अभिनवगुप्त द्वारा प्रतिष्ठापित प्रत्यभिज्ञादर्शन, संस्कृति और तत्त्वज्ञान से पूरे भारतीय समाज को जोड़ा जाना चाहिये।

२. दक्षिण के वैष्णव और शैव सन्तों का, उत्तरभारत के सिद्धों और नाथों के साथ पूरी सन्त-परम्परा और सिक्ख-गुरुओं की परम्परा का, साथ ही सूफी सन्तों की परम्परा का भी प्रेरणास्रोत सन्त तुलसीदास के द्वारा उद्धृत नाना पुराण-निगमागम साहित्य रहा है। इन सारी परम्पराओं को समान रूप से सम्मान मिलना चाहिये।

३. इसी पृष्ठभूमि में अवतरित महात्मा गाँधी और बाबा साहब अंबेडकर को भी पूरा सम्मान दिया जाना चाहिये। इस्लाम का मूर्तिभंजक स्वरूप भारतीय संस्कृति के नवनिर्माण में सहायक नहीं हो सकता।

४. वैदिक, जैन, बौद्ध, शैव, वैष्णव आदि प्राचीन मत-मतान्तर और आधुनिक अनेक पन्थ इसी धरती की उपज हैं। इन सबके अनुयायी यहाँ सुख-शान्ति से रहते आये हैं। लगभग १३०० वर्षों से यहाँ शान्तिपूर्वक रहते हुए पारसियों ने एक कीर्तिमान स्थापित किया है। भारतीय मुसलमानों और ईसाईयों को भी इन्हींका अनुसरण करना चाहिये।

५. नेपाल के समान भारत में भी धर्म-परिवर्तन की प्रक्रिया पर पूरा प्रतिबन्ध लगाया जाना चाहिये।

६. अल्पसंख्यकों की असहिष्णुता और संकीर्णता के परिहार के लिये उनसे सीधा संपर्क साधा जाय। इनमें सहिष्णुता के पनपने पर ही पूरा भारतीय समाज भयमुक्त हो सकेगा, उनमें परस्पर भावात्मक एकता स्थापित हो सकेगी।

७. जेल से छूटने के बाद सन् १९४२ के स्वतन्त्रता-संग्राम में जो कुछ गलत-सही हुआ, उन सबका समर्थन कांग्रेसी नेताओं ने किया था। बाबरी ढाँचे के सिलसिले में भी उसी दृष्टि का पालन होना चाहिये। अंग्रेजों के साथ अंग्रेजी पत्रकारिता ने भी इस देश की संस्कृति के साथ बहुत खिलवाड़ किया है। ऐसे व्यक्तियों को भी शिक्षा तो मिलनी ही चाहिये, जो राष्ट्ररक्षक के छद्मवेश में पूरे राष्ट्र और उसकी संस्कृति के साथ जाने-अनजाने द्रोह कर रहे हैं।

८. भारतीय पत्रकारिता बात-बात पर घाव लग जाने और उस पर मरहम लगाने की रट लगाने लगी है। इससे समस्याएं और उलझ जाती हैं। इससे यदि वह विरत हो सके, तो देश का बहुत कल्याण होगा, भावात्मक एकता के स्थापित होने में सहायता मिल सकेगी।

९. अखबार वालों ने अपने लिए 'मीडिया' शब्द चुना है। यह उनकी मानसिक दासता का सूचक है। मीडिया का यह सोच राष्ट्रद्रोह से कम नहीं है कि सारा मुस्लिम मतदाता फतवे के आधार पर किसी एक पार्टी के पीछे खड़ा होगा। ऐसी सोच जनतन्त्र की भावना के भी विपरीत है। बुखारी जैसे भेड़ियों से मुस्लिम मतदाता को मुक्ति दिलाने का उपाय सुझाना इस मीडिया नामधारी जीव के वश की बात नहीं है।

१०. किसी पत्र के स्तंभलेखक महोदय अपने लेखों में "यह देश दो हजार वर्ष तक परतन्त्र रहा" इस बात का उल्लेख बार-बार करते रहते हैं। उनकी यह बात हमारी समझ के बाहर है। हम तो इतना जानते हैं कि राजनीतिक दृष्टि से यह देश एक हजार वर्ष तक अवश्य परतन्त्र रहा, किन्तु उस समय भी सांस्कृतिक दृष्टि से यह उतना पराजित नहीं हुआ था, जितना महात्मा गाँधी की मृत्यु के बाद इधर के कुछ वर्षों में अंग्रेजियत और पाश्चात्य चकाचौंध से प्रभावित हुआ है। आज हम बहुसंख्यकों को बरगलाने के लिये तो भारतीय संस्कृति के उत्कृष्ट आदर्शों का उद्घोष करते हैं, किन्तु अल्पसंख्यक किस रास्ते पर चले जा रहे हैं, इसकी हमें कोई चिन्ता नहीं है।

११. भारतीय विचारक, यदि वह अल्पसंख्य वर्ग का है, तो मुल्ला-मौलवियों और इमामों के आतंक के कारण और यदि बहुसंख्यक वर्ग का है, तो प्रतिगामी, बुर्जुआ कहलाने के भय से सही बात कहने-सुनने से कतराता रहता है। प्रगतिशील कहलाने के व्यामोह को वह छोड़ नहीं पाता। हमने बहुत पहले लिखा था कि [१]भारतीयकरण की प्रक्रिया से साधारण व्यक्ति से लेकर इन्दिरा गाँधी तक को गुजरना होगा। अब हम इतना और जोड़ना चाहते हैं कि इस प्रक्रिया से किसी भी पत्र के साधारण संवाददाता से लेकर सुप्रीम कोर्ट के मुख्य न्यायाधीश तक को गुजरना होगा।

१२. अल्पसंख्यक समुदाय के संकीर्ण मनोवृत्ति के नेताओं को पाकिस्तान, बंगलादेश अथवा उनकी इच्छा के अनुसार अन्य किसी भी देश में भेजा जा सकता है। कुछ कम्युनिस्ट महानुभावों को भी रूस अथवा चीन में से उनकी इच्छा के अनुसार किसी भी देश में भेजा जा सकता है, किन्तु आज की भारतीय न्यायपालिका में क्या इतना आत्मबल और राष्ट्रीयता है कि वह इसराइल की न्यायपालिका का अनुसरण कर सके। वस्तुतः इस देश की वर्तमान कार्यपालिका और न्यायपालिका राष्ट्रदाद की स्थापना करने में असमर्थ है। यह कार्य तो भारतीय जनता को ही करना होगा।

१३. पूरे विश्व को यह समझाया जाना चाहिये कि इस्लाम आज भी इस दुनिया का एक अति-असहिष्णु धर्म है। बन्दरघुड़की देने में यह सबसे आगे है। कम्युनिस्टों की भी प्रायः ऐसी ही स्थिति है। समय रहते इनको नियन्त्रित करना होगा। साथ ही दुनिया के सामने इस बात को भी स्पष्ट कर देना होगा कि यहाँ किसी मस्जिद को नहीं ढहाया गया है। केवल मध्यकालीन बर्बर आक्रान्ताओं के द्वारा किये गये अतिक्रमणों को ही हटाया जा रहा है। यह भी इसलिये कि इसके बिना देश में एक राष्ट्रीयता की, भावात्मक एकता की स्थापना हो ही नहीं सकती।

●

---

१. आगम और तन्त्रशास्त्र, पृ. १४९-१५५ द्रष्टव्य।

सांस्कृतिक राष्ट्रवाद

गुजरात के चुनाव-परिणामों ने "सांस्कृतिक राष्ट्रवाद" यह एक अच्छा शब्द दिया है। इसको हिन्दुत्व का पर्यायवाची मान कर इसका विरोध भी होने लगा है। राष्ट्रवाद के विरोधी इस कार्य को करें, यह तो स्वाभाविक ही है, किन्तु ये हिन्दुत्व के समर्थकों को भी यह समझाने में असफल होते-से लग रहे हैं कि सांस्कृतिक राष्ट्रवाद हिन्दुत्व का ही पर्यायवाची शब्द है और वे इन विरोधियों के आगे आतंकित से लगते हैं। हमें ऐसा लग रहा है कि राष्ट्रीयता का प्रतीक यह शब्द असमय में ही काल के गाल में न समा जाय। हिंसक आतंकवाद तो अर्धविक्षिप्त दुराग्रही मानवों की देन हो सकती है, किन्तु इस बौद्धिक आतंकवाद को फैलाने वाले कौन हैं ? मानवतावाद के नाम पर कश्मीर के समान गुजरात में भी अब यह अपना काम करने लगा है।

'सम्प्रदाय' जैसे प्राचीन शब्द के साथ आजकल का 'सेक्युलर' शब्द भी यहाँ अपने सही अर्थ को खो चुका है। एक सेक्युलर शब्द की धर्म-निरपेक्ष, सम्प्रदाय-निरपेक्ष, पन्थ-निरपेक्ष, बिन-सम्प्रदाय जैसे दो शब्दों में अनुवाद कर हम अपने बौद्धिक अवसाद को ही प्रकट कर रहे हैं और आपस में गाली-गलौच के रूप में इनका प्रयोग कर रहे हैं। जो व्यक्ति आज की दुनिया के विभाजक विचारों से जुड़े हुए हैं, वे अपने को 'सेक्युलर' और चिरकाल से जो विचारधारा समन्वय-प्रधान संस्कृति में विश्वास करती है, उसको साम्प्रदायिक कहा जाता है। हिन्दुत्व के अभिमानी 'छद्म' शब्द जोड़ कर इस सांस्कृतिक युद्ध को जीतने के लिये ताल ठोक रहे हैं।

'हिन्दु' शब्द हमारा अपना नहीं है। एक हजार वर्ष पहले के भारतीय शास्त्रों में इसकी कहीं कोई चर्चा नहीं मिलती। यह शब्द हमें तोहफे में मिला है और इस उपहार को जब से हमने गले लगाया है, तब से दुनिया के इतिहास में पराजित जाति के रूप में ही अपना नाम दर्ज कराया है। इतिहासकारों ने इस शब्द की इतनी छीछालेदर कर दी है कि इसमें जैनों, बौद्धों, सिक्खों जैसे वर्गों का हम समावेश नहीं कर सकते, जबकि हिन्द और हिन्दु शब्द की मूल मंशा के अनुसार तो यहाँ की रहने वाली पूरी भारतीय प्रजा के लिये इस शब्द का प्रयोग होना चाहिये था। इसके विपरीत आज मुसलमान शब्द के साथ मिलकर यह शब्द पुराने जमाने के 'श्रमण-ब्राह्मणम्' शब्द की याद दिलाता है, जिसके कारण यह कहा गया कि भगवान् बुद्ध के द्वारा उपदिष्ट अहिंसा उसी तरह से अग्राह्य है, जैसे चमड़े की बनी कुप्पी में रखा हुआ घी। आज हिन्दुत्व के प्रति आक्रोश प्रकट करने वालों की मानसिकता क्या इससे भिन्न है ?

आजकल पासपोर्ट में व्यक्ति की केवल राष्ट्रीयता अंकित रहती है, उसके धर्म, जाति आदि की इसमें कोई चर्चा नहीं रहती। उसी तरह से जनगणना आदि में भी होना चाहिये। इस भारत देश में रहने वाली सारी प्रजा भारतीय है, सांस्कृतिक धरातल पर इन सबमें भारतीयता की भावना का, भावात्मक एकता का संचार होने पर ही यहाँ सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की स्थापना हो सकती है।

गंगा-जमुनी संस्कृति से यह कार्य नहीं हो सकता। प्रयागराज में गंगा और यमुना का प्रवाह कुछ दूर तक जरूर अलग-अलग रंग का लगता है, किन्तु अन्ततः इनकी धाराएँ एकरस हो जाती हैं। वाराणसी में यह गंगा ही कहलाती है। आगे भी इसमें नाना नद-नदियाँ मिलती हैं और अन्ततः यह स्वयं भी सागर में विलीन हो जाती है। तब भी गंगासागर के रूप में वह अपना नाम नहीं छोड़ती। भारतीय संस्कृति की भी यही स्थिति है। गंगा में जैसे नाना नद-नदियों का जल मिलकर एकाकार हो जाता है, उसी तरह इस भारतीय संस्कृति में वैदिक, जैन, बौद्ध, आगमिक, पौराणिक और सन्तों की साहित्य-धारा का ही नहीं, सूफियों और ईसाई-सन्तों की वाणियों का भी विगत एक हजार वर्षों में पर्याप्त संमिश्रण हुआ है। हम इन सबके उत्कृष्ट अवदानों को ग्रहण कर इस देश में सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की स्थापना कर सकते हैं।

भारत में तो धर्मों में भी परस्पर सामंजस्य स्थापित करने का स्तुत्य प्रयास स्मार्त धर्म के रूप में हुआ है। पंचायतन या षडायतन पूजा के रूप में यह प्रसिद्ध हुआ। वाराणसी के काशीविश्वनाथ मन्दिर को हम उदाहरण के रूप में पेश कर सकते हैं। यहाँ मुख्य देवता भगवान् शिव हैं। इनके साथ ही यहाँ चारों कोणों में स्थापित शक्ति, गणेश, सूर्य और विष्णु की भी उपासना प्रत्येक शिवभक्त करता है। इस पंचायतन पूजा में विष्णुप्रधान, शक्तिप्रधान आदि के रूप में पंचविध आयतनों का वर्णन स्मार्त तन्त्रों में सुव्यवस्थित रूप में मिलता है। केरल में सुब्रह्मण्य (कुमार स्कन्द) का समावेश कर षडायतन पूजा का क्रम निर्दिष्ट है। इसी पद्धति का अनुसरण करते हुए आज भी हम सांस्कृतिक और धार्मिक क्षेत्र में भी इस प्रयोग को पुनः दुहरा सकते हैं। तदनुसार हम सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के माध्यम से सभी संस्कृतियों और धर्मों में भी सामंजस्य स्थापित कर सकते हैं। तब इस भारत देश में निवास कर रही समग्र भारतीय प्रजा तो सुख-शान्ति से रहने ही लगेगी, हम अन्यत्र भी इस दृष्टि को फैला सकेंगे।

आचार्य नरेन्द्रदेव के सहयोगी समाजवादी विद्वान् प्रो. मुकुटबिहारीलाल ने किसी इस्लामिक विद्वान् को उद्धृत करते हुए लिखा था कि भारत में इने-गिने पारसीक जन सैकड़ों वर्षों से यहाँ सुख-शान्ति से रह रहे हैं, तो करोड़ों की संख्या में रहने वाले मुसलमानों पर कौन-सी विपत्ति आ सकती है ? इस कथन पर हमें गंभीरता से विचार करना चाहिये और किसी भी भारतीय को भरमाने की कुचेष्टा से हमें विरत रहना चाहिये। जनतन्त्र में पक्ष-विपक्ष की भूमिका मान्य है। इनमें परस्पर शत्रुवत् व्यवहार कभी भी मान्य नहीं होना चाहिये। भारत में ऐसा क्यों हो रहा है ? इस पर हमें गंभीरता से विचार करना होगा।

भारत की विगत एक हजार वर्ष पहले की प्रत्येक उपलब्धि को भगवाकरण के नाम से झुठला देने का एक विश्वव्यापी षड्यन्त्र चल रहा है। पंचतन्त्र का पहला पारसी अनुवाद ५५० ई. में पूरा हो

चुका था। इसीके आधार पर विश्व की प्रायः सभी प्रमुख भाषाओं में इसका अनुवाद हुआ। 'हिन्दस्का' विश्व को भारत की देन है। महान् अरबयात्री अलबेरुनी तक भारतीय साहित्य से समस्त अरब देश ही नहीं, यूरोप भी लाभान्वित हुआ। कौटिल्य के अर्थशास्त्र, भरत के नाट्यशास्त्र, समृद्ध शिल्पशास्त्र, चरक-सुश्रुत जैसे आयुर्वेदशास्त्र और संगीतशास्त्र आदि के अवदानों को कौन झुठला सकता है। विक्रम की प्रथम सहस्राब्दी में सैकड़ों भारतीय ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद हुआ, बृहत्तर भारत के रूप में भारतीय संस्कृति और सभ्यता का विस्तार हुआ। आधुनिक इतिहासकारों को भी इसको मान्यता देनी पड़ी है। एक हजार वर्ष तक भारत का शिष्य रहा चीन अगली सहस्राब्दी में इस्लाम का चेला बन गया और अब द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का अगुआ बन बैठा है। धर्मान्तरण की प्रकिया अलग से चल रही है। गुजरात के चुनाव-परिणामों के विश्लेषण के प्रसंग में गोधरा और गुजरात हत्याकाण्ड की तो चर्चा होती है, किन्तु गुजरात के अक्षरधाम और जम्मू के रघुनाथ मन्दिर की कोई चर्चा नहीं करना चाहता। वस्तुतः गोधरा और गुजरात के बाद आतंकवादियों पर किये गये हमले ही राष्ट्रतोड़कों के मंसूबों पर पानी फेरने में समर्थ हुए हैं और इन्होंने सांस्कृतिक राष्ट्रवाद को पनपाने का भी काम किया है। इसे हमें सभी भारतीयों की सहायता से परिपुष्ट करना होगा।

●

तन्त्रागमीय संस्कृति

तान्त्रिक शब्द आज बदनाम सा हो गया है। मात्र जादू-टोना और मन्त्र-यन्त्र आदि के उपयोग तक ही यह शब्द सीमित कर दिया गया है। धर्म अथवा संस्कृति के इतिहास-ग्रन्थों में भी तान्त्रिक धारा की पूर्ण उपेक्षा की गई है। वहाँ शैव और वैष्णव धारा का वर्णन मिलता है, किन्तु उनका संबन्ध तान्त्रिक साहित्य से न जोड़कर पुराणों से जोड़ा जाता है। भारतीय इतिहास, विशेष कर उसके धार्मिक और सांस्कृतिक इतिहास की इस त्रुटि की ओर हम विद्वानों का ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं।

केवल महाभारत ही नहीं, प्राचीन जैन और बौद्ध ग्रन्थों में भी पांचरात्र धर्म तथा कृष्ण-बलदेव आदि का उल्लेख मिलता है। शतपथब्राह्मण में अहिंसक पांचरात्र सत्र का विधान है। पांचरात्र धर्म के अनुयायी राजा वसु उपरिचर ने अहिंसक सत्र का अनुष्ठान किया था। शतरुद्रिय अध्याय में पशुपति-शिव स्तेन और तस्कर ही नहीं, शूद्र तथा अतिशूद्र समझे जाने वाले लोगों के भी देवता हैं। ये पांचरात्र और पाशुपत मत ही वैष्णव एवं शैव धर्म के मूल स्रोत हैं। जैन और बौद्ध धर्म से भी पहले भारतीय संस्कृति की इस धारा ने वैदिक धर्म में आवश्यक संशोधन-परिवर्तन का प्रयत्न किया सही, तो भी इसने कभी भी जैन और बौद्ध दृष्टि के समान वैदिक धर्म की सर्वथा अवहेलना नहीं की। इस धारा का वाङ्मय ही पहले आगमशास्त्र और बाद में तन्त्रशास्त्र के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

भारतीय संस्कृति की वैदिक धारा में वर्णाश्रम-व्यवस्था का कड़ाई से पालन किया जाता था। हिंसाप्रधान कर्मकाण्डों की कभी इसमें प्रचुरता हो गयी थी। इसका औपनिषद, आगमिक, जैन और बौद्ध धाराओं ने विरोध किया। औपनिषद धारा का वैदिक ज्ञानकाण्ड में समावेश हो गया। जैन और बौद्ध धाराओं ने वेद का प्रामाण्य अस्वीकार कर दिया। आगमिक धारा इन वैदिक और अवैदिक धाराओं के बीच समानान्तर रूप से बहती रही। महाभारत-काल से लेकर महिम्न-स्तोत्र की रचना के समय तक भारतीय साहित्य में वेदारण्यक, सांख्य, योग, पांचरात्र और पाशुपत मत का एकसमान स्वतन्त्र प्रामाण्य अभिप्रेत था। रामायण, महाभारत, भगवद्गीता और पुराणों में इन सभी मतों में समन्वय का प्रयत्न हुआ। परवर्ती धर्मशास्त्रीय निबन्धकारों ने भी इनको वेद के बाद स्मृति के समान ही प्रमाणभूत माना है। वीरशैव धर्म-दर्शन के प्रसिद्ध ग्रन्थ सिद्धान्तशिखामणि को भी इनका प्रामाण्य अभिप्रेत है—

सांख्यं योगः पाञ्चरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा ।
एतानि मानभूतानि नोपहन्यानि युक्तिभिः ।।

पांचरात्र आगम की अहिर्बुध्न्यसंहिता के पूरे १२वें अध्याय में इनका विस्तार से परिचय दिया गया है। गुजरात के स्वामीनारायण मत का आधार भी पांचरात्र मत की संकर्षणसंहिता मानी जाती है। इसका प्रकाशन वहीं से हुआ है।

तन्त्रागमीय धर्म की अन्य शाखाओं के समान जैन और बौद्ध धर्म के अनुयायियों में भी तान्त्रिक योग और विशिष्ट कर्मकाण्ड-पद्धति का विकास हुआ है। इनकी मूल मान्यताएँ सर्वत्र समान हैं। आज के भारतीय धर्मों पर वैदिक धारा की अपेक्षा इस तन्त्रागमीय धारा का अधिक गहरा प्रभाव है। आगमिक संस्कृति की पांचरात्र और पाशुपत धारा के सातत्य में शाक्त, गाणपत्य और स्कान्द धाराओं का जिस प्रकार विकास हुआ है तथा आज वे जिस रूप में भारतीय संस्कृति में धुल-मिल कर एक हो गई हैं, यह एक रुचिकर अनुशीलन का विषय है।

इस तन्त्रागमीय संस्कृति ने जैन और बौद्ध धाराओं के समान वैदिक संस्कृति से ही अपने उपादान प्राप्त किये अथवा ऐतिहासिकों के द्वारा निर्धारित वेदपूर्व आर्येतर सभ्यता का भी इनको अवदान प्राप्त हुआ, इस विषय पर हम आगे विचार करेंगे। सही निर्णय तो तभी लिया जा सकता है, जब सिन्धु-घाटी लिपि को पढ़ने का निर्विवाद समाधान प्राप्त हो जाय। यों वैदिक साहित्य में भी तन्त्रागमीय संस्कृति, विशेषकर पांचरात्र और पाशुपत मत के उपादान बहुतायत से मिलते हैं और अनेक विद्वानों ने उनको दिखाया भी है। अन्तर इतना ही है कि इन्होंने पांचरात्र और पाशुपत शब्दों के स्थान पर वैष्णव और शैव शब्दों का प्रयोग किया है। संभवतः यह उन पर वैष्णव और शैव पुराणों का प्रभाव है, जो निश्चित ही परवर्ती प्रादुर्भाव है और ये पौराणिक संस्कृति से संबद्ध हैं। हमारी दृष्टि में वर्तमान पुराण-साहित्य में किसी नवीन दार्शनिक अथवा धार्मिक सिद्धान्त का प्रतिपादन बहुत कम हुआ है। हम यह मान सकते हैं कि कृतान्तपंचक के अतिरिक्त जैन और बौद्ध विचारों में तथा साथ ही समय-समय पर प्रचलित हुए शाक्त, गाणपत्य, सौर और स्कान्द आदि मतों के सिद्धान्तों में भी समन्वय कर नवीन स्मार्त धर्म एवं समग्र भारतीय संस्कृति की प्रतिष्ठा का महनीय प्रयत्न हुआ। इस दृष्टि से पुराणों का अनुशीलन करने पर ही हम यहाँ के धार्मिक एवं सांस्कृतिक इतिहास के क्रमिक विकास का सही मूल्यांकन कर सकते हैं। हमारे मत से न केवल पुराणों का, अपितु सांप्रदायिक उपनिषदों का भी इसी दृष्टि से अनुशीलन किया जाना चाहिये। यही मानना उचित और तर्क-संगत भी प्रतीत होता है कि भारतीय संस्कृति के अविरल पावन-प्रवाह में विभिन्न धाराओं के उद्गम के बाद ही उनको मूल धारा में मिलाने का प्रयंत्न हुआ हो। अल्लोपनिषद् को हम इसके उदाहरण के रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं।

तान्त्रिक उपासना में मानवमात्र को दीक्षा का अधिकार प्राप्त है। इसमें वर्ण या आश्रम प्रयुक्त कोई प्रतिबन्ध नहीं है। इस दृष्टि से छान्दोग्य उपनिषद् की इस शास्त्र से बहुत समानता है। सत्यकाम जाबाल (४.४७), महिदास ऐतरेय (३.१६), और रैक्व जानश्रुति (४.१२) के उपाख्यान इस तान्त्रिक दृष्टि का ही पोषण करते हैं। देवकीपुत्र कृष्ण और घोर आंगिरस का संवाद (३.१७.६) हमें पांचरात्र सिद्धान्तों का स्मरण कराता है। यहाँ (७.१२) उल्लिखित एकायन विद्या पांचरात्र श्रुति का

ही दूसरा नाम है। यहाँ (७.२६.२) वर्णित ध्रुवा स्मृति रामानुज वेदान्त में भक्ति और प्रपत्ति के रूप में व्याख्यात है, जो उनका स्वोपज्ञ विचार न होकर परम्परा से प्राप्त मालूम होता है। भगवद्गीता को पांचरात्र सिद्धान्त से अनुप्राणित माना जाता है। यहाँ (५.८) बताया गया है कि विद्या और विनय से संपन्न ब्राह्मण, गाय, हाथी, श्वान और चाण्डाल को पंडितजन समान दृष्टि से देखते हैं। वहीं (९.३२) स्त्री, वैश्य और शूद्र को भी मोक्ष का अधिकारी माना गया है।

सभी धर्मों और संस्कृतियों के इस तरह के उदात्त विचारों का आलोडन कर, अपने-अपने धर्म एवं संस्कृति की देश और काल के अनुरूप व्याख्या कर, उनके कालातीत तत्त्वों का परिहार एवं उपादेय तत्त्वों का संग्रह कर तथा उनमें परस्पर सामंजस्य बैठाकर हमें एक नवीन संस्कृति के निर्माण के लिये प्रयत्नशील होना चाहिये। इसके अभाव में परस्पर अविश्वास से ग्रस्त इस भारत में एकता स्थापित करना कठिन हो जायगा। इसके लिये आवश्यक है कि हम सहिष्णुता और समन्वय के आधार पर तान्त्रिक संस्कृति के सही उपादानों का चयन करें।

●

नव संस्कृति का निर्माण

'श्रमण-ब्राह्मणम्' की ही तर्ज पर आजकल हिन्दु-मुस्लिम की स्थिति बना दी गयी है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद कोढ़ में खाज़ का काम कर रहा है। सामंजस्य के स्थान पर सर्वत्र विग्रह खड़ा करना ही इसका परम लक्ष्य है। एक हजार वर्ष पहले के संस्कृत साहित्य में 'हिन्दु' शब्द की कोई स्थिति नहीं थी, किन्तु अब बिना प्रसंग के भी यह शब्द प्रयुक्त होने लगा है। भारतीय तन्त्रागमशास्त्र का अनुशीलन आजकल पूरे विश्व में जैन, बौद्ध और हिन्दु शब्द के माध्यम से हो रहा है और 'हिन्दु' शब्द की परिधि में वैष्णव, शैव, शाक्त और स्मार्त शाखाओं का भी ग्रहण किया जाता है। जैन और बौद्ध तन्त्रों के अनुशीलन के प्रसंग में हमने देखा है कि जैन तन्त्र कहीं सिद्धान्त शैवागम के तथा अन्यत्र त्रिपुरा-तन्त्रों के अधिक नजदीक हैं तो बौद्ध तन्त्र कहीं वैष्णव आगमों से तो अन्यत्र कौल तन्त्रों से समरस हैं। इस तरह के प्रसंगों की तुलनात्मक समीक्षा में 'हिन्दु' शब्द पूरी तरह से असमर्थ है।

भारत में आज वर्गविद्वेष के रूप में अथवा अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिये फैलाये गये द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के मायाजाल से देश को उबारने के लिये भी 'हिन्दु' शब्द के स्थान पर भारतीय शब्द का प्रयोग होना चाहिये और इस शब्द की परिधि में जैन-बौद्ध जैसे धर्म ही नहीं, इस्लाम और खीष्ट धर्मों का भी समावेश होना चाहिये। पारसीक धर्म तो इससे समरस है ही, सिक्ख धर्म के लिये खड़ा किया गया विवाद भी तब अपने-आप शान्त हो जायगा। धर्म-निरपेक्षता जैसे असांस्कृतिक शब्दों की या उसके स्थान पर पन्थ-निरपेक्षता, बिन-संप्रदाय जैसे शब्दों की सिफारिश करने की तब कोई आवश्यकता नहीं रह जायगी, क्योंकि यह देश तब इस विश्व की उदारतम संस्कृति से अनुशासित होगा, जिसकी प्रशंसा इस देश को उजाड़ देने की मंशा वाले राजनेतागण भी मुक्त कण्ठ से करने से नहीं अघाते।

आज विश्व की इस उदारतम, उत्कृष्टतम भारतीय संस्कृति को नष्ट कर देने के लिये चारों तरफ से हमले हो रहे हैं, उनमें 'हिन्दु' और 'धर्म-निरपेक्षता' जैसे शब्दों की एक-सरीखी भूमिका है। धर्मान्तरण जैसी घिनौनी प्रवृत्ति में धर्माचार्यों की मानसिकता देखी जा सकती है। आधुनिक प्रजा को हिन्दु-धर्म के नाम पर डराने वाले ये धर्मनिरपेक्षतावादी इससे परिचित ही नहीं हैं कि जिन दुर्गुणों को ये भारतीय संस्कृति पर आरोपित करते हैं, उनका समाधान आज से एक हजार वर्ष पहले ही खोज लिया गया था और ब्राह्मणवाद-मनुवाद के नाम से प्रचारित हो रही दुष्प्रवृत्तियाँ नामशेष होती जा रही थीं। सुधारवादी आन्दोलनों के माध्यम से भी इस तरह की प्रवृत्तियों पर अंकुश लगा है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का आन्दोलन अन्य धर्मों की दुष्प्रवृत्तियों पर रोक लगाने के लिये अर्गला का काम करता है। उन राष्ट्रविरोधी प्रवृत्तियों के रुक जाने पर यह आन्दोलन भी अपने आप रुक जायगा।

यह सही है कि हिन्दुत्ववादी संगठनों का भी हम पूरी तरह से समर्थन नहीं कर सकते, किन्तु इनके खिलाफ जो दुष्प्रचार किया जा रहा है, वह भारत के प्रथम प्रधानमन्त्री पं. जवाहरलाल नेहरु ने तिब्बत और कश्मीर की समस्या को पैदा कर राष्ट्र के साथ जो कुछ किया, उसको छिपाने और अपनी कुर्सी को बरकरार रखने के लिए किये गये प्रयासों की एक कड़ी मात्र है। जाने-अनजाने इससे राष्ट्रविरोधी धर्मान्तरण की पोषक अपसंस्कृतियों की भी स्वार्थ-सिद्धि हो रही है, इसे कौन अस्वीकार कर सकता है।

यूरोप में फिलासफी को बुद्धि का विलासमात्र माना जाता है, उसी तरह अन्य शास्त्रों का अध्ययन भी वहाँ बुद्धिविलास के लिये अथवा धर्मप्रचार के लिये होता है, किन्तु ऐसा होना नहीं चाहिये। औद्योगिक विकास, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में वहाँ अनेक क्रान्तियाँ हुई हैं, किन्तु मानव-मन को राग-द्वेष से मुक्त करने का प्रयास नहीं के बराबर हुआ है। मानव समाज के सामने उपस्थित होने वाली समस्याओं के समाधान के लिये भी मानसिक विश्लेषण की नई-नई पद्धतियों और दर्शनों की उद्भावना होती रहनी चाहिये। हमने "तन्त्रागमीय धर्म-दर्शन" में इसी विषय को स्पष्ट किया है कि यहाँ भारतीय समाज के ही नहीं, पूरी मानवता के मानसिक विकास के लिये उपयोगी सांस्कृतिक चिन्तन को इस प्रकार प्रस्तुत किया जाय कि परलोक की चिन्ता किये बिना पूरी मानवता परस्पर के राग-द्वेष को भुलाकर सहज भाव से जी सके। भारतीय संस्कृति के संरक्षक बंगाल के राजा वल्लालसेन ने कालामुख, कापालिक, कौल, बौद्ध वज्रयान आदि के माध्यम से भारतीय समाज में प्रविष्ट विसंगतियों की समालोचना कर उनके परिमार्जन का प्रयत्न किया था। उसी तरह का प्रयत्न आज भी अपेक्षित है।

केरल, कश्मीर और गौड़ (बंगाल) देश की पद्धति से विविध तान्त्रिक उपासना-पद्धतियाँ प्रचलित रही हैं। अन्य राज्यों की अपेक्षा इनमें अपसंस्कृतियों का प्रसार त्वरित गति से हुआ, इसके कारणों की खोज होना जरूरी है। साथ ही हमें उन आवश्यक उपादानों की भी खोज करनी होगी, जिनके सहारे अभिनव भारतीय संस्कृति का मूल ढांचा खड़ा किया जा सके, जो पूरी मानवता को परिष्कृत करने में भी समर्थ हो। इस्लाम और ख्रीष्ट धर्म भी जैन, बौद्ध, वैष्णव आदि धर्मों के समान यहाँ अपना स्थान तब सही रूप में बना सकेंगे, जब वे अपनी आक्रामकता और हठवादिता का परित्याग कर इसके लिये सचेष्ट होंगे। सारी प्रबुद्ध भारतीयता की सहमति से यह संभव हो सकता है। भारतीय प्रजा में भावात्मक एकता की स्थापना का यही प्रशस्त राजमार्ग है।

तन्त्रागमशास्त्र के आलोड़न से भारतीय संस्कृति के उत्कृष्टतम एवं उदारतम उपादानों को दुनिया के सामने लाया जा सकता है। इस तरह से भारतीय संस्कारों पर लगाये जा रहे निराधार आरोपों का समाधान भी अपने आप हो जायेगा। आवश्यकता एक ऐसे प्रयास की है, जिसके सहारे, पुरा काल में कृतान्तपंचक (सांख्य, योग, पांचरात्र, पाशुपत, वेदारण्यक) की मान्यता और बाद में पंचायतन अथवा षडायतन पूजा की स्वीकृति की तरह आज भी पूरी भारतीय प्रजा के लिये समरसता का नूतन आधार खोज लिया जाय, तन्त्रागमीय वाङ्मय के साथ सन्तों, भक्तों, गुरुओं और सूफियों की समरसता के सागर को मथकर वैज्ञानिक विधि से उस अमृत की खोज की जाय, जिस पर अपसंस्कृति-रूपी विष का अकाण्ड ताण्डव कोई बुरा प्रभाव न छोड़ सके। महात्मा गाँधी की दिनचर्या और तन्त्रागमीय शास्त्र की सामाजिक दृष्टि इस कार्य में सहायक बन सकती है।

तन्त्रागमशास्त्र की सामाजिक दृष्टि

सन् १९२१ में लन्दन से प्रकाशित "हिन्दुइज्म एण्ड बुद्धिज्म" नामक ग्रन्थ में डॉ. चार्ल्स ईलियट ने बताया था– "तन्त्रशास्त्र मानवमात्र के धर्म-ग्रन्थ हैं और ये जातिवाद पर बहुत कम बल देते हैं। इनको और इनके पूजाविधान को दीक्षा प्राप्त कर लेने के बाद, गुरु की सहायता से ही समझा जा सकता है। तान्त्रिक चर्या अधिकतर मन्त्रों के, रहस्यात्मक अथवा संस्कारयुक्त मातृकाओं और वर्णों के, यन्त्रों और संकेतों के यथार्थ प्रयोग कर आधृत है। इनका मूल लक्ष्य यह है कि भगवान् के पास पहुँचने की अपेक्षा भगवान् को ही पूजक के पास आने के लिये विवश किया जाय। तन्त्रशास्त्र का दूसरा लक्ष्य है– भक्त को भगवान् के साथ संयुक्त करना और वास्तव में उसको रूपान्तरित करके भगवान् बना देना" (भा. २ पृ. १०९ अनुवाद)।

यह बात आगम और तन्त्रशास्त्र के नाम से अभिहित होने वाले पूरे साहित्य पर लागू होती है। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि आगम के नाम से कही जाने वाली धारा का प्रादुर्भाव पहले और तन्त्र के नाम से कही जाने वाली धारा का प्रादुर्भाव बाद में हुआ। यह आश्चर्य की बात है कि डॉ. चार्ल्स ईलियट जैसे विद्वानों के द्वारा इन धाराओं की अनुस्यूतता पर ध्यान आकृष्ट कराये जाने पर भी भारतीय विद्या के प्रायः सभी विद्वानों ने तन्त्रशास्त्र के अध्ययन के प्रसंग में आगमशास्त्र की एकदम उपेक्षा कर दी है और इसीलिये वे अनेक विसंगतियों के शिकार हो गये हैं।

इन विसंगतियों के परिहार के लिये हमने श्रद्धेय श्री श्री पं. गोपीनाथ कविराज जी के द्वारा निर्धारित शास्त्रीय विमर्श-पद्धति का अनुसरण करते हुए अपने ग्रन्थ "तन्त्रागमीय धर्म-दर्शन" में तन्त्रागमशास्त्र की वैष्णव, शैव, शाक्त, जैन, बौद्ध, और स्मार्त शाखाओं का ऐतिहासिक, दार्शनिक एवं सांस्कृतिक विश्लेषण प्रस्तुत किया है। आगम-तन्त्रशास्त्र की आधुनिक सामाजिक परिवेश के परिष्कार में क्या भूमिका हो सकती है? इस विषय पर अब हम विचार कर लेना उचित समझते हैं।

हम यहाँ इस विषय से संबद्ध अत्यन्त महत्त्व के विषयों की चर्चा करना चाहते हैं। पाश्चात्य विद्वानों के द्वारा निर्धारित ऐतिहासिक क्रम को हमने स्वीकार कर लिया है, किन्तु उनके द्वारा किये गये विभाजन को नहीं। आजकल सर्वत्र जैन, बौद्ध और हिन्दु विभागों के अन्तर्गत तन्त्रशास्त्र का अनुशीलन किया जाता है। यह उचित नहीं है। बौद्ध महायान धर्म वैष्णव आगम की पांचरात्र शाखा से और वज्रयान एवं सहजयान शैव-शाक्त तन्त्रों की कौल शाखा से समरस हैं। इसी तरह प्रारंभिक जैन ग्रन्थ शैवागम की पाशुपत शाखा से, कर्णाटक का जैन धर्म सिद्धान्तशैवागम से और गुजरात का जैन-धर्म शाक्त तन्त्र की त्रिपुरा शाखा से समरस हैं। इन सबको हिन्दु-तन्त्र का नाम दे देने पर इन

सबका परस्पर सूक्ष्म पर्यवेक्षण नहीं होने पाता। इसीलिये हमने ऊपर उद्धृत अपने ग्रन्थ में इन सभी शाखाओं को अपने-अपने नाम से संबोधित कर उनकी विशेषताओं का अलग-अलग विश्लेषण किया है। यहाँ वस्तुतः इनकी समानता पर ध्यान केन्द्रित किया गया है। इनके पूर्वापरभाव पर अपने-अपने आग्रह हो सकते है। इसको यहाँ छोड़ दिया गया है। सर्वप्रथम हम यह दिखाना चाहते हैं कि इस शास्त्र में मानवमात्र को दीक्षा का अधिकारी माना है।

दीक्षा के अधिकारी

वैष्णवागमों के मुख्यतः तीन विभाग मान्य हैं– वैखानस, पांचरात्र और भागवत। वैखानस पद्धति आज भी आन्ध्रप्रदेश में प्रचलित है और तिरुपति के बालाजी के नाम से प्रसिद्ध भगवद्विग्रह की आराधना वैखानस आगम की पद्धति से होती है। तमिलनाडु में श्रीरंगम् देवस्थान में पांचरात्र पद्धति से पूजा की जाती है और भागवत संप्रदाय आजकल उत्तरभारत में विशेष रूप से प्रचलित है। इधर भक्तिसंप्रदाय के रूप में बंगाल, असम और मणिपुर तक इसका विस्तार हुआ है। इन तीनों संप्रदायों को क्रमशः वैदिक, तान्त्रिक एवं मिश्र विभाग में रखा गया है। पांचरात्र आगम की उपासना में सभी वर्णों का अधिकार मान्य है। भगवद्गीता की पद्धति से यहाँ स्त्री और शूद्र के अधिकार को मान्यता मिल जाने पर भी उसी परिवार को मान्यता दी गई है, जिसने मद्यपान का परित्याग कर दिया है। भागवत संप्रदाय के अन्तर्गत जब भक्ति-संप्रदाय का उदय हुआ, तो अनेक पुराणों में और भक्ति-काव्यधारा में भी सभी मानवों को यह अधिकार मिल गया। "शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः" भगवद्गीता का यह वचन इसका साक्षी है। जगन्नाथपुरी में इसका व्यावहारिक रूप भी कुछ उभरा जो अब धीरे-धीरे आँख से ओझल होता जा रहा है। असम की समस्याओं का समाधान वैष्णव धर्म के इस उदार स्वरूप में ही संभव है।

पाशुपत मत को अत्याश्रमी माना जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि पाशुपतों को वैदिक वर्णाश्रम-व्यवस्था पूरी तरह से मान्य नहीं है। कूर्मपुराण जैसे कुछ पुराणों में भी यह शब्द उपलब्ध है और इसके अन्तर्गत ब्राह्म, वैष्णव और शैव नामक तीन वर्णों की चर्चा भी है। इस प्रसंग में यह बता देना भी जरूरी है कि बौद्ध कालचक्रतन्त्र की विमलप्रभा टीका के कर्ता पुण्डरीक ने भी स्वपरदर्शन नामक प्रकरण (२.१६२-१६३) में इन मतों की चर्चा की है। कश्मीर के स्वच्छन्दतन्त्र में बताया गया है कि शैव धर्म में दीक्षित होने पर व्यक्ति को अपनी पूर्व जाति का स्मरण नहीं करना चाहिये। दीक्षा के बाद वह केवल शैव रह जाता है। इसी न्याय को हम जैन, बौद्ध, वैष्णव, शाक्त, स्मार्त, सिक्ख जैसे शब्दों के साथ भी जोड़ सकते हैं। यह व्यवस्था पूरी तरह से चल नहीं पायी। सन्यासी के लिये भी यह व्यवस्था थी कि वह अपनी पूर्व जाति को भूल जाय, किन्तु ऐसा हो न सका।

सिद्धान्तागमों की कुछ संहिताओं में दीक्षा का अधिकार अधिक व्यापक हो गया। कश्मीरी विद्वान् सोमानन्द की शिवदृष्टि में कालपादा नामक संहिता को उद्धृत कर बताया गया है कि श्वपचों को भी दीक्षा दी जानी चाहिये। वीरशैव मत के आचार्य श्रीकर ने अपने ब्रह्मसूत्रभाष्य में पूरी मानवजाति को दीक्षा का अधिकार दिया है। मकुटसंहिता में तो स्पष्ट ही बताया गया है कि पुण्य-

पाप की दृष्टि से ब्राह्मण-चाण्डाल आदि जातियों की व्यवस्था नहीं बन सकती, क्योंकि हम देखते हैं कि कोई चाण्डाल भले काम में लगा हुआ है और ब्राह्मण पतन की ओर उन्मुख है। मकुटसंहिता आदि के इस तरह के अनेक वचन कश्मीर (उत्तरभारत) और चोलदेश (दक्षिणभारत) के आचार्यों ने अपने-अपने ग्रन्थों में उद्धृत किये हैं। दक्षिण भारत के शैव-वैष्णव भक्तों तथा उत्तरभारत के सिद्धों, नाथों और भक्तों की परम्परा में जाति की अपेक्षा चरित्र को वरीयता दी गयी है। इसीके आधार पर आगम-तन्त्रशास्त्र में एक नई सामाजिक दृष्टि का उन्मेष हुआ है। यहाँ हम संक्षेप में उसी दृष्टि को उजागर करना चाहते हैं।

ग्रहाष्टक अथवा पाशाष्टक

तन्त्रालोक (१५.५९५-५९६) में कुलगुह्वर और निशिसंचारशास्त्र के प्रमाण से जाति, विद्या, कुल, आचार, देह, देश, गुण और धन के आधार पर कल्पित दुराग्रहों की चर्चा कर बताया गया है कि इनके कारण व्यक्ति अपने वास्तविक स्वरूप को पहचान नहीं पाता, अतः ये सर्वथा त्याज्य हैं। कुलार्णवतन्त्र (१३.९०) में घृणा, शंका, भय, लज्जा, जुगुप्सा, कुल, जाति और शील नामक आठ पाश वर्णित हैं। इनमें से जातिग्रह और शंका का शैवशास्त्रों में विशेष रूप से वर्णन मिलता है। इन सभी आग्रहों अथवा पाशों से हम सब परिचित हैं, किन्तु मानवजाति के लिए जातिग्रह और शंका विशेष हानिकर हैं। इनका स्वरूप यहाँ संक्षेप में दिया जा रहा है।

जातिग्रह

तन्त्रालोक (१५.५९७-६०४) में निशिसंचार, कुलगुह्वर, स्वच्छन्दतन्त्र, आनन्दशासन और नकुलेश (लकुलीश) के प्रमाण से जातिग्रह की हेयता को दिखाया गया है। परात्रीशिका की व्याख्या (पृ. २३७) में अभिनवगुप्त का कहना है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि जातियाँ कल्पित हैं, इनकी कोई वास्तविक सत्ता नहीं है। अपने इस कथन के समर्थन में उन्होंने मकुटसंहिता को उद्धृत किया है, जिसकी चर्चा ऊपर हो चुकी है। तन्त्रालोक (१५.५१३-५१७) में भी मोक्षधर्म (महाभारत का शान्तिपर्व) और मकुटसंहिता को उद्धृत कर यही बात कही गयी है। इन सभी वचनों का संग्रह टीकाकार जयरथ ने किया है। इस प्रसंग में स्वच्छन्दतन्त्र (४.५४०-५४६) को भी देखा जा सकता है। महेश्वरानन्द ने महार्थमंजरीपरिमल (पृ. १४५) में ब्राह्मण-चाण्डाल आदि की व्यवस्था को त्याज्य माना है। कालपादा (कालोत्तर) संहिता शिवदृष्टि (३.११) में स्मृत है। ऊपर इसकी चर्चा हो चुकी है। क्षेमराज के नेत्रतन्त्रोद्योत (१०.१०) में इसका एक वचन उद्धृत है, जिसके अनुसार श्वपचों को भी दीक्षा का अधिकारी माना गया है। इन सब प्रमाणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस शास्त्र में जाति के अभिमान को दुराग्रह मानकर इसे हेय कोटि में रखा गया है। भारत हो या अन्य देश, आज जातिग्रह का दुराग्रह सर्वत्र विकट समस्या बन गया है। इसका निराकरण हम उक्त दृष्टिकोण के आधार पर, इनमें विद्यमान ऊँच-नीच की भावना को दूर कर और सर्वत्र समतादृष्टि का प्रसार कर कर सकते हैं। प्रबुद्ध मानव को सोचना है कि क्या वह ऐसा कर सकेगा?

शंका

जाति के समान ही शंका की भी पाश में गणना की गई है। शंका को यहाँ विशेष रूप से अशान्ति का कारण माना है। यह शंका अज्ञान के कारण होती है। तन्त्रालोक (१२.२०-२५) और परात्रीशिका-विवृति (पृ. २३५-२३६) में सर्ववीरभट्टारक, क्रमसद्भाव, तत्त्वार्थचिन्तामणि, मतशास्त्र, निशाकुल जैसे ग्रन्थों के प्रमाण से बताया गया है कि मन में उठने वाले नाना प्रकार के संकल्प-विकल्पों के जाल से घिरे हुए व्यक्ति को कभी शान्ति नहीं मिल सकती। मन्त्रशंका, आत्मशंका, द्रव्यशंका, भूतशंका, दिव्यकर्मशंका और तत्त्वशंका के नाम से शंका के छः प्रकार यहाँ वर्णित हैं। इस छः प्रकार की शंका का परित्याग करने पर ही व्यक्ति को शान्ति मिल सकती है। आज भारतीय समाज पेयापेय, भक्ष्याभक्ष्य, विधि-निषेध, शुद्धि-अशुद्धि के द्वन्द्वों में फँसकर नाना प्रकार की शंकाओं से घिरा हुआ है। इनसे घिरे होने के कारण ही भारतीय समाज आज विविध धार्मिक और सांस्कृतिक आक्रमणों का सामना करने में अपने को अक्षम पा रहा है। उसकी वह उर्वरा शक्ति समाप्त हो गयी है, जिसके आधार पर इसने पूर्व काल में अनेक धार्मिक और सांस्कृतिक आन्दोलनों को आत्मसात् कर लिया था। इसके विपरीत विगत एक हजार वर्ष के इतिहास में इस अकेली शंका ने धर्म-परिवर्तन में अपना कितना अवदान दिया, यह एक आश्चर्य का विषय है।

तन्त्रशास्त्र का उद्घोष है कि शुद्धि-अशुद्धि, विधि-निषेध आदि की व्यवस्था का मानव की आध्यात्मिक उन्नति में कोई विशेष स्थान नहीं है। मन की पवित्रता पर यहाँ अधिक जोर दिया गया है। अभिनवगुप्त के तन्त्रसार (पृ. ३१-३२) में बताया गया है कि नाना प्रकार की शंकाओं से छुटकारा पाने के लिये व्यक्ति को याग, होम, जप, व्रत आदि का अनुष्ठान अवश्य करना चाहिये। यहाँ इनके बाह्य रूप की अपेक्षा आध्यात्मिक स्वरूप पर अधिक बल दिया गया है। बताया गया है कि इस बाह्य और आन्तर उपासना का प्रत्येक व्यक्ति अधिकारी है और जिस विधि से भी साधक का मन स्थिरता प्राप्त कर सके, तदनुसार ही वह अपनी दिनचर्या बना ले। किसी आर्यसमाजी की यह उक्ति बहुत प्रासंगिक लगती है– "तेरे पूजन को भगवान् बना मन-मन्दिर आलीशान"। इसी प्रसंग में शुद्धि-अशुद्धि और विधि-निषेध की व्याख्या भी देखने लायक है।

शुद्धि-अशुद्धि व्यवस्था

स्वायम्भुवागम के एक वचन में राग आदि से उत्पन्न चित्त की मलिनता को ही अशुद्धि माना गया है। विज्ञानभैरवभट्टारक (श्लो. १२०) में भी शुद्धि और अशुद्धि के इस आध्यात्मिक पक्ष पर ही अधिक जोर दिया गया है। हमने मालिनीविजय, तन्त्रालोक, वीरावलीशास्त्र आदि के प्रमाण से इस ग्रन्थ के हिन्दी भाष्य में इस विषय पर विशद विचार किया है। तन्त्रालोक के चौथे और १५वें आह्निक में शुद्धि और अशुद्धि पर गंभीर विचार किया गया है। वहाँ आनन्दशास्त्र, मतशास्त्र, पूर्वशास्त्र तथा कुलक्रम एवं त्रिकशास्त्र के अनेक वचनों को उद्धृत कर उक्त दृष्टि का समर्थन किया गया है। पर्यन्तपंचाशिका (श्लो. ९) में शुद्धि की परिभाषा देते हुए अभिनवगुप्त ने बताया है कि इदन्ता के रूप में मलिन हो रहे समस्त जागतिक पदार्थों को स्वात्माहन्ता में समेट लेना ही वास्तविक शुद्धि है।

महेश्वरानन्द (पृ. ४३) ने इस वचन को उद्धृत कर इसकी व्याख्या करते समय शुद्धि-अशुद्धि की व्यवस्था का सुन्दर विवेचन किया है। आज शुद्धि और अशुद्धि की तन्त्रागमशास्त्र-संमत इस व्याख्या पर ही अधिक जोर देने की आवश्यकता है।

याज्ञवल्क्यस्मृति में शारीरिक शौच को सामान्य धर्म और तत्त्वज्ञान को परम धर्म माना है। मिट्टी आदि से की गयी शारीरिक शुद्धि की अपेक्षा मानस शुद्धि श्रेष्ठ मानी गयी है। शारीरिक शुद्धि के न रहने पर परमात्मा की कोई हानि नहीं है, क्योंकि वह तो आकाश की तरह निर्मल है। शुद्धि यदि की जाती है, तो उससे उसमें कोई बढ़ोत्तरी होने वाली नहीं है। मिट्टी आदि से शुद्ध करने पर भी शरीर तो मलिन ही रहेगा। वास्तव में तो इस बाह्य शारीरिक शुद्धि के बिना भी निर्विकल्पक ज्ञान की सहायता से मन को निर्मल बनाकर साधक स्वात्मस्वरूप का साक्षात्कार कर सकता है।

विधि-निषेध मीमांसा

शुद्धि और अशुद्धि की व्यवस्था के समान ही यहाँ विधि और निषेध की भी मीमांसा अपनी दृष्टि से की गयी है। महेश्वरानन्द ने अपनी स्वोपज्ञटीका (पृ. २१-२२) में विधि और निषेध की व्याख्या प्रस्तुत की है। ऐसा करते समय वे संवित्प्रकाश और संविदुल्लास को स्मरण करते हैं। वहाँ बताया गया है कि जिस वस्तु को हम छोड़ सकते हैं, वह हमारे लिये हेय और जिसको नहीं छोड़ सकते, वह उपादेय है। यहाँ शैवागमों को ही परम प्रमाण माना गया है और कहा गया है कि यह प्रभु निषेध में भी विधि और विधि में भी निषेध की भावना भरने में समर्थ है। विधि-निषेध की यह व्याख्या तन्त्रालोक (४.२५६-२७४: १२.१४-२०) में भी देखी जा सकती है। मालिनीविजय (१८.७४-८१) में बताया गया है– "शुद्धि और अशुद्धि का विधान, भक्ष्य और अभक्ष्य का विवेचन, द्वैत या अद्वैत का उपदेश, लिंगपूजा आदि का विधान या निषेध, निष्परिग्रह रहने या सपरिग्रह होने का आदेश, जटा-भस्म आदि का स्वीकार या परित्याग, व्रत आदि का आचरण करना या न करना, तीर्थाटन करना या न करना नियमों का पालन करना या न करना, तिलक आदि चिह्न, नाम-गोत्र आदि को रखना या न रखना– जैसी बातों के पक्ष या विपक्ष में यहाँ कुछ भी नहीं कहा जाता। ये सभी बातें विहित भी मानी जा सकती हैं और निषिद्ध भी। इसमें व्यक्ति की इच्छा ही प्रमाण है कि वह इनका आचरण करे या न करे। तत्त्वतः तत्त्वज्ञान में इनकी कोई उपयोगिता नहीं है। नियम के नाम पर शास्त्रों में केवल इतना ही कहा गया है कि साधक प्रयत्नपूर्वक परमतत्त्व में अपने चित्त को स्थिर करे। चित्त की यह स्थिरता जैसे भी प्राप्त हो, साधक को तदनुसार अपनी चर्या बना लेनी चाहिये। सन्त कबीर के वचनों से इसकी तुलना कीजिये। इसी अवस्था को शास्त्रों में सहज स्थिति माना गया है।

विधि-निषेध की इस दृष्टि को मनुस्मृति (५.५६) भी मान्य करती है। यहाँ का चतुर्थ चरणं विशेष रूप से अवधेय है कि मांस, मदिरा, मैथुन से चित्त को हटा लेने का बहुत बड़ा फल है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि विधि और निषेध की परम्परागत व्यवस्था को तन्त्रागमीय दृष्टि और समय की माँग के अनुसार बदलने की आवश्यकता है। शक्तिसंगमतन्त्र (२.४६.४२) में कहा गया है कि लौकिक आचार का उल्लंघन समझदार व्यक्ति को कभी नहीं करना चाहिये।

सत्तर्क और स्वानुभव

सहज स्थिति की अभी चर्चा आई है। इसके साक्षात्कार के लिये प्रत्यभिज्ञादर्शन में सत्तर्क और स्वानुभव को वरीयता दी गयी है। मालिनीविजय (१७.२८) के प्रमाण से तन्त्रालोक (४.१५) में योग के सभी अंगों में तर्क को श्रेष्ठ माना गया है। तन्त्रागमशास्त्र की शैव, शाक्त, वैष्णव, बौद्ध आदि सभी शाखाओं में योग के प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, समाधि और तर्क नामक छः अंगों का वर्णन किया गया है। तर्क नामक अंग का विवेचन प्रधानतः प्रत्यभिज्ञादर्शन में हुआ है। तन्त्रागमशास्त्र की अन्य शाखाओं में यह ऊह, वीक्षण, अनुस्मृति आदि नामों से स्मृत है। सत्तर्क और स्वानुभव शब्दों की व्याख्या अभिनवगुप्त ने तन्त्रालोक (४.३४-८६) में विस्तार से की है। वहाँ किरणागम के प्रमाण से ज्ञान की प्राप्ति के तीन साधन बताये गये हैं। वे हैं– गुरु, शास्त्र और स्वकीय प्रातिभ ज्ञान। वहीं यह भी बताया गया है कि गुरु से शास्त्र और शास्त्र से स्वानुभव श्रेष्ठ है। स्वपरामर्श की उत्कृष्टता को सिद्ध करने के लिये यहाँ किरणागम के अतिरिक्त पूर्वशास्त्र, मालिनीमत, परात्रीशिका, ब्रह्मयामल, निशाटन आदि शास्त्रों के वचन भी उद्धृत हैं। तन्त्रालोक के टीकाकार जयरथ ने यहाँ स्पष्ट कहा है कि गुरु शास्त्रों का ज्ञान कराने में सहायक होता है और शास्त्रों के अध्ययन से स्वात्मस्वरूप के साक्षात्कार में सहायता मिलती है। योगवाशिष्ठ (नि.पू. ४१.१५) का कहना है– "स्वात्मस्वरूप का साक्षात्कार शास्त्रों की अथवा गुरु की सहायता से नहीं मिल सकता, इसका साक्षात्कार तो अपनी [१]बोधशक्ति के उन्मेष से अपने आप होता है"। यहाँ शास्त्र की अपेक्षा गुरु को वरीयता दी गयी है। तो भी इतना स्पष्ट है कि इन सब शास्त्रों में स्वीय प्रातिभ ज्ञान को ही श्रेष्ठ माना गया है।

समता-दृष्टि

इस प्रातिभ ज्ञान से समता-दृष्टि का उन्मेष हो यह आवश्यक है। शक्तिसंगमतन्त्र (२.१८.२१) में समताष्टक मार्ग का उल्लेख है। तन्त्रालोक (४.२७४-२७५) में भी इसकी चर्चा है। टीकाकार जयरथ ने आठ प्रकार की समता के प्रतिपादक त्रिकशासन के एक वचन को उद्धृत किया है। वहाँ के ये श्लोक महेश्वरानन्द की महार्थमंजरी की स्वोपज्ञ परिमलटीका (पृ. १६८) में भी मिलते हैं। इनके अनुसार जगत् के सभी भावों, वृत्तियों, दृष्टियों, द्रव्यों, भूमिकाओं, ओवल्लियों, देवताओं और वर्णों– इन आठ विधाओं में सब तरह से एक-सी दृष्टि रखना ही समता-दृष्टि कहलाती है। प्रत्यभिज्ञा-दर्शन के अनुसार सब कुछ शिवमय है। अतः सभी भावों और धर्मों में समता-दृष्टि का उदय हो, यह स्वाभाविक ही है। इस दृष्टि के उन्मेष के उपाय के रूप में विज्ञानभैरव में ४०वीं धारणा का विधान है। आनन्दभैरवशास्त्र में बताया गया है कि अद्वयदृष्टि के आधार पर वर्णाश्रम आदि के आचारों में, सभी देवताओं और दृष्टियों (दर्शनों) में भी समता का दर्शन करने वाला साधक सभी बन्धनों से मुक्त हो जाता है। नन्दिशिखाशास्त्र में इसे समताव्रत और भर्गशिखा में वीरव्रत कहा गया है। तन्त्रालोक

---

१. यह बोधशक्ति अन्तःकरण की वृत्ति से भिन्न पौंस्न ज्ञानस्वरूप है। मोक्षकारिका, श्लो. १०६ एवं १११ देखिये। प्रातिभ ज्ञान या वैष्णवों के विशुद्धसत्त्व से इसकी तुलना कर सकते हैं। "तन्त्रागम सार सर्वस्व" पृ. ४६ की टिप्पणी भी देखिये।

(१२.१२-२०) तथा परात्रीशिकाविवृति (पृ. २३५) में भी इसकी चर्चा है। शिवसूत्र (३.३२) और शिवदृष्टि (पृ. १८) में शिवरूपता तथा सर्वात्मकता (पृ. १९४-९५, २०८) का सयुक्तिक प्रतिपादन मिलता है। योगवाशिष्ठ तो इस समता-सिद्धान्त का खजाना ही है। वहाँ विस्तार से इसके महत्त्व को स्थापित किया गया है। "समत्वं योग उच्यते" (२.४८), "पण्डिताः समदर्शिनः" (५.१८), "समलोष्टाश्मकाञ्चनः" (६.८), "सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु। साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते" (६.९), "आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति" (६.३२), "समदुःखसुखः स्वस्थाः" (१४.२४)– भगवद्गीता के इन सभी वचनों में समता-दृष्टि का ही गुणगान मिलता है। स्पष्ट है कि समता-दृष्टि का विस्तार भारत में बहुत पहले हो चुका था। भगवद्गीता जैसे प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में उपदिष्ट इस समता-दृष्टि की प्रो. मुकुटबिहारीलाल के काशी में जंगमवाड़ी मठ से प्रकाशित "साम्ययोग मीमांसा" नामक ग्रन्थ में आधुनिक दृष्टि से व्याख्या प्रस्तुत की गयी है।

समन्वयात्मक दृष्टिकोण

हम सोच सकते हैं कि आज इन सब अतिप्राचीन अथ च अतिनवीन सिद्धान्तों की कितनी उपयोगिता है। विभिन्न संस्कृतियों के संघर्ष के कारण वर्तमानकाल संकटापन्न हो गया है। हम तन्त्रागमशास्त्र में व्याख्यात इस दृष्टिकोण के आधार पर इन सबमें समन्वय स्थापित कर सारे जगत् को सांस्कृतिक एवं धार्मिक संकट से उबार सकते हैं, एक नूतन मानव-समाज की संरचना कर सकते हैं। मोक्षकारिका की वृत्ति में भट्ट रामकण्ठ का कहना है कि शैवशास्त्र अन्य दर्शनों को असत्य नहीं मानता। इस विषय का प्रतिपादन उन्होंने सर्वागमप्रामाण्य नामक ग्रन्थ में किया था। स्पन्दप्रदीपिका में उत्पल वैष्णव ने मायावामनसंहिता को उद्धृत करते हुए कहा है कि एक ही भगवान् विष्णु, शिव, सूर्य, बुद्ध आदि अनेक नामों से पुकारे जाते हैं। नेत्रतन्त्र के १३वें अधिकार में भी यह बात विस्तार से बतायी गयी है। महेश्वरानन्द ने भी महार्थमंजरी की स्वोपज्ञव्याख्या में इस विषय को उठाया है। जैन-बौद्ध और शैव-शाक्त संप्रदायों में आत्मसप्तति, आत्मसंबोध (स्वात्मसंबोध) इष्टोपदेश, चन्द्रगर्भ, ज्ञानसार आदि विभिन्न ग्रन्थों के नामों का समान रूप से अपने-अपने संप्रदायों में उपयोग किया गया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय इन संप्रदायों में समन्वयवादिनी दृष्टि का उन्मेष हो चुका था, जो आज की परिस्थितियों में भी उतना ही क्या, उससे भी अधिक उपयोगी है। इस प्रसंग में प्रत्यभिज्ञादर्शन के स्वात्मदेवतावाद, एक ही जन्म में मुक्ति, स्वात्म-प्रत्यभिज्ञा, परतत्त्व की प्रकाश-विमर्शात्मकता जैसे सिद्धान्त भी हमारी सहायता कर सकते हैं। इनके स्वरूप को हम यहाँ क्रमशः प्रस्तुत कर रहे हैं।

स्वात्मदेवतावाद

अपनी आत्मा को ही देवता मानने वाले वचन बौद्ध और शाक्त तन्त्रों में मिलते हैं। अद्वयवज्र प्रकाश को देवता-स्वरूप मानते हैं और प्रत्यभिज्ञादर्शन में उसको प्रकाश-विमर्शस्वरूप माना गया है। प्रकाश शिवस्वरूप और विमर्श शक्तिस्वरूप है और इनकी स्थिति अविनाभाव संबन्ध से, अर्थात् कभी अलग न होने वाली है। सभी सत्त्वों (प्राणियों) की बुद्धमयता का प्रतिपादन बौद्ध तन्त्रों में भी हुआ है। महार्थमंजरीकार महेश्वरानन्द (पृ. ३०) का कहना है कि युक्तिपूर्वक विचार करें, तो यह स्वात्मदेवता

अपनी संवित्ति के स्फुरण के सिवाय अन्य कुछ भी नहीं है, अतः यह प्रकाश ही सारे विश्व का उपास्य देवता है। यह प्रकाश स्वात्मस्वरूप ही है। परतत्त्व की यह परिभाषा चार्वाक दर्शन के साथ आधुनिक निरीश्वरवादी वैज्ञानिक को भी मान्य हो सकती है।

एक ही जन्म में मुक्ति

"मुक्ति (मोक्ष) एक ही जन्म में मिल सकती है"– यह सिद्धान्त शैव, शाक्त, बौद्ध आदि सभी तन्त्रों में स्वीकृत है। भगवद्गीता और महायान मत की यह मान्यता है कि अनेक जन्मों के प्रयत्न के बाद ही मुक्ति मिल पाती है, किन्तु अवधूतसिद्ध के भक्तिस्तोत्र (श्लो. ३०) के अनुसार शैव मत में तो एक ही जन्म में मुक्ति मिल जाती है। शिवधर्म, शिवधर्मोत्तर आदि शैव ग्रन्थों में तथा गुह्यसिद्धि, चण्डरोषण जैसे बौद्ध तन्त्रों में भी इस सिद्धान्त को मान्यता मिली है। ख्रीष्ट, इस्लाम आदि धर्मों के अनुयायी जन्मान्तर में विश्वास नहीं रखते। एक ही जन्म में मुक्ति का यह सिद्धान्त इन सेमेटिक धर्मों में भी कुछ संशोधन प्रस्तुत कर सकता है। वहाँ अनन्त काल तक जीव ईश्वर के न्याय की प्रतीक्षा में रहता है और यहाँ उसे तुरन्त मुक्ति मिल जाती है। वैदिक कर्मकाण्ड के समान ही ये सभी सेमेटिक धर्म भी पुण्य-पाप एवं स्वर्ग-नरक के ऊपर नहीं उठ पाये हैं।

स्वात्म-प्रत्यभिज्ञा

एक ही जन्म में मुक्ति को चाहने वाली सामान्य जनता का भी उपकार करने की इच्छा से भट्ट उत्पलदेव ने प्रत्यभिज्ञादर्शन की रचना की थी। इसके लिये उन्होंने शैवागमों के द्वैतवाद की जगह अद्वयवाद की, शंकराचार्य के मायावाद के स्थान पर शक्तिवाद की और बौद्धों के क्षणिक विज्ञानवाद के स्थान पर नित्य स्वात्मेश्वरवाद की अपने दर्शन में प्रतिष्ठा की थी। सूफी सन्त इसी दर्शन से अनुप्राणित थे। आज इसी प्रत्यभिज्ञादर्शन की ऊपर वर्णित तन्त्रागमीय समता-दृष्टि, शुद्धि-अशुद्धि व्यवस्था, विधि-निषेध मीमांसा आदि का सहारा लेकर तथा जाति आदि के दुराग्रहों को दूर कर एवं सत्तर्क और स्वानुभव का महत्त्व स्वीकार कर इसके माध्यम से पूरी मानवता को एक नया संदेश देने की आवश्यकता है। इसके लिये यह आवश्यक है कि हम परतत्त्व की सरलतम सर्वमान्य परिभाषा प्रस्तुत करें

परतत्त्व का स्वरूप

प्रकाश-विमर्शात्मक तत्त्व की और स्वात्मदेवता की चर्चा अभी हो चुकी है। अभिनवगुप्त ने ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी (भा. २, पृ. २०९) में विज्ञान को ब्रह्मस्वरूप माना है। विज्ञानभैरव नाम भी इसी ओर इंगित करता है। सत्तर्क और स्वानुभव से जिस स्वात्मदेवता की प्रत्यभिज्ञा होती है, वह परतत्त्व यहाँ प्रकाशविमर्शात्मक माना गया है। यह सारा जगत् उस प्रकाश-विमर्शात्मक परतत्त्व का, 'अहम्' का विलास है। अपनी अहन्ता को यह परिमित प्रमाता के रूप में भौतिक शरीर तक सीमित कर लेता है और फिर वही परप्रमाता के रूप में पूरे विश्व में विश्वाहन्ता के रूप में इसका विस्तार कर लेता है। इस स्थिति में वह पूरे विश्व को अपना कुटुम्ब नहीं, किन्तु स्वयं अपना ही स्वरूप मानता है। परतत्त्व की इससे भी सरल परिभाषा शाक्त त्रिपुरादर्शन की है। वहाँ बिन्दुत्रय (शुक्ल-रक्त-मिश्र) के समष्टीभूत समरस महाबिन्दु को ही संवित्स्वरूपा परा भगवती माना गया है।

इस प्रकार हमने यहाँ आगम-तन्त्रशास्त्र की सामाजिक दृष्टि की और उसकी आध्यात्मिक पृष्ठभूमि की संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत की है। आजकल मानवाधिकारों की बहुत चर्चा है। ऊपर वर्णित सामाजिक दृष्टि में मानव के केवल भौतिक अधिकारों की ही चर्चा नहीं है, बल्कि व्यक्ति अपनी आध्यात्मिक संपूर्णता को भी प्राप्त कर सकता है। तब वह अपने अधिकारों तक ही सीमित न रहकर अभावग्रस्त मानवता की सहायता के लिये व्यक्तिगत एवं सामाजिक जिम्मेदारियों, कर्तव्यों के प्रति भी सजग हो उठता है। अपने इन अधिकारों और कर्तव्यों के प्रति व्यक्तिगत अथवा समूहिक रूप से आगे बढ़ने में जो बाधाएं आती हैं, उनकी यहाँ स्पष्ट रूप से चर्चा की गयी है। सेमेटिक धर्मों के अनुयायियों का यह आग्रह है कि उनके धर्म में दीक्षित होने पर ही व्यक्ति को मुक्ति मिलेगी और वह भी एक नियत अवधि के आने पर ही। आगम-तन्त्रशास्त्र इस प्रकार के सभी आग्रहों और नाना प्रकार की शंकाओं के साथ शुद्धि-अशुद्धि, विधि-निषेध आदि से भी व्यक्ति को ऊपर उठाकर साथ ही सत्तर्क और स्वानुभव के सहारे सही निष्कर्ष तक पहुँचाकर सर्वविध उन्नति का मार्ग प्रशस्त करता है।

आधुनिक साम्यवाद द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की पृष्ठभूमि में जय-पराजय की भावना को, राग-द्वेष को उभारता है। इसको साम्यवाद नाम देना एक विडम्बना ही है। प्रो. मुकुटबिहारीलाल ने अपने ग्रन्थ 'साम्ययोग मीमांसा' में इसको स्पष्ट रूप दिया है, यह अभी हमने ऊपर बताया है। तन्त्रागमशास्त्र में परिपूर्ण समता-दृष्टि का विकास बहुत पहले हो चुका था। इस समता-दृष्टि की पृष्ठभूमि में समन्वयात्मक दृष्टिकोण के आधार पर सामंजस्य स्थापित कर मानव अपने भीतर देवभाव को जगा सकता है। इतना ही नहीं, वह "परस्परदेवो भव" इस उपनिषत्कल्प विधिवाक्य के सहारे पूरी मानवता में भी देवभाव को देख सकता है। योगी अरविन्द ने अपने अतिमानस योग में इसी स्थिति की तो कल्पना की है। भारतीय दर्शनों में जीवन्मुक्ति की अवधारणा मान्य है। इस स्थिति का वर्णन करते हुए शास्त्रों में बताया गया है कि यहाँ पुण्य और पाप की भी कोई सत्ता बची नहीं रहती। यह स्थिति कर्मसाम्य के नाम से वहाँ वर्णित है। पुण्य-पाप से ऊपर उठकर मानव पूरी मानवता में अपने स्वत्व का विस्तार कर लेता है। तब उसमें बुद्धत्व एवं शिवत्व की भावना अभिव्यक्त हो उठती है।

●

भक्ति आन्दोलन

एक समय ऐसा था, जब पूरे भारत में भक्ति-आन्दोलन की शीतल धारा प्रवाहित हो रही थी। इसका मूल प्रेरणास्रोत दक्षिणभारत के भक्ति-आन्दोलन को माना जाता है। दक्षिणभारत के भक्तों की भागवत महापुराण (११.५.३८-४०) में भी प्रशंसा की गयी है। ऐसे अनेक वचन संस्कृत भाषा (भागवतमाहात्म्य १.४८, ५०) तथा इतर भाषाओं में भी मिलते हैं, जिनका अभिप्राय यह है कि भक्ति द्रविड़ देश में उत्पन्न हुई। कर्णाटक, महाराष्ट्र और गुजरात होते हुए वह वृन्दावन पहुँची तथा वहीं से वह सारे देश में फैली। पूरे असम में भी इसका विस्तार हुआ।

वैसे तो भक्ति-सम्प्रदाय की भी उत्पत्ति वेद से ही मानी जाती है, किन्तु विष्णु-शिव, राम-कृष्ण संबन्धी जिस भक्ति की हम विवेचना करना चाहते हैं, उसका स्पष्ट स्वरूप वहाँ लक्षित नहीं होता। हाँ, विष्णु और शिव की भक्ति के अद्यावधि परिज्ञात प्राचीनतम रूप, पांचरात्र और पाशुपत मत की कुछ झलक हमें वहाँ देखने को मिल जाती है। शतपथब्राह्मण (१२.३.४; १३.६.१) में पांचरात्र सत्र का उल्लेख है और छान्दोग्य उपनिषद् (७.१.२) में एकायन विद्या का, जो एक प्रकार से पांचरात्र संहिताओं का पर्यायवाची शब्द है, उल्लेख मिलता है। वहाँ (३.१७.१-६) घोर आंगिरस द्वारा देवकीपुत्र कृष्ण को दिये गये उपदेश में सत्य, अहिंसा का भी समावेश है, जो पांचरात्र मत के मूल सिद्धान्त हैं। इसी तरह से कृष्ण और शुक्ल यजुर्वेद के रुद्राध्याय तथा कृष्ण यजुर्वेद की मैत्रायणी संहिता (२.९.१; २.९.१०) तथा तैत्तिरीयारण्यक (१०.४३.४७) में रुद्र के ईशान, तत्पुरुष, अघोर, सद्योजात, वामदेव— इन नामों के साथ आये पाँच मन्त्रों का, जिनका समावेश पुष्पांजलि मन्त्रों में आज भी प्रचलित है और जिनको शैवागमों में पंचमन्त्रतनु शिव के पांच अंगों के रूप में मान्यता प्राप्त है, पूरी आनुपूर्वी से उल्लेख मिलता है। इन पाँच मन्त्रों में शिव के जिन पाँच स्वरूपों की स्तुति की गयी है, वे ही परवर्ती पाशुपत मत के मूल आधार है। तो भी आज उपलब्ध वैदिक वाङ्मय में पांचरात्र और पाशुपत मतों का वह स्वरूप देखने को नहीं मिलता, जो इन सम्प्रदायों के वर्तमान उपलब्ध साहित्य में देखने को मिलता है। हाँ, पाशुपतसूत्रों के पाँच अध्यायों में इन पाँच मन्त्रों की ही व्याख्या की गयी है।

महामुनि पाणिनि (४.३.९८; ५.२.७६) और पतंजलि के ग्रन्थों तथा प्राचीन शिलालेखों में शिव-भागवतों और वासुदेव-संकर्षण के उपासकों का उल्लेख मिलता है। महाभारत (शान्ति. ३४९.६७-६८) में भी इन दोनों सम्प्रदायों का तथा उनके सिद्धान्तों का वर्णन किया गया है।

पांचरात्र (वैष्णव) संहिताओं और शैवागमों का प्रादुर्भाव किन परिस्थितियों में कब हुआ, यह कह पाना तो कठिन है, परन्तु धर्मशास्त्रकारों ने धर्म का निर्णय करने में इनको भी एकमत से प्रमाण माना है। मूर्तियों और मन्दिरों की निर्माणविधि तथा पूजापद्धति का विशद वर्णन इन्हींमें मिलता है। इन शैव और वैष्णव आगमों के अनुशीलन से ऐसा लगता है कि इनका आविर्भाव भी पुण्यभूमि आर्यावर्त में ही हुआ। अभिनवगुप्त (तन्त्रा. ३७. ३८) आदि आचार्यों ने इसको स्वीकार किया है, किन्तु आज इन आगमों का परम्परागत अध्ययन केवल दक्षिणभारत में ही सुरक्षित है। ऐसा कहा जा सकता है कि भारतीय भक्ति सम्प्रदाय के मूल प्रेरणास्रोत ये आगम ग्रन्थ ही हैं।

दक्षिणभारत में जब आलवारों का वैष्णव भक्ति आन्दोलन और नायनारों का शैव भक्ति आन्दोलन चल रहा था, लगभग उसी समय उत्तरभारत में सिद्धाचार्यों का रहस्यवादी भक्ति आन्दोलन अपने चूड़ान्त उत्कर्ष तक पहुँच चुका था। इनमें कुछ समानताएं और कुछ असमानताएं थीं। ये लोग इस बात को मानते थे– "जात-पांत पूछे नहिं कोई, हरि को भजे सो हरि को होई"। इसीलिये इन सभी संप्रदायों में सभी वर्णों और धर्मों के उच्च कोटि के भक्तों और सिद्धों को समान आदर के साथ एक ही 'भक्तमाल' में पिरोया गया है। इनकी सबसे बडी असमानता यह थी कि दक्षिणभारत के भक्ति आन्दोलन के प्रेरणास्रोत आगम-ग्रन्थ थे, तो उत्तरभारत के सिद्धाचार्य रहस्यवादी तन्त्रशास्त्र (बौद्ध, शैव और शाक्त) से प्रभावित थे। ऐसा कहा जा सकता है कि आगम-ग्रन्थों में सात्त्विक भाव की प्रधानता थी, जबकि रहस्यवादी तन्त्रशास्त्र राजस और तामस भावों को अधिक उद्वेलित करता था। इसी विषमता का यह परिणाम हुआ कि अपनी शुद्ध सात्त्विकता के आधार पर दक्षिणभारत में प्रादुर्भूत भक्ति आन्दोलन पूरे भारत में फैल गया। इसका श्रेय दक्षिणभारत के वैष्णव सन्तों (आलवारो) के साथ उन आगम-ग्रन्थों को मिलना चाहिये, जिनकी वहाँ लम्बी परम्परा रही है और जिन्होंने विषम परिस्थितियों में भी उपनिषदों की परम्परा को आगे बढ़ाने में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है।

हम बता चुके हैं कि आवाप और उद्वाप, ग्रहण और त्याग की प्रक्रिया के आधार पर भारतीय संस्कृति का विकास हुआ है। जैन और बौद्ध धर्म ने जब हिंसाबहुल कर्मकाण्ड के साथ वेदों का भी विरोध किया, तो आगम-ग्रन्थों के माध्यम से एक नई पूजाविधि का आलोक फैला और जैन एवं बौद्ध धर्म भी उससे अछूते न रह सके। वैदिक संस्कृति के सभी उत्कृष्ट तत्त्वों का इनमें समावेश था। इसी तरह से आगम और तन्त्रशास्त्र के कर्मकाण्ड में भी अत्यधिक जटिलता आ जाने पर भक्ति आन्दोलन का प्रादुर्भाव हुआ, जिसमें भावना पर अधिक बल दिया गया, चित्त के परिष्कार को सर्वोत्तम विधि माना गया। योगवासिष्ठ को हम इस शास्त्र का सर्वोत्तम ग्रन्थ मान सकते हैं। यों तो इस प्रक्रिया का प्रारम्भ भगवद्गीता में ही हो चुका था, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि साधनापद्धति का स्पष्ट विकास प्रधानतया आगम-ग्रन्थों के आधार पर दक्षिणभारत में हुआ।

दक्षिणभारत की इस भावनाविधि के प्रतिनिधि वैष्णव सन्त आलवार के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनके वचनों को तमिलवेद की संज्ञा दी गयी है। इनकी संख्या बारह है। शैव सन्त 'नायनार' के नाम से जाने जाते हैं। इनकी संख्या तिरसठ है। जैन धर्म में भी तिरसठ शलाकापुरुषों का वर्णन मिलता है। ऊपर

सिद्धाचार्यों की चर्चा आ चुकी है। इनकी संख्या चौरासी मानी जाती है। ऐसा कहा जाता है कि इनमें प्रधानता बौद्ध मत के अनुयायियों की थी। इस तरह से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि इस भक्ति आन्दोलन में सभी धर्मों और वर्णों के महान् सन्तों ने अपना योगदान किया था। वर्णाश्रम-व्यवस्था में भी यद्यपि ऊंच-नीच की कोई भावना नहीं है, किन्तु कालान्तर में उपस्थित इस दोष का परिमार्जन इन सन्तों की वाणी से हुआ। औपनिषद ब्रह्मभावना का जो स्वरूप "अहं ब्रह्मास्मि", "शिवोऽहम्", "वसुधैव कुटुम्बकम्" जैसे रूपों में श्रुति, आगम और पुराणों में मिलता है; इन सन्तों की वाणियों में और व्यक्तिगत जीवन में भी उसका चूडान्त उत्कर्ष देखने को मिलता है।

शाक्त उपासना के क्षेत्र में भी दक्षिणभारत का अपना विशेष स्थान है। भारत में शक्तिपूजा की तीन विधियां प्रचलित हैं। इनको केरल, काश्मीर और गौड संप्रदाय के नाम से जाना जाता है। इन संप्रदायों की पूजाविधि का शक्तिसंगमतन्त्र में विस्तार से वर्णन मिलता है। इस तन्त्र में भारतवर्ष को ५ प्रस्थों और ५६ प्रदेशों में बाँटा गया है। इनमें से अंग से मालव पर्यन्त २९ प्रदेशों में केरल संप्रदाय का प्रचलन बताया गया है और इन तीनों संप्रदायों में केरल संप्रदाय को ही प्रधान माना गया है। दक्षिणभारत में श्रीचक्र और भगवती त्रिपुरसुन्दरी की उपासना भगवत्पाद शंकराचार्य के द्वारा सौन्दर्यलहरी में प्रतिपादित समय मार्ग के अनुसार होती है। यह समय मार्ग ही केरल संप्रदाय के नाम से प्रसिद्ध है। इसीको दक्षिण मार्ग भी कहते हैं। यह भावना-प्रधान मार्ग है। इसमें आन्तर वरिवस्या को प्रधानता दी गयी है। यह आन्तर वरिवस्या कुण्डलिनी शक्ति को जगाकर षट्चक्र का भेदन करते हुए सहस्रार कमल तक पहुँच कर वहाँ कुल कुण्डलिनी का अकुल शिव के साथ सामरस्य का सम्पादन कर पूरी की जाती है। यह एक योगप्रधान प्रक्रिया है।

शैव-शाक्त दर्शन में शिव पंचकृत्यकारी माने जाते हैं। सृष्टि, स्थिति, संहार के अतिरिक्त निग्रह और अनुग्रह भी उसके कृत्य हैं। ईश्वर का अनुग्रह होने पर, जिसे इस दर्शन में शक्तिपात नाम दिया गया है, योग्य गुरु की उपलब्धि होती है और उसीकी कृपा से इस योगविधि का रहस्य खुल सकता है। साधारण साधक इस मार्ग पर नहीं चल सकता, अतः योग्यता-सम्पादन के लिये उसको बाह्य वरिवस्या का सहारा लेना पड़ता है। केरल मार्ग, समय मार्ग, दक्षिण मार्ग में यह उपासना सात्त्विक द्रव्यों के द्वारा संपादित होती है। पंचतत्त्व की उपासना में भी यहाँ दुग्ध जैसे सात्त्विक द्रव्यों के ग्रहण की अनुकल्पविधि विहित है।

शाक्त उपासना अधिकारी के भेद से नाना प्रकार के विधि-विधानों से विभूषित है। यह मानवमात्र के कल्याण के लिये प्रवृत्त है। अत्यन्त निम्न स्तर के मानवों का भी उद्धार करने के लिये, उनके मन को परिष्कृत करने के लिए, उनकी आध्यात्मिक उन्नति का पथ प्रशस्त करने के लिये, उनके लिये विहित साधना में पंचतत्त्व का विधान किया गया है, जिससे कि वे अपनी स्वाभाविक स्थिति में रहते हुए भी उस उच्च स्थिति तक पहुँच सकें, जबकि साधक 'अहं ब्रह्मास्मि', 'शिवोऽहम्' इन वाक्यों में प्रतिपादित ब्रह्मतत्त्व का साक्षात्कार करने में समर्थ हो जाता है, उसमें 'विश्व हन्ता' का विकास हो जाता है। इस साधनाविधि को दक्षिणभारत में उजागर करने वाले अनेक विद्वान् हुए हैं, जिनमें

शिवानन्द, पुण्यानन्द, अमृतानन्द, महेश्वरानन्द आदि के नाम अग्रगण्य हैं। सन्त ज्ञानेश्वर ने भगवद्गीता पर ज्ञानेश्वरी टीका लिखते समय इन्हीं आचार्यों की दृष्टि का अनुसरण किया है।

आजकल समाजवाद और साम्यवाद की बड़ी चर्चा की जाती है। पाश्चात्य संस्कृति की यह अद्भुत देन मानी जाती है। किन्तु हम यह भूल जाते हैं कि भारतीय तन्त्रागमशास्त्र में यह दृष्टि बहुत पहले ही विकसित हो चुकी थी। शक्तिसंगमतन्त्र (ताराखण्ड, १८२१) में समताष्टक मार्ग की चर्चा आती है। समताष्टक मार्ग का अभिप्राय उस संप्रदाय से है, जो आठ प्रकार की समानता में विश्वास रखता है। इस समताष्टक मार्ग की व्याख्या दक्षिणभारत के महान् शाक्त आचार्य महेश्वरानन्द ने अपने ग्रन्थ महार्थमंजरी की स्वोपज्ञ परिमलव्याख्या (पृ. १६८) में की है। इस विषय की चर्चा पहले भी आ चुकी है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भक्ति आन्दोलन की अनेक विधाओं के उन्नयन में दक्षिणभारत का अपना विशेष योगदान है।

सिद्ध और नाथ

दक्षिणभारत के भक्ति आन्दोलन के प्रसंग में उत्तरभारत के सिद्धों और नाथों के अवदान की चर्चा कर लेना भी एक प्रासंगिक विषय है। ऊपर इनकी कुछ चर्चा हो भी चुकी है। उत्तरभारत के मध्यकालीन तथा परवर्ती साहित्य में सिद्ध और नाथ शब्द बहुत प्रचलित हैं, किन्तु हमारी समझ में इनके सही अर्थों का निर्धारण अभी तक नहीं हो पाया है। सिद्धों और नाथों का ही नहीं, तन्त्रशास्त्र का आविर्भावकाल भी आठवीं से बारहवीं शताब्दी तक माना जाता है। दक्षिणभारत के आलवार और अलियार सन्तों के आविर्भाव का काल भी यही है। सिद्ध, नाथ, आलवार, अलियार ये सभी विभिन्न धर्मों के अनुयायी हैं, किन्तु इन सभी में दो समानताएं निर्विवाद रूप से मिलती हैं। एक तो यह कि इनमें सभी वर्गों (ब्राह्मण से लेकर चाण्डाल तक) को समान आदर प्राप्त था और दूसरा यह कि ये सभी तन्त्रागमीय धर्म और संस्कृति से प्रभावित थे।

तन्त्रागमशास्त्र का आविर्भाव-काल आठवीं से बारहवीं शताब्दी मानकर अनेक विद्वानों ने इस शास्त्र के साथ न्याय नहीं किया है और इसीलिये वे अनेक विसंगतियों के शिकार हो गये हैं। संहिता, ब्राह्मण, उपनिषद्, पाणिनि की अष्टाध्यायी, शिलालेख, रामायण, महाभारत ही नहीं; जैन और बौद्ध धर्म के प्राकृत और पालि भाषा के साहित्य के उद्धरणों से भी पांचरात्र और पाशुपत के नाम से प्रसिद्ध वैष्णव और शैव धर्मों की स्थिति मान्य हो चुकी है। पाशुपत मत के आचार्य लकुलीश एक ऐतिहासिक व्यक्ति हैं और इन्होंने पाशुपत सूत्रों की रचना की है। इनका स्थितिकाल ईसा की पहली-दूसरी शताब्दी माना गया है। पांचरात्र और पाशुपत मत का प्राचीन साहित्य आगम के नाम से प्रसिद्ध है और इन्हींमें तन्त्रागमशास्त्र का प्राचीन स्वरूप देखा जा सकता है।

आगमशास्त्र और बौद्ध महायान ग्रन्थों का तुलनात्मक अनुशीलन प्रस्तुत न हो पाने के कारण ही हमें तन्त्रशास्त्र पर विदेशी प्रभाव की असत्कल्पना करनी पड़ती है। पांचरात्र, पाशुपत, जैन और बौद्ध प्रभाव का मूल्यांकन किये बिना जैसे महाभारत और पुराणों का, आलवारों और अलियारों का अनुशीलन वस्तुतः अधूरा है; उसी तरह सिद्ध साहित्य ही नहीं, बौद्ध तन्त्रों का अध्ययन भी आगमशास्त्र और विशेषकर उसकी कौल शाखा के अध्ययन के बिना अधूरा ही रह जाता है। अभिनवगुप्त ने तन्त्रालोक में आगम और तन्त्रशास्त्र के सभी प्राचीन संप्रदायों का विस्तार से वर्णन किया है। उनकी पृष्ठभूमि में बौद्ध तन्त्रों का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि वज्रयान, कालचक्रयान और सहजयान— ये सब मत्स्येन्द्रनाथ के द्वारा प्रवर्तित कौलशास्त्र के ही विभिन्न रूप हैं।

अभिनवगुप्त और अघोरशिवाचार्य ने कौलशास्त्र का प्रथम आचार्य मत्स्येन्द्र को माना है। प्रायः अधिकांश विद्वान् मत्स्येन्द्रनाथ का समय नवीं शती का अन्तिम चरण या १०वीं शती का प्रथम चरण मानते हैं। डॉ. शाहिदुल्ला द्वारा निर्धारित मत्स्येन्द्र का ७वीं शती का समय सर्वथा भ्रमात्मक माना जाता है, किन्तु इस तरह के कथन गलत आधारों के कारण स्वयं अपने आप में कमजोर हैं। इसके विपरीत डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने मत्स्येन्द्रनाथ का समय ५वीं या छठीं शताब्दी में माना है। डॉ. पाण्डेय जी ने यह स्थापना मत्स्येन्द्रनाथ की लम्बी शिष्य-परम्परा को आधार मान कर की है। इस लम्बी नामावली में गोरक्षनाथ की कहीं कोई चर्चा नहीं है। बारहवीं शताब्दी तक के किसी संस्कृत ग्रन्थ में गोरक्षनाथ का कोई उल्लेख नहीं मिलता और न कहीं गोरक्षनाथ के गुरु के रूप में मत्स्येन्द्रनाथ की ही चर्चा मिलती है। नाथ संप्रदाय में मत्स्येन्द्रनाथ को उसका आद्य प्रवर्तक और गोरक्षनाथ को उनका शिष्य मानने का आग्रह ही मत्स्येन्द्र के आविर्भाव काल को आगे खींच ले जाने के लिये जिम्मेदार है।

डॉ. प्रबोधचन्द्र वागची को कौलज्ञाननिर्णय आदि ग्रन्थों की पाण्डुलिपि न मिली होती और मत्स्येन्द्र का उल्लेख अभिनवगुप्त ने न किया होता, तो शायद इनके समय में और भी खींचतान की गई होती, क्योंकि महार्थमंजरी भी गोरखनाथ की कृति मानी जाती है। यह सही है कि महार्थमंजरीकार ने अपना व्यवहार का नाम गोरक्ष और दीक्षा नाम महेश्वरानन्द बताया है, किन्तु वे अपने गुरु का नाम महाप्रकाश और परमगुरु का नाम शिवानन्द बताते हैं। शिवानन्द की ऋजुविमर्शिनीटीका तथा अन्य ग्रन्थों का इन्होंने उल्लेख किया है। ऋजुविमर्शिनी नित्याषोडशिकार्णव की टीका है और यह ग्रन्थ अब प्रकाशित हो चुका है। शिवानन्द के प्रमाण पर ही उनका समय १३वीं शताब्दी से पहले किसी भी मूल्य पर नहीं लाया जा सकता। महार्थमंजरीकार को गोरक्षनाथ मानकर चलने पर उनका संबन्ध मत्स्येन्द्रनाथ के साथ किसी भी तरह से नहीं जोड़ा जा सकता। एक तो वे स्वयं ही अपने गुरु का नाम महाप्रकाश बताते हैं, मत्स्येन्द्र नहीं, दूसरे मत्स्येन्द्रनाथ को नाथ संप्रदाय का प्रथम प्रवर्तक मानने वाले भी अब इसके लिये बाध्य हैं कि वे उनका समय ९वीं-१०वीं शताब्दी से अधिक आगे नहीं ले जा सकते। इसी प्रसंग में यह भी ध्यान देने की बात है कि अभी हाल में वाराणसी से प्रकाशित गोरक्षसंहिता का भी गोरक्षनाथ से कोई संबन्ध नहीं है। इस ग्रन्थ का वास्तविक नाम मतोत्तर है। इसके साथ गोरक्षनाथ का नाम कैसे जुड़ गया, यह एक गवेषणा का विषय है।

डॉ. प्रबोधचन्द्र बागची के मत से कौलज्ञाननिर्णय मत्स्येन्द्रनाथ की कृति है, किन्तु स्वयं कौलज्ञाननिर्णय में ही पंचपंचाशिका, कुलपंचाशिका, कुलसागर, भैरवोद्यान, चन्द्रकौल, सिद्धामृत, ऊर्मिकौल, कौलसद्भाव आदि ग्रन्थों के नाम मिलते हैं और इनमें से अनेक ग्रन्थ तन्त्रालोक और उसकी टीका में उद्धृत हैं। वस्तुतः अभिनवगुप्त और उसके टीकाकार जयरथ के प्रमाण पर सभी कुलशास्त्रों के अवतारक मत्स्येन्द्रनाथ हैं। अघोरशिव (मृगेन्द्रागमवृत्तिदीपिका, विद्यापाद, पृ. ७४) ने हिरण्यगर्भ, कपिल और मत्स्येन्द्र को क्रमशः वेद, सांख्य और कौलशास्त्र का प्रवर्तक माना है। इसी परम्परा के आधार पर कौलज्ञाननिर्णय जैसे ग्रन्थों के अवतारक भी मत्स्येन्द्र ही मान लिये गये हैं। इन

ग्रन्थों की मातृका की तिथि के आधार पर मत्स्येन्द्रनाथ का समय निर्धारित नहीं किया जा सकता। तन्त्रालोककार अभिनवगुप्त के पहले कुल और क्रम आगम के आचार्यों की एक लम्बी परम्परा है और यह पूरी परम्परा मत्स्येन्द्र के सिद्धान्तों से अनुप्राणित है। सिद्धान्तशैव मत के ग्रन्थ मृगेन्द्रागम में भी योगिनीकौल और सिद्धकौल संप्रदाय का उल्लेख है।

छठी शताब्दी के आस-पास बौद्ध धर्म में सहसा तान्त्रिक प्रवृत्तियों के प्रवेश की बात पायी जाती है और यह भी स्वीकार किया जाता है कि इससे इतनी शीघ्रता से बौद्ध धर्म का रूप परिवर्तित होता है कि उसके मूल रूप का कहीं पता नहीं चलता। इस तरह के लेखक तान्त्रिक शब्द का प्रयोग एक संकीर्ण अर्थ में करते हैं, जिसमें पंचामृत-पंचमकार जैसे द्रव्यों का विधान हुआ है। उसका स्वरूप बौद्ध गुह्यसमाजतन्त्र और ऊपर चर्चित कौलज्ञाननिर्णय में एक सरीखा है।

तन्त्रालोक के अन्तिम आह्निक में अभिनवगुप्त श्रीकण्ठनाथ की आज्ञा से सिद्धों के अवतार की चर्चा करते हुए कहते हैं कि अद्वैत, द्वैत और द्वैताद्वैत शैवागमों के क्रमशः त्र्यम्बक, आमर्दक और श्रीनाथ नाम के आचार्य हुए और इन्होंने अपने-अपने संप्रदाय के मठों की स्थापना की। अद्वैतवादी सिद्ध त्र्यम्बक की दुहिता के वंश में भी एक मठ स्थापित हुआ। शिवदृष्टिकार सोमानन्द त्र्यम्बक को अपना पूर्वज मानते हैं। इनके पुत्र का नाम संगमादित्य, संगमादित्य के पुत्र वर्षादित्य, वर्षादित्य के अरुणादित्य और अरुणादित्य के पुत्र का नाम आनन्द था। ये आनन्द सोमानन्द के पिता थे। इस प्रकार अद्वयवादी प्रत्यभिज्ञादर्शन की यह परम्परा बनती है। त्र्यम्बक की दुहिता का संबन्ध कामरूप में प्रादुर्भूत कौल संप्रदाय से था। द्वैतवादी आमर्दक मठ कवचशिव, सदाशिव, हृदयशिव, व्योमशिव जैसे सिद्धान्तशैव दर्शन के आचार्यों से संबद्ध रहा है।

अभिनवगुप्त ने ही तन्त्रालोक में बताया है कि मत्स्येन्द्रनाथ ने स्वोपार्जित ज्ञान को छः राजपुत्रों में बाँट दिया और इन राजपुत्रों की परंपरा को आनन्द, आवलि, बोधि, प्रभु, पाद और योगी— इन छः शब्दों से जोड़ दिया, अर्थात् इन परंपराओं में दीक्षित होने वाले शिष्यों के नामों के अन्त में आनन्द आदि शब्दों के जोड़ने का भी विधान कर दिया। इनमें से आनन्द और योगी शब्द शैवशास्त्र परंपरा में और बोधि, प्रभु तथा पाद शब्द बौद्ध परम्परा में मिलते हैं।

सिद्धों की नामावली में नाना रूपों में प्रायः सर्वत्र घूम-फिर कर पहला नाम मत्स्येन्द्र का ही आता है। ये ही कौल सम्प्रदाय के प्रथम प्रवर्तक थे। इस कौल मार्ग की साधना-पद्धति दो प्रकार की थी— एक कृतक और दूसरी सहज। कुंडलिनी की साधना कृतक तथा समरसस्थिति को सहज साधना कहा गया है। इन दोनों प्रकार की साधनाओं में लीन योगी ही सिद्ध कहलाते थे। यह साधना शैव, बौद्ध और जैन सभी धर्मों में मान्य थी। यह कहा जा सकता है कि ये सिद्ध वर्ण, जाति और धर्म से अतीत रहते हुए भी कभी-कभी सभी धर्मों की और कभी-कभी किसी एक धर्म की विधियों का अनुवर्तन करते थे। बौद्ध धर्म में रूपान्तर उपस्थित करने वाला यही तत्त्व था।

यह ध्यान देने की बात है कि ऊपर वर्णित छः ओवल्लियों में नाथ शब्द नहीं आया है। संभवतः क्रमदर्शन में इस शब्द को मान्यता मिली हो, जिसमें इस दर्शन के प्रथम आचार्य को अवतारकनाथ या शिवानन्दनाथ नाम दिया गया है। त्रिपुरा दर्शन के आचार्यों के दीक्षा-नाम के साथ 'आनन्दनाथ' जोड़ा जाता है और परशुरामकल्पसूत्र में इसका स्पष्ट विधान है। त्रिपुरा संप्रदाय के ग्रन्थों में नौ संख्या के नाथों का उल्लेख है, किन्तु नाथ-संप्रदाय में प्रचलित नामावली से यह भिन्न है। त्रिपुरा संप्रदाय की इस नामावली में भी गोरक्षनाथ का नाम नहीं है। त्रिपुरा संप्रदाय में गुरुपंक्ति दिव्यौघ, सिद्धौघ और मानवौघ परम्परा में विभक्त है तथा इन सभी आचार्यों के नाम के अन्त में 'आनन्दनाथ' जुड़ा हुआ है। इन नामावलियों का भी सिद्धों और नाथों से कोई संबन्ध प्रतीत नहीं होता। अभी ऊपर श्रीकण्ठनाथ और श्रीनाथ नामों की चर्चा आयी है। महाभारत के अनुसार उमापति श्रीकण्ठ पाशुपत मत के प्रवर्तक हैं। श्रीनाथ द्वैताद्वैत शैव दर्शन के आचार्य हैं। इस प्रकार यह 'नाथ' शब्द पाशुपत मत से जुड़ा प्रतीत होता है।

इस पृष्ठभूमि में इस उक्ति का कोई अर्थ नहीं रह जाता कि शैव नाथ-योगियों को भी सिद्ध कहा जाता था, किन्तु कतिपय कारणों से हिन्दी तथा कई अन्य प्रान्तीय भाषाओं में शैव योगियों के लिये नाथ तथा बौद्ध तान्त्रिकों के लिये सिद्ध शब्द प्रचलित हो गया। पूर्वोक्त भ्रान्तिपूर्व अध्ययन की ही यह परिणति है।

कालिदास के मेघदूत में सिद्धों का वर्णन देखकर यह कल्पना की जाती है कि उस समय मालवप्रदेश के दक्षिण में संभवतः महाराष्ट्र के आस-पास सिद्धों की परम्परा थी, जो सपत्नीक रहते थे। वस्तुतः अमरकोशकार ने देवयोनि में इन सिद्धों की गणना की है। कुमारसंभव में हिमालय का वर्णन करते समय भी कालिदास ने देवयोनिविशेष सिद्धों का ही वर्णन किया है। शक्तिसंगमतन्त्र में अनेक स्थलों पर ८४ सिद्धों और नौ नाथों का उल्लेख मिलता है, यह अभी बताया जा चुका है। वहाँ शाबर (भाषा) मन्त्रों के दो भेद बताये गये हैं— सिद्धोक्त और नाथोक्त। सिद्धों की संख्या ८४ और नाथों की संख्या ९ क्यों निश्चित की गई? इसका कोई संतोषजनक उत्तर हमारे पास नहीं है, किन्तु इतना हम निश्चयपूर्वक कहना चाहते हैं कि कौल संप्रदाय, वज्रयान और सहजयान के आचार्य सिद्धों और पाशुपत मत तथा हठयोग के आचार्य नाथों के नाम से प्रसिद्ध हुए हैं।

हठयोग के बीज यद्यपि पाशुपत योग और कौल संप्रदाय की कृतक शाखा में भी मिलते हैं, जिसमें वज्रयान का समावेश भी किया जा सकता है, तो भी इसको व्यवस्थित रूप देने वाले संभवतः गोरक्षनाथ थे। इस बात को पूरी तरह से नहीं स्वीकार किया जा सकता कि नाथ संप्रदाय मैथुनवर्जी था, क्योंकि वज्रौली जैसी क्रियाओं का वर्णन वहाँ मिलता है। यह माना जा सकता है कि कौल परम्परा की कुछ मान्यताओं का उन्होंने विरोध किया और पर्याप्त परिष्कार के बाद ही उससे इन्होंने अपना नाता जोड़ा। "जाग मछिन्दर गोरख आया" जैसी लोकोक्तियों का संबन्ध केवल इतना ही जोड़ा जा सकता है। हठयोग को व्यवस्थित स्वरूप बारहवीं अथवा तेरहवीं शताब्दी में मिला होगा, जबकि कुलमार्ग की प्रतिष्ठा मत्स्येन्द्र के द्वारा छठी शताब्दी में की जा चुकी थी।

यह माना जाता है कि सिद्धों के दोहों और वर्ण-पदों की साधनापद्धति पूर्व परम्परा से प्रभावित प्रतीत होती है। इसका मुख्य कारण कौल दृष्टि का इसमें प्रवेश ही है। ऐसा क्यों हुआ ? कुलशास्त्र की प्रवृत्ति किन परिस्थितियों में हुई ? यह अभी खोज का विषय है।

शैव धर्म को सिद्धान्तशैव, पाशुपत, कालामुख और कापालिक नामक चार संप्रदायों में बाँटकर इनका संबन्ध चार वर्णों से जोड़ा जाता है। वेदान्तसूत्र के तर्कपाद में भाष्यकारों और टीकाकारों ने इनका उल्लेख किया है और पुराणों में भी इनकी चर्चा है। अभिनवगुप्त और भास्करराय आदि तान्त्रिक आचार्यों ने कौलसाधना के बीज आरण्यकों और उपनिषदों में भी खोजे हैं। वज्रयानी साधना में और सिद्धों की दिनचर्या में कौल और कापालिक दोनों ही संप्रदायों के तत्त्व समान रूप से मिलते हैं। हमारी कल्पना के अनुसार हठयोग का संबन्ध पाशुपत संप्रदाय से किसी न किसी प्रकार का रहा है और लकुलीश पाशुपत परम्परा का कौल मार्ग से। सिद्धों और नाथों का अध्ययन इसी पृष्ठभूमि में होना चाहिये।

वस्तुतः कुलदर्शन एक योगविधि है। योगशास्त्र की प्रवृत्ति सभी धर्मों में अपनी-अपनी दृष्टि के अनुसार हुई है। कौल योगविधि और षडंग योगविधि को शैव, बौद्ध, शाक्त और जैन, सभी धर्मों में देखा जा सकता है। बौद्ध धर्म में इसका विकास वज्रयान, कालचक्रयान और सहजयान के नाम से हुआ। सिद्ध इस पूरी परम्परा से अनुप्राणित हैं। विज्ञानवाद और शून्यवाद की पृष्ठभूमि में इन तीनों यानों के सिद्धान्त शैव और शाक्त परम्परा में भी अपनी-अपनी व्याख्या के अनुसार स्वीकृत हैं। प्राणचार आनापानस्मृति का ही एक स्वरूप है। प्राणचार के वर्णन के प्रसंग में क्रमदर्शन में काली की और त्रिपुरादर्शन में तिथि-नित्याओं की उपासना में काल की सूक्ष्म परिभाषाएं दी गई हैं। कालचक्रयान से ये बहुत दूर नहीं है। सहजविधि का भी इनमें वर्णन है। हमने विज्ञानभैरव के उपोद्घात में इस विषय पर विचार किया है। पिण्ड, पद, रूप और रूपातीत के भेद से वर्णित कौल योगविधि का जैन योगशास्त्रों में भी विस्तार से वर्णन मिलता है। षडंग योग की भी सभी संप्रदायों में चर्चा है। अन्तर इतना ही है कि बौद्ध योग में अनुस्मृति के स्थान पर शैव योग में वीक्षण या अभिवीक्षण को तथा शाक्त और वैष्णव ग्रन्थों में तर्क को स्वीकार किया गया है। इन सभी योगविधियों की परस्पर तुलना के आधार पर ही किसी निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है। जैसे सहजयान या कालचक्रयान से वज्रयान कोई अलग संप्रदाय नहीं है, वैसे ही वज्रयान, शैव और शाक्त कौल दर्शन और जैन योग की रूपातीत ध्यानविधि में भी कोई अन्तर नहीं है।

सभी तान्त्रिक संप्रदायों में समानता की बात मानी जाती है। यह भी स्वीकार किया जाता है कि इन संप्रदायों पर योगाचार और माध्यमिक संप्रदायों का प्रभाव था, किन्तु साथ ही यह भी कहा जाता है कि भारतीय धार्मिक संस्कृति में सहसा तान्त्रिक साधनाओं का प्रादुर्भाव हुआ। ऐसा कहने वालों का अभिप्राय यह है कि भारतीय धार्मिक संस्कृति में यह आकस्मिक परिवर्तन विदेशी प्रभाव के कारण हुआ। इसकी परीक्षा अपेक्षित है।

पालवंशी राजाओं को बौद्धों और सहजयानी सिद्धों का आश्रयदाता माना जाता है। पालवंश के प्रतिष्ठापक गोपाल के अभिषेक की तिथि लगभग ७५० ई. अनुमानित की गई है। ७७० ई. में गोपाल के उपरान्त धर्मपाल और धर्मपाल के उपरान्त ८१० ई. में देवपाल गद्दी पर बैठा। इसी अवधि में किसी समय चीन से आयातित ताओवाद का सिद्धों पर प्रभाव पड़ा और तभी से सिद्धों की सहजयान शाखा का विकास हुआ। इस प्रसंग में हम अभी हाल में नेपाल से प्रकाशित प्रतिष्ठालक्षणसारसमुच्चय नामक ग्रन्थ की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट कराना चाहते हैं। इसके लेखक वैरोचन शिवाचार्य हैं। ग्रन्थ के अन्त में इन्होंने अपना परिचय इस प्रकार दिया है—

आसीद् गोपालभूपः सकलवसुमतीभूषणो दोषहीन-
स्तस्याङ्गंशो महात्मा कृतनृपतियतिर्धीरनाथः पृथुश्रीः ।
तत्पुत्रः प्राप्तकीर्तिर्वचनचतुरिमा विश्रुतो भूमिचक्रे
चक्रे सोऽयं प्रतिष्ठाविधिमतिललितं पञ्चवक्त्रोपगीतम् ।।
श्रीमन्मत्तमयूरजो हरसमः शैबोऽर्जुनद्योतकः
प्रख्यातो विमलादिकः शिवपरश्चाचार्यवर्योऽभवत् ।
पूज्यो निर्भरभूमिपस्य च गुरुस्तेनाभिषिक्तः स्वयं
ज्ञानीशानशिवस्तदङ्घ्रिजनितो वैरोचनो देशिकः ।।
(प्र. सा. स. ३२.७१-७२)

इन श्लोकों में गोपाल के पुत्र का नाम धीरनाथ बताया गया है, जो धर्मपाल का ही दीक्षानाम है। धीरनाथ के पुत्र वैरोचन ने इस ग्रन्थ की रचना की है। आमर्दक मठ की द्वैतवादी शैव-परम्परा की एक शाखा का नाम मत्तमयूर था। निर्भर भूमिपाल के गुरु विमलशिव थे। विमलशिव के शिष्य ईशानशिव से वैरोचन ने दीक्षा ली थी। ये शैवाचार्य भट्ट कुमारिल की उक्ति के कायल नहीं थे। इनके ग्रन्थों में भगवान् बुद्ध भी विष्णु के दस अवतारों में वर्णित हैं। इस परिस्थिति में पालवंश के राजाओं को केवल बुद्ध धर्म और बौद्ध सिद्धान्तों का आश्रयदाता मानना सही नहीं है।

अपने लेखन में हमने तन्त्रशास्त्र के आविर्भावकाल को दो भागों में बाँटा है। अभिनवगुप्त से पहले आविर्भूत शास्त्र प्राचीन और उसके बाद विकसित शास्त्र नवीन है। प्राचीन साहित्य पर विदेशी प्रभाव की बात को हम स्वीकार नहीं करते। जब हम अपनी परम्परा की कड़ियों को न जोड़ सकें, तभी बाह्य प्रभाव की बात मानना उचित हो सकता है। अभिनवगुप्त आदि तान्त्रिक विद्वानों ने सौत्रामणी याग से तथा आरण्यक ग्रन्थों से कौलविधि की परम्परा को जोड़ा है। इस क्षेत्र में अभी अधिक स्पष्ट अनुसन्धान अपेक्षित है। हमारे मत के अनुसार ताओवाद के प्रभाव की जो कालसीमा बतायी गयी है, उससे पहले ही कौल योग और उसकी सहजविधि का यहाँ प्रसार हो चुका था। इसके विपरीत यही मानना उचित होगा कि चीन के ताओवाद पर भी मत्स्येन्द्र की कौलविधि का प्रभाव पड़ा।

कुब्जिकातन्त्र के "गच्छ त्वं भारते वर्षे" इस प्रसिद्ध श्लोक के प्रमाण पर तन्त्रों पर विदेशी प्रभाव की बात सिद्ध की जाती है, किन्तु इस तरह के ग्रन्थों की प्राचीनता परीक्षणीय है। डॉ. प्रबोधचन्द्र

बागची ने कंबोडिया से प्राप्त शिलालेख में उद्धृत चार तन्त्र-ग्रन्थों का विवरण प्रस्तुत करते हुए संमोहन तन्त्र को एक प्राचीन ग्रन्थ सिद्ध करने का प्रयास किया था, किन्तु हम बता चुके हैं कि यह ग्रन्थ शक्तिसंगमतन्त्र का एक अंश है, जो १६-१७ वीं शताब्दी की रचना है।

पीठ, उपपीठ, क्षेत्र, उपक्षेत्र, सन्दोह, उपसन्दोह, पीलव, उपपीलव, श्मशान, उपश्मशान के भेद से अनेक पवित्र तीर्थ-स्थानों (सिद्धपीठों) का उल्लेख हेवज्रतन्त्र, तन्त्रालोक और उसकी टीका विवेक में उद्धृत अनेक ग्रन्थों, शैवसिद्धान्त के प्राचीन ग्रन्थों और कौलज्ञाननिर्णय में भी समान रूप से मिलता है। इन ग्रन्थों में उल्लिखित इन पवित्र स्थानों की सीमा भूटान, नेपाल, तिब्बत, मध्य-एशिया और पश्चिम-एशिया तक फैली हुई थी। इस प्राचीन तान्त्रिक संस्कृति का विस्तार दक्षिणपूर्व-एशिया में भी हो चुका था। इस विशाल तन्त्रागमीय संस्कृति के बीज समान रूप से बौद्ध महायान साहित्य, वैष्णव-शैव आगम तथा पुराणों में भी खोजे जा सकते हैं।

तन्त्रागमशास्त्र और सिद्धों पर अब तक जो कुछ लिखा गया है, उसकी एक ध्यान देने योग्य कमी यह रही है कि इस विषय की मौलिक सामग्री से बहुत कम लेखकों का संपर्क हो पाया है। अधिकांश लेखकों ने उन कुछ चुने हुए विद्वानों का आँख मूंद कर अनुसरण किया है, जिनकी सामग्री अब पुरानी पड़ चुकी है। ऐसा करते समय कहीं-कहीं बहुत-सी गलतियाँ हो गई हैं और यह हिन्दी साहित्य के ख्यातनामा लेखकों की तथा बौद्ध धर्म के प्रति अन्धश्रद्धा वाले लेखकों की रचनाओं में भी देखी जा सकती है। बहिःशास्त्र, परदर्शन, आकर जैसे शब्दों को ग्रन्थ का नाम मान लिया गया है। वस्तुतः ग्रन्थकार अपने मत से भिन्न शास्त्रों और दर्शनों के लिये प्रथम दो शब्दों का प्रयोग करते हैं और अपने शास्त्र के प्रमुख ग्रन्थ को 'आकर' कहते हैं।

सिद्धों के साथ सिद्धियां जुड़ी हुई हैं। इन सिद्धियों को भी हिन्दू और बौद्ध धर्म में बाँट दिया गया है। शक्तिसंगमतन्त्र के उपोद्घात में हमने बताया है कि खड्ग, अंजन, पादलेप जैसी सिद्धियां केवल बौद्ध तन्त्रों में ही नहीं; शैव, शाक्त, वैष्णव सभी तन्त्रों में वर्णित हैं। इन सिद्धियों के समान ही षडंग योग भी तन्त्रों की सभी शाखाओं का समान विषय है। सिद्धियों के संबन्ध में यह कहा जा सकता है कि अणिमा आदि आठ सिद्धियाँ पतंजलि के अष्टांग योग से तथा खड्ग, पाताल आदि आठ सिद्धियाँ तान्त्रिक षडंग योग से संबद्ध हैं।

सिद्धों के सहजयान की मूल मंशा भी प्रायः सभी तान्त्रिक शाखाओं के समान रूप से मान्य है। सहजयान की प्रवृत्ति के प्रसंग में विष्णुपुराण में वर्णित सहजसिद्धि का उल्लेख किया जाता है। टीकाकार विष्णुचित्त ने सहजसिद्धि का अर्थ औत्पत्तिक ज्ञान और श्रीधर ने स्वाभाविक सिद्धि किया है। पतंजलि की जन्मज सिद्धि से इसकी तुलना की जा सकती है। दोनों टीकाकारों ने यहाँ स्कन्दपुराण को उद्धृत कर रसोल्लास आदि आठ सिद्धियों का वर्णन किया है। उक्त दोनों प्रकार की सिद्धियों से ये भिन्न हैं। विज्ञानभैरव के ७१वें श्लोक में जग्धि और पान से प्राप्त होने वाली उल्लास, रस और आनन्द दशाओं का वर्णन मिलता है। सिद्धों की दिनचर्या से इनका पूरा सामंजस्य बैठता है।

डॉ. दासगुप्त योगवासिष्ठ पर विज्ञानवाद का प्रभाव मानते हैं, किन्तु इस पर शैवदर्शन की स्पन्द शाखा का और विज्ञानभैरव सरीखे ग्रन्थों का भी पूरा प्रभाव है। योगवासिष्ठ को हम सहजयोग का विशाल ग्रन्थ मान सकते हैं। इन सब ग्रन्थों का आविर्भाव उस कालावधि से पहले हो चुका था, जिसमें भारतीय संस्कृति पर ताओवाद के प्रभाव की और बौद्ध सिद्धों के आविर्भाव की बात कही जाती है।

कौलज्ञाननिर्णय में सहज तत्त्व को काम-कलात्मक माना है। यहाँ हृदयस्थित प्राणापान-व्यापार (श्वास-प्रश्वास प्रक्रिया), जिसका आनापानस्मृति के रूप में पालि-ग्रन्थों में विवरण मिलता है, सहजदेव कहा गया है। हृदय का स्पन्दनव्यापार सहज (स्वाभाविक) रूप से बिना प्रयत्न के निरन्तर प्रवृत्त रहता है। सिद्ध भी इसी सहज गति से लोक-व्यवहार में लगा रहता है। सिद्धों की इस स्थिति का काश्मीर-शैव ग्रन्थों में अनुपाय प्रक्रिया के नाम से वर्णन मिलता है। रागात्मक वृत्ति का परिष्कार सहजयान का मुख्य उद्देश्य रहा है। इस विषय पर बहुत कुछ लिखा जा चुका है।

धार्मिक चिन्तन अभी भी भट्ट कुमारिल की उक्ति के इर्द-गिर्द ही घूम रहा है। सत्य एक और अविभाज्य होता है। इसको देश, काल और धर्म की परिधि में बाँटा नहीं जा सकता। धार्मिक श्रेष्ठता का व्यामोह सही विचारों को पनपने नहीं देता। सिद्ध इस व्यामोह से मुक्त थे। सिद्धों का और सहजयान का अनुशीलन इसी पृष्ठभूमि में होना चाहिये। सहजयोग भारतीय मनीषा की एक उत्कृष्ट अवधारणा है। इसकी सहायता से हम विश्वाहन्ता का विकास कर एक विश्वसंस्कृति के निर्माण में लग सकते हैं।

भारतीय साहित्य का कालिक सर्वेक्षण

ग्रन्थ के प्रारंभ में ही हमने भारतीय सभ्यता और संस्कृति के साथ साहित्य की भी चर्चा की है। यहाँ हम उसका कालिक सर्वेक्षण करना चाहते हैं। ऋग्वेद भारत का ही नहीं, आज दुनिया का सबसे प्राचीन ग्रन्थ माना जाता है। प्रत्येक धर्म का अनुयायी अपने-अपने धर्म-ग्रन्थों को अनादि ही मानता है। महान् कश्मीरी विद्वान् अभिनवगुप्त कपिल और बुद्ध का उदाहरण देते हुए बताते हैं कि सभी आगम अनादि काल से चले आ रहे हैं। वेदों की यह विशेषता है कि इनको अपौरुषेय माना जाता है और अन्य शास्त्रों के कोई न कोई प्रवक्ता हैं। यों महाभारत के शान्तिपर्व के नारायणीयोपाख्यान में अपान्तरतपा को वेदों का प्रवक्ता बताया गया है। सभी वेदों की सर्वानुक्रमणियाँ प्राप्त हैं। इनमें प्रत्येक मन्त्र के ऋषि, देवता और छन्द का वर्णन किया गया है। इनके अनुसार हम वेदों के प्रत्येक मन्त्र के द्रष्टा ऋषि को ही प्रवक्ता मान सकते हैं। इसी न्याय से प्रत्येक धार्मिक ग्रन्थ की भी स्थिति मानी जा सकती है। आगम-ग्रन्थों में बताया गया है कि सभी तरह के आगम (ज्ञानराशि = शास्त्र = धर्मग्रन्थ) दिव्यौघ, सिद्धौघ और मानवौघ परम्परा से हम तक पहुंचते हैं, अर्थात् ज्ञानराशि का प्रसार पहले देवताओं में, बाद में सिद्धों में और अन्ततः मानवों में होता है। भारतीय वाङ्मय के प्रसार की यही है भारतीय दृष्टि। काल का विचार यहाँ अपनी पद्धति से हुआ है।

संकल्प-वाक्य में हम "अष्टाविंशतितमे कलियुगे" की चर्चा करते हैं। स्मृतियों और पुराणों के अनुसार आजकल २८वां कलियुग चल रहा है। प्रत्येक द्वापर युग के अन्त और कलियुग के प्रारंभ में पाशुपत योगाचार्यों और वेदव्यासों का प्रादुर्भाव होता है। इसके अनुसार श्वेत से लकुलीश पर्यन्त २८ पाशुपत योगाचार्यों और २८ वेदव्यासों की नामावली विविध पुराणों में मिलती है। पाशुपत योगाचार्य पाशुपत मत की प्रतिष्ठा करते हैं और वेदव्यास एक ही वेद को ऋक्, यजुः, साम और अथर्व नाम के चार वेदों में विभक्त करते हैं। भारतीय साहित्य में प्रसिद्ध एक श्लोक के अनुसार कृत (सत्य) युग में वैदिक, त्रेता में स्मार्त, द्वापर में पौराणिक और कलियुग में तान्त्रिक आचारों का पालन किया जाता है—

कृते श्रुत्युक्त आचारस्त्रेतायां स्मृतिगोचरः ।
द्वापरे च पुराणोक्तः कलौ तु तान्त्रिकी श्रुतिः।।

वैदिक और तान्त्रिक दो तरह की श्रुतियाँ प्रसिद्ध हैं। इनमें वैदिक श्रुति के अधिकारी तीन ही वर्ण माने गये हैं, जबकि तान्त्रिक श्रुति में सबका समान रूप से अधिकार मान्य है। कृतान्तपंचक के अतिरिक्त जैन, बौद्ध और लोकायत मत के प्रभाव की भी इस प्रसंग में हम चर्चा कर सकते हैं।

नारायणीयोपाख्यान में बताया गया है कि सांख्य के प्रवक्ता कपिल मुनि, योग के हिरण्यगर्भ, पांचरात्र मत के स्वयं भगवान् नारायण, पाशुपत मत के श्रीकण्ठ और वेदारण्यक के अपान्तरतपा हैं। तन्त्रशास्त्र और ज्यौतिषशास्त्र में दी गई क्षण लव आदि से लेकर कल्प पर्यन्त काल की गणना का संक्षिप्त परिचय मनुस्मृति के पहले अध्याय में दिया गया है। तदनुसार आजकल सातवाँ वाराह कल्प चल रहा है। एक कल्प में एक सहस्र दिव्य युग होते हैं और वह १४ मन्वन्तरों में विभक्त हैं। एक मन्वन्तर का काल ७१ दिव्य युग का माना गया है। पुराणों में १४ कल्पों का और प्रत्येक कल्प के १४ मन्वन्तरों का विस्तार से वर्णन मिलता है। भारतीय कालगणना का यही आधार है। तदनुसार सातवें श्वेतवाराह कल्प में वैवस्वत मन्वन्तर का २८वाँ कलियुग आजकल चल रहा है। २८ योगाचार्यों और २८ वेदव्यासों की पुराणों में दी गयी नामावली प्रस्तुत श्वेतवाराह कल्प की है। इस कालगणना के अनुसार कल्प के आदि में ही वेदों का प्राकट्य हो जाता है और प्रत्येक मन्वन्तर के अधिपतियों को इनकी रक्षा करनी पड़ती है। भारतीय पंचांगों के मुखपृष्ठ पर कहीं-कहीं यह कालगणना दी गयी रहती है।

वेदों को गड़रियों का गीत मानने वाली पाश्चात्य दृष्टि इस काल को मान्यता न दे, यह स्वाभाविक है, किन्तु वेदों की तरफ से पूरी दुनियाँ का ध्यान हटाने का पादरियों के साथ मैक्समूलर जैसे पाश्चात्य विद्वानों का प्रयत्न भी सफल नही हो सका और भारत में स्वामी दयानन्द के साथ ही यूरोप के विभिन्न देशों के विद्वानों ने चारों वेदों और छः वेदांगों की विभिन्न शाखाओं के ऊपर आश्चर्यजनक कार्य कर विश्व के प्राचीनतम साहित्य के रूप में इसकी प्रतिष्ठा की है। कालविषयक पाश्चात्य दृष्टि से इस पर विचार करने से पहले हम इस निगमागमाधारित प्राचीन साहित्य की विशालता पर प्रकाश डाल लेना चाहते हैं।

वैदिक साहित्य

ईसा-पूर्व द्वितीय शताब्दी में विद्यमान व्याकरणशास्त्र के महाभाष्यकार पतंजलि ने अपने ग्रन्थ के पहले आह्निक में यजुर्वेद की १०१, सामवेद की एक हजार, ऋग्वेद की २१ और अथर्ववेद की नौ शाखाओं का उल्लेख किया है। स्पष्ट है कि पतंजलि के काल में चारों वेदों की ११३१ शाखाएं विद्यमान थीं। प्रसंगवश यह कह देना भी अनुचित नहीं होगा कि ये ही पतंजलि भारतीय परम्परा के अनुसार पातंजल योगसूत्रों और आयुर्वेद की चरकसंहिता के भी रचयिता थे। इनके विषय में यह श्लोक प्रसिद्ध है—

योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य च वैद्यकेन ।
योऽपाकरोत् तं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि ।।

अर्थात् योगशास्त्र की रचना कर जिसने चित्त के मैल को, व्याकरणमहाभाष्य की रचना कर वाणी के मैल को और वैद्यकशास्त्र की रचना कर शारीरिक दोषों को दूर करने का प्रयत्न किया, उस पतंजलि मुनि को मैं प्रणाम करता हूँ।

वेदों के अतिरिक्त शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्यौतिष और छन्द नामक छः वेदांगों की भी तब तक रचना हो चुकी थी। आज अनेक शिक्षा-ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। इनमें प्रधान रूप से लौकिक और वैदिक उच्चारण की पद्धति को बताया गया है। नारदीयशिक्षा में सामवेद की गानपद्धति

निर्दिष्ट है। इसे हम भारतीय संगीतशास्त्र का प्रथम उपलब्ध ग्रन्थ मान सकते हैं। भरत का नाट्यशास्त्र भारतीय संगीतशास्त्र का महनीय ग्रन्थ है। कल्पों में श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र और धर्मसूत्र नामक तीन प्रमुख विभाग हैं। इनमें से श्रौतसूत्रों में वैदिक यज्ञों के विधि-विधानों का, गृह्यसूत्रों में गृहस्थ के लिये उपयोगी संस्कारों का और धर्मसूत्रों में धार्मिक क्रियाकलापों का वर्णन मिलता है। धर्मसूत्रों की परम्परा स्मृति ग्रन्थों के माध्यम से आगे बढ़ी। शुल्बसूत्रों को हम रेखागणित के आद्य ग्रन्थ मान सकते हैं, जहाँ यज्ञीय कुण्डों के निर्माण की विधि प्रदर्शित है। व्याकरण के रूप में आज भी पाणिनि की अष्टाध्यायी को सर्वोपरि मान्यता मिली हुई है। आज के पाश्चात्य विद्वान् भी इसको एक अद्भुत रचना मानते हैं। इसमें अनेक प्राचीन आचार्यों के नाम मिलते हैं। इसका काल ईसा-पूर्व छठी शताब्दी माना गया है। प्रातिशाख्य-ग्रन्थों में आजकल की प्रसिद्ध चार वैदिक संहिताओं के व्याकरण संबन्धी नियमों का निरूपण किया गया है और पाणिनि की अष्टाध्यायी में भी इनको संकलित किया गया है। ज्यौतिषशास्त्र में खगोल, गणित और फलित नाम के तीन भाग प्रसिद्ध हैं। वेदांग ज्योतिष की भी रचना ईसा-पूर्व काल में हो चुकी थी। निघण्टु के नाम से वैदिक शब्दों का एक कोश बनाया गया था। यास्क ने मन्त्रों का उदाहरण देते हुए इस पर विशद भाष्य लिखा है। यही आजकल निरुक्त के नाम से प्रसिद्ध है। ये पाणिनि के पूर्ववर्ती आचार्य हैं। वैदिक मन्त्रों की रचना छन्दोबद्ध हुई है। आजकल वैदिक और लौकिक छन्दों का ज्ञान कराने वाला ग्रन्थ पिंगल के छन्दःशास्त्र के रूप में प्रसिद्ध है। चारों वेदों और उनके छः अंगों का उल्लेख कौटिल्य के अर्थशास्त्र में मिलता है।

इतना ही नहीं, कौटिल्य के अर्थशास्त्र में और अन्यत्र भी १४ एवं १८ विद्यास्थानों का भी उल्लेख है। १४ विद्यास्थानों में ४ वेदों और छः वेदांगों के अतिरिक्त पुराण, न्याय (आन्वीक्षिकी), मीमांसा और धर्मशास्त्र का तथा १८ विद्यास्थानों में चार वेदों के उपवेदों– आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद और अर्थशास्त्र का समावेश है। हम जानते हैं कि ईसा-पूर्व तीसरी-चौथी शताब्दी के चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रसिद्ध अमात्य चाणक्य (कौटिल्य) ने अर्थशास्त्र की रचना की थी। उसमें इन सब विद्यास्थानों का विवरण मिलता है।

महान् वेदान्ती मधुसूदन सरस्वती के छोटे से ग्रन्थ 'प्रस्थानभेद' में इन सबका सुस्पष्ट परिचय देखा जा सकता है। वहाँ उपपुराणों का पुराणों में, वैशेषिकशास्त्र का न्याय में, वेदान्तशास्त्र का मीमांसा में और रामायण-महाभारत, सांख्य-योग, पाशुपतमत एवं वैष्णवमत का धर्मशास्त्र में अन्तर्भाव किया गया है। सौगतों (बौद्धों) के माध्यमिक, विज्ञानवादी, सौत्रान्तिक और वैभाषिक नाम के चार भेदों के अतिरिक्त चार्वाक और दिगम्बर जैन मत की भी यहाँ चर्चा है।

इन सभी शास्त्रों की चर्चा के साथ यहाँ मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेदों का, शिक्षा आदि षडंगों का, पुराण आदि चार उपांगों का और धनुर्वेद आदि चार उपवेदों का बोधगम्य परिचय दिया गया है। इस छोटे से ग्रन्थ का परिशिष्ट के रूप में पुनः प्रकाशन हमने शैवभारती शोधप्रतिष्ठान, जंगमवाड़ी मठ, वाराणसी से प्रकाशित शैवाचार्य सर्वात्मशंभु की रचना सिद्धान्तप्रकाशिका (पृ. ४५-५३) में किया है। यह भारतीय साहित्य का निगमाधीन विभाग है।

सिद्धान्तप्रकाशिका (पृ. १८-३५) में आगमशास्त्र के अनुसार भारतीय साहित्य को पाँच विभागों में बाँटा गया है। उनके नाम ये हैं– लौकिक, वैदिक, आध्यात्मिक, अतिमार्ग और मान्त्र। आयुर्वेद, दण्डनीति का आदि का लौकिक विभाग में; वेद, वेदांग, मीमांसा आदि का वैदिक विभाग में; सांख्य, योग, वेदान्त आदि का आध्यात्मिक विभाग में; पाशुपत, कापालिक, महाव्रत आदि का अतिमार्ग में और सिद्धान्तशास्त्र आदि का मान्त्र विभाग में परिगणन किया गया है। इन पाँच मुख्य विभागों के पुनः पाँच-पाँच अवान्तर विभाग किये गये हैं। संक्षेप में आस्तिक-नास्तिक शास्त्रों का भी परिचय यहाँ दिया गया है। बौद्ध आचार्यों ने ऊपर निर्दिष्ट १४ विद्यास्थानों के अतिरिक्त लक्षण, हेतुविद्या, आध्यात्मिकी विद्या, चिकित्साशास्त्र और शिल्पशास्त्र नाम के पाँच विद्यास्थानों की चर्चा की है।

मान्त्र विभाग के अन्तर्गत वहाँ (पृ. ३४) वाम, दक्षिण (भैरव), गारुड़ (विषचिकित्सा) और भूत (मानसिक चिकित्सा) तन्त्रों का स्वरूप वर्णित है। मान्त्र विभाग में परिगणित सिद्धान्त आदि पंचविध तन्त्रों का आविर्भाव पंचब्रह्म के प्रतिनिधि पशुपतिनाथ के ईशान आदि पाँच मुखों से माना जाता है। ईशान नामक ऊर्ध्व मुख से विनिर्गत सिद्धान्तागमों की संख्या २८ और इनके उपागमों की संख्या २०७ मानी गयी है। इसी तरह से गारुड़, भैरव, भूत और वाम तन्त्रों की संख्या भी शताधिक मानी गई है। ६४ तन्त्रों की नौ प्रकार की नामावलियाँ उपलब्ध हैं। इन सबका परिचय लुप्तागमसंग्रह के द्वितीय भाग के विस्तृत उपोद्घात में देखा जा सकता है। वहीं हमने तन्त्रागमशास्त्र के लगभग ४०० ग्रन्थों का ऐतिहासिक परिचय भी दिया है।

संक्षेप में यही है निगम (वेद) और आगम (तन्त्र) विभाग के अन्तर्गत आने वाले शास्त्रों का परिचय। यहाँ कुछ ऐसे शास्त्र हैं, जिनको दोनों विभागों में देखा जा सकता है। इनमें अन्तर इतना ही है कि प्रथम विभाग में वैदिक और द्वितीय विभाग में आगमिक दृष्टि को प्रधानता दी गयी है। इस प्रकार प्राचीन भारत में विकसित वैदिकी और तान्त्रिकी श्रुतियों के साहित्य का यह अतिसंक्षिप्त परिचय यहाँ दिया गया है। शैव और वैष्णव आचार्यों की आगे भी चर्चा की जायगी।

जैन, बौद्ध और लोकायत मतों के परिचय के बिना यह सर्वेक्षण अधूरा रहेगा। कुछ विद्वान् नास्तिक विभाग में इनको रखते हैं, किन्तु पाणिनि की परिभाषा के अनुसार लोकायत दर्शन ही नास्तिक की परिधि में आता है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी इस मत का उल्लेख मिलता है। नास्तिक वे हैं, जिनका परलोक में विश्वास नहीं है, चार्वाक दर्शन के नाम से प्रसिद्ध इस मत के प्रवर्तक देवगुरु बृहस्पति माने जाते हैं। इस मत के अनुसार प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रमाण है। आत्मा नाम की कोई वस्तु नहीं है, राजा ही ईश्वर है और राजा के निग्रह-अनुग्रह के अतिरिक्त स्वर्ग-नरक की भी कोई स्थिति नहीं है। वेदभाष्यकार सायण-माधव बन्धुओं ने 'सर्वदर्शनसंग्रह' नामके अपने ग्रन्थ में सबसे पहले चार्वाक दर्शन का ही परिचय दिया है। 'लोकायत' शीर्षक से अंग्रेजी और हिन्दी में भी एक ग्रन्थ आज उपलब्ध है। दसवीं शताब्दी से पहले के संस्कृत ग्रन्थ 'तत्त्वोपप्लवसिंह' में अकाट्य तर्कों के आधार पर इस मत की स्थापना की गयी है।

ऋषभदेव से लेकर महावीर स्वामी पर्यन्त २४ तीर्थंकर जैन धर्म के प्रवर्तक माने जाते हैं। गणधरों के द्वारा इनकी वाणियों का ग्रथन किया गया। इनका यह साहित्य भी आगम के नाम से प्रसिद्ध हुआ। पालि भाषा में निबद्ध बौद्ध वाङ्मय के समान ही प्राकृत भाषा में निबद्ध इस जैन साहित्य की भी अतिविशाल ग्रन्थ-सम्पत्ति है। इसका परिचय किसी प्रतिष्ठित जैन विद्वान् द्वारा निर्मित इतिहास-ग्रन्थ से प्राप्त किया जा सकता है। वैसे जैन-तन्त्रों का परिचय देने का लघु प्रयास हमने अपने ग्रन्थ "तन्त्रागमीय धर्म-दर्शन" (पृ. ७७५-८१५) में किया है।

वैदिक, जैन और बौद्ध साहित्य को काल की दृष्टि से हम तीन भागों में बाँट सकते हैं। वैदिक विभाग को जैसे हम यज्ञीय कर्मकाण्ड, मूर्तिपूजा और स्वात्मदेवता की उपासना के रूप में तीन काल-खण्डों में देखते हैं, उसी तरह से जैन और बौद्ध धर्म के भी चैत्य-स्तूप उपासना, मूर्तिपूजा और निराकारोपासना के रूप में तीन विभाग कर सकते हैं। पहला विभाग ईसा-पूर्व शताब्दियों का, दूसरा पहली से छठी शताब्दी तक का और तीसरा सातवीं से बारहवीं शताब्दी तक का माना जा सकता है। जैन धर्म दिगम्बर, श्वेताम्बर और स्थानकवासी तथा बौद्ध धर्म श्रावकयान, महायान और वज्रयान नाम के भेदों में विभक्त है। जैन धर्म का साहित्य प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश भाषाओं में तथा बौद्ध साहित्य पालि, प्राकृत और सिद्धों की अपभ्रंश भाषा में लिखा गया है।

प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव की चर्चा भागवत महापुराण में वर्णित भगवान् के २४ अवतारों में भी की जाती है और २३वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का काल आधुनिक इतिहासज्ञों ने ईसा-पूर्व आठवीं शताब्दी निर्धारित किया है। २४वें तीर्थंकर भगवान् महावीर भगवान् बुद्ध के ज्येष्ठ समसामयिक माने जाते हैं। जैनधर्म-दर्शन का तत्त्वार्थसूत्र दूसरी-तीसरी शताब्दी की रचना माना जाता है। यहाँ 'सत्' की परिभाषा अतीव बोधगम्य है। वह इस प्रकार है— "उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्"। बालक उत्पन्न होता है। जब वह युवक या वृद्ध हो जाता है, तो पहली अवस्था का व्यय (क्षय) हो जाने पर भी व्यक्ति की सत्ता बनी रहती है। 'ध्रौव्य' शब्द से इसको यहाँ इंगित किया गया है। बालक, युवक और वृद्ध अवस्थाओं के भिन्न-भिन्न होते हुए भी इन सबमें ध्रुव (निश्चित) रूप में सर्वत्र व्यक्ति विद्यमान रहता है। सत् को नित्य अथवा अनित्य (शाश्वत अथवा क्षणिक) मानने वाले दार्शनिकों की अपेक्षा जैनों का अनेकान्तवाद इस उदाहरण से पुष्ट होता है। तत्त्वार्थसूत्र के साथ ही जैन धर्म में भी संस्कृत भाषा प्रविष्ट हुई और वहाँ इस भाषा में भी अनेक महनीय दार्शनिक ग्रन्थ लिखे गये।

भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद विनयधर उपालि (नापित) के नेतृत्व में उनके द्वारा दिये गये समस्त उपदेशों का संग्रह किया गया था। धर्मसंगीति के नाम से बाद में भी यह कार्य चलता रहा। अभी हाल में वर्मा (म्यांमार) में भी इस तरह की एक धर्मसंगीति आयोजित हुई थी। श्रीलंका और वर्मा में आज भी पालि भाषा के इस साहित्य का अध्ययन होता है। त्रिपिटक के नाम से यह प्रसिद्ध है। हमने "बौद्ध ग्रन्थसम्पत्ति" शीर्षक एक निबन्ध में बौद्ध पालि और संस्कृत साहित्य का अति संक्षिप्त परिचय दिया था। लखनऊ से प्रकाशित होने वाली 'त्रिपथगा' में इसका प्रकाशन हुआ था। इसको अब हमारे "निगमागम संस्कृति" (पृ. १२८-१४६) शीर्षक ग्रन्थ में देखा जा सकता है। बौद्ध तन्त्र-

साहित्य का परिचय हमने अपने पूर्वोक्त ग्रन्थ (पृ. ६८३-७७३) में दिया है। पालि भाषा में लिखे गये 'धम्मपद' नामक ग्रन्थ का महत्त्व भगवद्गीता के समान है। इसी तरह ईसा-पूर्व प्रथम शताब्दी के ग्रीक सम्राट् मिनेंडर (मिलिन्द) और आचार्य नागसेन के संवाद के रूप में प्रस्तुत पालि भाषा के ग्रन्थ मिलिन्दपण्हो (प्रश्न) का भी अपना महत्त्व है। धम्मपद के वचन महाभारत में भी देखने को मिलते हैं। हमें यह भी याद रखना है कि विष्णु के दस अवतारों में भगवान् बुद्ध की भी गणना की गयी है। चौथी-पाँचवीं शताब्दी की वैष्णव रचना अहिर्बुध्न्यसंहिता में लोकनाथ के रूप में इनको स्मरण किया गया है। गीतगोविन्दकार जयदेव गाते हैं— "केशव धृत बुद्ध शरीर"। बहुसंख्यक भारतीय प्रतिदिन संकल्प-वाक्य में 'बौद्धावतारे' का उच्चारण करते हैं।

ऊपर हमने ईसा-पूर्व काल के भारतीय साहित्य का परिचय दिया है। इसी क्रम में आधुनिक दृष्टि से इनके कालक्रम पर विचार कर लेना भी जरूरी है।

काल निर्णय

वैदिक साहित्य

वेदों के कालनिर्णय में आजकल विभिन्न दृष्टियों से विचार किया गया है। इनके आधार पर ईसा-पूर्व १२वीं शताब्दी से लेकर २५ हजार वर्ष ई. पूर्व तक इनका रचनाकाल माना जाता है। भारत में मोहेंजोदड़ो के जैसे पश्चिम-एशिया के मेसोपोटामिया (आधुनिक इराक) में 'उर' नामक स्थान पर एक पुरानी बस्ती मिली है। इनका समय लगभग एक-सा ही माना जाता है। वहाँ कुछ इष्टका-लेख मिले हैं। उनमें प्राप्त एक सन्धिपत्र इस प्रसंग में महत्त्वपूर्ण साक्षी हो सकता है। यहाँ मित्रावरुण और नासत्य को साक्षी मानकर हस्ताक्षर किये गये हैं। ये ऋग्वेदीय देवता हैं। स्पष्ट है कि उस समय तक वहाँ वैदिक साहित्य का प्रसार हो चुका था। बिना किसी वैमत्य के इसके आधार पर वेदों के काल की उत्तर सीमा निर्धारित की जा सकती है।

आर्यों के बाहर से आकर भारत पर कब्जा करने की बात का आजकल अनर्गल प्रचार किया जाता है। एक भारतीय विद्वान् ने इसका जवाब दिया है कि वैदिक साहित्य में कहीं भी आर्यों के बाहर से आने का उल्लेख नहीं मिलता। मोहेंजोदड़ो की लिपि को अभी तक पढ़ा नहीं जा सका है। उसके बिना हम अनुमान के आधार पर जो चाहें, लिख सकते हैं। ईरान के प्राचीन पारसीक धर्म के ग्रन्थ 'जेन्दावेस्ता' की भाषा ऋग्वेद की भाषा से बहुत-कुछ मिलती-जुलती है। इसके आधार पर भी हम किसी सर्वमान्य तथ्य तक पहुँच सकते हैं। अभी तो हमें ऐसा लगता है कि एक निश्चित लक्ष्य के अनुसार यह प्रचारित किया जा रहा है कि जब आर्यों ने इस देश पर आक्रमण कर पुराना सब कुछ नष्ट कर दिया, तब हम लोगों को भी यह अधिकार है कि यहाँ का पुराना सब कुछ नष्ट कर नये विचारों को बढ़ावा दिया जाय। ईसाइयों के सबसे बड़े धर्मगुरु भी इस प्रवृत्ति से अपने को बचा पाने में असमर्थ ही रहे हैं।

वैदिक साहित्य का विकास संहिताकाल, ब्राह्मणकाल, आरण्यक और उपनिषद् काल तथा सूत्रकाल और वेदांगकाल के रूप में विभक्त किया जाता है। इन सबकी रचना बुद्ध-पूर्व काल तक

अवश्य हो चुकी थी। उपनिषदों का विशाल साहित्य आज उपलब्ध है, किन्तु जिन उपनिषदों के ऊपर आचार्य शंकर के भाष्य उपलब्ध हैं, उनको अवश्य ही प्राचीन माना जाता है। इनमें भी बृहदारण्यक और छान्दोग्य आदि का विशिष्ट स्थान है। श्वेताश्वतर उपनिषत् का काल विवादास्पद है, किन्तु एक विद्वान् ने अकबरकालीन अल्लोपनिषत् से इसकी तुलना की है। इसे हम अपसंस्कृति का प्रभाव ही मान सकते हैं। वस्तुतः इस पर पाशुपत मत का प्रभाव माना जा सकता है।

पाशुपत मत

कृष्ण और शुक्ल यजुर्वेद के शतरुद्रियाध्याय में रुद्र की महती महिमा वर्णित है। यहाँ रुद्र को शूद्रों और अतिशूद्रों का भी आराध्यदेव बताया गया है। मैत्रायणीसंहिता और तैत्तिरीय आरण्यक में रुद्र के अघोर, वामदेव आदि पाँच ब्रह्म-मन्त्रों का और भस्मोद्धूलन (स्नान) विधि का वर्णन है। पाशुपतसूत्र-कार लकुलीश ने इन्हींके आधार पर पंचाध्यायी ग्रन्थ की रचना की है। बौद्ध ग्रन्थ धम्मपद और सातवाहन नृपति की गाथासप्तशती में भी इस विधि के अनुयायियों का उल्लेख है। महाभारत के तेरहवें अनुशासन पर्व के १४-१८ अध्यायों में महामुनि उपमन्यु द्वारा भगवान् श्रीकृष्ण को उपदिष्ट पाशुपत व्रत और योग की बहुत विस्तार से चर्चा है। यहाँ भगवान् शिव के सहस्रनाम भी उपदिष्ट हैं। कूर्मपुराण आदि में भी कहीं-कहीं श्लोकानुपूर्वी से यह कथा उपलब्ध है। महाभारत में उमापति भूतपति श्रीकण्ठ को पाशुपत मत का आद्य प्रवर्तक माना गया है। इनकी ऐतिहासिकता के विषय में विद्वानों में परस्पर वैमत्य है, किन्तु मोहेंजोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई में प्राप्त साक्ष्यों के आधार पर शैवमत की सत्ता उस समय विद्यमान थी, यह बात निर्विवाद रूप से सिद्ध हो चुकी है, जहाँ पशुओं से घिरी हुई ध्यानमग्न योगी की उपलब्ध आकृति को पशुपति के रूप में पहचाना गया है। अथर्ववेद के व्रात्यसूक्त में पशुपति के भव, शर्व आदि नाम उपलब्ध होते हैं, जो अष्टमूर्ति शिव से समरस हैं। कालिदास के 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' नाटक के मंगलश्लोक में अष्टमूर्ति शिव की ही स्तुति की गयी है, किन्तु पंचब्रह्ममूर्ति शिव का स्वरूप इससे प्राचीन है। अभी ऊपर तैत्तिरीय आरण्यक आदि के प्रमाण से इनकी चर्चा हो चुकी है। पश्चिम-समुद्र तटवर्णी गोकर्ण तीर्थ पाशुपत मत का प्राचीनतम स्थान है। महाकवि कालिदास ने रघुवंश में इस स्थान की चर्चा की है और नेपाल के पशुपतिनाथ के मन्दिर में पंचमूर्ति शिव के पुजारी इसी पवित्र स्थान के निवासी हैं। उदयपुर (राजस्थान) के पास स्थित एकलिंग जी के मन्दिर में भी पंचमूर्ति शिव ही विराजमान हैं। यहाँ ऊर्ध्वमेढ्र लकुलीश की मूर्ति भी स्थापित है और नेपाल के पशुपतिनाथ के मन्दिर की पहाड़ी पर इसी रूप में इनके दर्शन भी होते हैं। मृत्युंजयभट्टारक (नेत्रतन्त्र १३.१०-१२) में वर्णित ध्यान से ये समरस हैं।

वेद, पुराण-इतिहास, आगम, चिकित्साशास्त्र आदि में चर्चित अनेक आचार्यों के नाम पुराणों में वर्णित पाशुपत योगाचार्यों की नामावली में मिलते हैं। श्वेत से लेकर लकुलीश पर्यन्त २८ योगाचार्यों और उनके ११२ शिष्यों का परिचय हमने "पुराणवर्णिताः पाशुपता योगाचार्याः" शीर्षक संस्कृत निबन्ध में विस्तार से दिया है। यह निबन्ध पहले काशिराजन्यास, रामनगर, वाराणसी से प्रकाशित होने वाली षाण्मासिक 'पुराणम्' पत्रिका में और बाद में "निगमागमीयं संस्कृतिदर्शनम्" (पृ. ८६-

१०६) नामक हमारे ग्रन्थ में प्रकाशित हुआ है। इसी ग्रन्थ में (पृ. १०७-१०८) "पुराणानां नूनमागममूलकत्वम्" शीर्षक से एक अन्य निबन्ध भी संगृहीत है। इसमें नारदीयमहापुराण, अग्निपुराण, गरुड़पुराण आदि के प्रमाण से वर्तमान पुराण-साहित्य पर आगमों के प्रभाव को दिखाया गया है।

लकुलीश से विद्यागुरु पर्यन्त १८ पाशुपत योगाचार्यों की नामावली जैन आचार्य गुणरत्न-कृत षड्दर्शनसमुच्चयटीका में और राजशेखर सूरि-कृत षड्दर्शनसमुच्चय में भी उपलब्ध है। इस नामावली में पहला नाम लकुलीश का और अन्तिम नाम विद्यागुरु का है। इस प्रकार जैनाचार्यों ने पाशुपत योगाचार्यों की आगे की परम्परा का परिचय दिया है। विद्यागुरु का उल्लेख काश्मीर शैवदर्शन के आचार्यों ने भी किया है।

डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने लकुलीश का काल दूसरी शताब्दी स्थापित किया है। पाश्चात्य विद्वान् इसको मानने को तैयार नहीं हैं। उनकी यह प्रवृत्ति ध्यान देने योग्य है कि भारतीय साहित्य का काल-निर्धारण करते समय वे इस बात का ध्यान रखते हैं कि यथासंभव अधिक से अधिक इनका काल ईसा-परवर्ती स्थापित करने का प्रयत्न किया जाय। हमें यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिये कि लकुलीश के उपर्युक्त निर्धारित समय से लेकर १४वीं शती के अचलगढ़ शिलालेख के काल तक लकुलीश पाशुपत मत का प्रभाव उत्तरभारत के गुजरात, राजस्थान और उत्तरप्रदेश में मथुरा तक तथा दक्षिणभारत के कुछ प्रदेशों में भी विद्यमान था, इसके स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं।

पांचरात्र मत

शतपथब्राह्मण (१३.३.४; १३.६.२) में पांचरात्र सत्र का उल्लेख है और छान्दोग्य उपनिषद् (७.१-३) में एकायन विद्या का। वहीं (३.१७.१-६) घोर आंगिरस द्वारा देवकीपुत्र कृष्ण को दिये गये उपदेश में सत्य और अहिंसा का भी समावेश है, जो पांचरात्र मत का मुख्य सिद्धान्त है। नारायणीयोपाख्यान की वसु उपरिचर की कथा से इस बात की पुष्टि होती है कि वैदिक हिंसा का समर्थन करने के कारण उसकी आकाश-गमन की सामर्थ्य नष्ट हो गयी थी। ज्ञानार्णव नामक जैन-ग्रन्थ में भी इस घटना का उल्लेख है। नवीं शताब्दी के उत्पल वैष्णव के समय में कश्मीर में भी इस शास्त्र का प्रचार था। इनके ग्रन्थ में जिन अनेक ग्रन्थों के नाम और उद्धरण मिलते हैं, उनमें पांचरात्रश्रुति और पांचरात्रोपनिषद् भी हैं। उसी काल के वामननाथ का ग्रन्थ संवित्प्रकाश अब प्रकाशित हो चुका है। काश्मीरागमप्रामाण्य नामक ग्रन्थ रामानुजाचार्य के परमगुरु यामुनाचार्य के ग्रन्थ में उद्धृत है।

डॉ. हेमचन्द्र रायचौधरी, डॉ. आर. जी. भाण्डारकर आदि विद्वानों ने छान्दोग्योपनिषद्, पाणिनि की अष्टाध्यायी, पातंजल महाभाष्य (४.३.८८ एवं ५.२७६) और शिलालेखों के आधार पर इस शास्त्र की प्राचीनता को सिद्ध किया है। शिलालेखों में घोसुण्डी शिलालेख, वेसनगर शिलालेख और ई. पू. दूसरी शती के यज्ञसूरि शातकर्णि का शिलालेख (आन्ध्रप्रदेश) अतिप्रसिद्ध हैं। नारायणीयोपाख्यान की चर्चा आ ही चुकी है।

पातंजल महाभाष्य में – "अरुणद् यवनो मध्यमिकाम्" (३.३.११) इस तरह से स्मृत प्राचीन मध्यमिका नगरी आजकल राजस्थान राज्य के चित्तौड़गढ़ के पास स्थित घोसुण्डी से अभिन्न है, यहाँ

कभी शिलाप्राकार से वेष्टित नारायणवाटिका थी। इसे पाराशरि के पुत्र गाजायन ने भगवान् वासुदेव और संकर्षण को समर्पित किया था। सात्वतसंहिता (२५.३६६-३६७) में इस तरह के सप्राकार साराम स्थल को भगवदर्पित करने का फल प्रदर्शित है। ई. पूर्व के इस घोसुण्डी शिलालेख से सात्वतोक्त इस विधान की प्राचीनता सिद्ध होती है। आज भी तीर्थराज पुष्कर में तथा वृन्दावन में स्थित श्रीरंगम् जी के मन्दिरों का यही स्वरूप है। वैखानस, पांचरात्र और भागवत नाम के तीन प्रकार के वैष्णवागमों का परिचय हमने "वैष्णवागमविमर्शः" शीर्षक ग्रन्थ में दिया है। सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी से इसका प्रकाशन हुआ है। वैखानस सिद्धान्त वैदिक विचारों के अधिक नजदीक है। तिरुपति बालाजी में भगवान् वेंकटेश की उपासना वैखानस पद्धति से होती है और आन्ध्रप्रदेश में इस मत को आज भी मान्यता मिली हुई है। पांचरात्र मत की पद्धति से श्रीरंगम् (तमिलनाडु) में भगवान् श्री रंगनायक की उपासना इसी शास्त्र के अनुसार होती है। तमिलनाडु के अनेक भागों में आज भी इसको जनमानस की मान्यता प्राप्त है। भागवत संप्रदाय का उल्लेख सम्राट् हर्षवर्धन के राजकवि बाण के हर्षचरित में हुआ है। आजकल उत्तरभारत में इसका प्रचार विशेष रूप से देखने को मिलता है। वाल्मीकिरामायण, महाभारत और श्रीमद्भागवत— इन तीनों मतों के प्रतिनिधि ग्रन्थ माने जा सकते हैं। शक्तिसंगमतन्त्र (१.८.३८-४०) में वैष्णव सम्प्रदाय के दस भेदों का वर्णन मिलता है।

इन सबका परिचय तथा त्रिविध प्राचीन वैष्णवागमों के साहित्य, योग, दर्शन आदि का स्वरूप हमारे उक्त ग्रन्थ 'वैष्णवागमविमर्शः" में देखा जा सकता है। अभी हाल में स्वामीनारायण संप्रदाय, अक्षरधाम (गांधीनगर, अहमदाबाद) के साधु श्रुतिप्रकाशदास जी ने अब तक प्रकाशित सभी सूचियों के आधार पर और निजी अनुशीलन के बल पर पांचरात्र संहिताओं की सूची बनाई है। यहाँ बताया गया है कि अनेक विद्वानों के प्रयत्न से अब तक २२८ ग्रन्थों को सूचीबद्ध किया गया था और इनके निजी प्रयास से परिज्ञात १७२ ग्रन्थों के नाम यहाँ अधिक जोड़े गये हैं। इस प्रकार यहाँ कुल मिलाकर ४६० ग्रन्थों का परिचय दिया गया है। "पांचरात्र संहिता-सूचिः" के नाम से यह ग्रन्थ अभी २००२ ई. में उसी संस्था से प्रकाशित हुआ है। इसी संस्था ने सन् २००४ में पांचरात्र मत की संकर्षण-संहिता का भी प्रकाशन किया है।

शाक्त मत

आधुनिक इतिहास-ग्रन्थों में शाक्त मत के साथ न्याय नहीं किया गया। वे आठवीं शताब्दी से पहले इसकी सत्ता को मानने को तैयार नहीं हैं। इस प्रसंग में यह अवधेय है कि मथुरा-संग्रहालय में प्रायः दो हजार वर्ष पुरानी मौर्य-शुंग काल की मनसा देवी की प्रतिमा संगृहीत है। महाभारत में भगवती दुर्गा के दो स्तोत्र उपलब्ध हैं— पहला विराट पर्व के छठे अध्याय में और दूसरा भीष्म पर्व के २३वें अध्याय में। आधुनिक इतिहासज्ञ इनको प्रक्षिप्त मानते हैं, किन्तु महाभारत के भाण्डारकर शोधसंस्थान के परिष्कृत संस्करण में भी श्रीपर्वत, शाकंभरी, धूमावती जैसे शब्दों की उपलब्धि उस समय शैव और शाक्त मतों की सत्ता को सूचित करती है। हरिवंश के विष्णुपर्व के तीसरे अध्याय में

आर्यास्तव मिलता है। वहाँ देवी को शबर, बर्बर, पुलिन्द आदि के द्वारा सुपूजित कहा गया है (३.७) और वहीं विन्ध्यवासिनी देवी का नाम भी उपलब्ध है (३.८)। उदयपुर के संग्रहालय में सुरक्षित ४८० ई. के शिलालेख में भ्रमराम्बा की स्तुति की गयी है। इस शिलालेख का परिचय "एपिग्राफिया इण्डिका" के ५०वें वर्ष के चौथे अंक (पृ. १२०-१३७) में दिया गया है। इसी प्रसंग में मार्कण्डेयपुराण-स्थित दुर्गासप्तशती की चर्चा करना भी अनुचित न होगा। ६४ तन्त्रों की नामावलियों की चर्चा हम कर चुके हैं। कुब्जिका, काली, तारा जैसी देवियों की चर्चा अभिनवगुप्त से पूर्व के साहित्य में मिलती है। ऐसी स्थिति में शाक्त तन्त्रों की प्रवृत्ति आठवीं शताब्दी के बाद हुई, इस कथन का कोई अर्थ नहीं रह जाता।

बौद्ध तन्त्र

कुछ विद्वान् बौद्ध तन्त्रों की प्रवृत्ति का काल तीसरी-चौथी शताब्दी मानते हैं। यह भी सही नहीं है। गलत आधार पर यह निर्णय हुआ है। विज्ञानवादी योगाचार बौद्ध विद्वानों के ग्रन्थ में आश्रय-परावृत्ति शब्द आया है। यहाँ परावृत्ति शब्द प्रत्याहार के अर्थ में प्रयुक्त है। यह हमें निश्चित रूप से समझ लेना चाहिये कि रहस्यवाद का प्रवेश सर्वप्रथम कौल तन्त्रों में हुआ। मृगेन्द्रवृत्तिदीपिका (पृ. ७४) में अघोरशिवाचार्य का कहना है कि हिरण्यगर्भ, कपिल और मत्स्येन्द्र क्रमशः वेद, सांख्य और कौल तन्त्रों के प्रवर्तक हैं। डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने इनका काल पाचवीं-छठी शताब्दी निर्धारित किया है। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने "पुरातत्त्व निबन्धावली" (पृ. ११८) में नीलपट दर्शन की चर्चा की है। इस दर्शन की प्रवृत्ति का काल वहाँ ५१५-५२४ ई. बताया गया है। डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय की स्थापना से यह समरस है। इस मनुष्य-देह में सभी देवता निवास करते हैं, अभिनवगुप्त के अनुसार इस सिद्धान्त की स्थापना लकुलीश आदि आचार्यों ने की थी। कौल मत के अनुयायियों का कहना है कि जब हम जड़ प्रस्तर, काष्ठ, पट आदि में देवता का आह्वान कर उसकी उपासना कर सकते हैं, तो इस चेतन देह में ऐसा क्यों नहीं कर सकते। मत्स्येन्द्र और गोरक्ष के संबन्ध में बहुत कुछ लिखा गया है, किन्तु इतना हमें निश्चित रूप से समझ लेना चाहिये कि इन दोनों आचार्यों के समय में पाँच सौ वर्षों से अधिक का अन्तर है। स्पष्ट है कि तन्त्रों में इस प्रवृत्ति का प्रवेश कौल मत की प्रवृत्ति के बाद ही हुआ। जापानी बौद्ध विद्वान् गुह्यसमाजतन्त्र की प्रवृत्ति का काल छठी शताब्दी के बाद ही मानते हैं।

स्मार्त तन्त्र

तन्त्र-ग्रन्थों में प्रपंचसार और शारदातिलक का एक अलग ही स्वरूप है। प्रपंचसार का नाम आचार्य शंकर से और शारदातिलक का लक्ष्मण देशिकेन्द्र से जुड़ा माना जाता है। प्रपंचसार की रचना ईशानशिवपद्धति (१०वीं शताब्दी) तक अवश्य हो चुकी थी, जहाँ वह अनेक स्थानों पर स्मृत है। शारदातिलक-कार को अभिनवगुप्त के गुरु लक्ष्मणगुप्त से अभिन्न माना जाता है। इस मत को मान्यता नहीं दी जा सकती। ये दोनों ग्रन्थ पंचायतन पूजा से संबद्ध हैं। इन दो ग्रन्थों के अतिरिक्त इस विषय से संबद्ध अन्य अनेक ग्रन्थ भी उपलब्ध हैं। इन सबको हम स्मार्त मत से जोड़ सकते हैं।

शारदातिलक की राघवभट्ट की टीका में और ईशानशिवपद्धति जैसे ग्रन्थों में इसके साहित्य की विशालता का परिचय मिलता है। स्मार्त मत का भी काल ईसा की छठी शताब्दी तक अवश्य पहुँच जाता है। इसी शताब्दी की रचना विष्णुधर्मोत्तरपुराण में पंचायतन पूजा का उल्लेख मिलता है। अतः यह मानना उचित ही होगा कि पंचायतन पूजा का आरंभ आचार्य शंकर से पहले हो चुका था। महान् ज्योतिषी वराहमिहिर का काल पांचवीं-छठी शताब्दी सुनिश्चित है। उनके इस श्लोक को देखिये -

विष्णोर्भागवता मगाश्च सवितुः शम्भोः सभस्मद्विजा
मतृणामथ मातृमण्डलविदो विप्रास्त्वथ ब्रह्मणः ।
शाक्याः सत्त्वहिताय बुद्धवपुषो नग्नास्तथैवार्हतो
यैर्यो देव उपास्यते स्वविधिना तैस्तस्य कार्या क्रिया ।।

(बृहत्संहिता, ५९.१०)

इस श्लोक में विष्णु, शिव, मातृगण, ब्रह्मा, बुद्ध और अर्हन् की उपासना की चर्चा है और बताया गया है कि जो व्यक्ति जिस देवता की उपासना करता है, उसे उसी देवता के द्वारा निर्दिष्ट पद्धति से आराधना करनी चाहिये।

"पाँच उपास्य देवताओं के आयतन (मन्दिर) जहाँ एक साथ हों" इस व्युत्पत्ति के अनुसार उसी मन्दिर को पंचायतन कहा जायगा, जहाँ शक्ति, शिव, विष्णु, सूर्य और गणेश नामक पाँच देवता स्थापित हैं। इनमें अपने-अपने संप्रदाय के अनुसार मध्य में एक प्रमुख देवता होती है और अन्य चार देवताओं के आयतन उसी मन्दिर की चारों विदिशाओं (कोणों) में स्थापित किये जाते हैं। काशी के विश्वनाथ मन्दिर में इसे देखा जा सकता है। शक्तिसंगमतन्त्र के अनुसार स्मार्त विभाग में शैव, वैष्णव, शाक्त, सौर, गाणपत्य और चान्द्र संप्रदाय का समावेश किया गया है। कुछ उपनिषदों के अतिरिक्त हयशीर्षपंचरात्र (संहिता), सौर-संहिता, अग्नि-गरुड़-नारद-शिव आदि पुराण, विष्णुधर्मोत्तर, प्रतिष्ठालक्षणसारसमुच्चय, पूर्व चर्चित प्रपंचसार, कर्मकाण्डक्रमावली, ईशानशिवपद्धति, शारदातिलक, महाकालसंहिता, तृचभास्कर जैसे ग्रन्थ और दस महाविद्याओं से संबद्ध साहित्य का भी इसीमें समावेश माना जाता है।

इन सबसे ऊपर शक्तिसंगमतन्त्र का अपना एक विशिष्ट स्थान है। इस ग्रन्थ के चतुर्थ खण्ड के संस्कृत उपोद्घात (पृ. २२-२८) में देश, काल, आम्नाय, विद्या, दर्शन, आयतन और आगम नाम के सात पर्यायों के साथ तन्त्र, उपतन्त्र, संहिता, चूड़ामणि, अर्णव, डामर, यामल, सूक्त, कक्षपुटी, विमर्शिनी, कल्प, कल्पलता, चिन्तामणि, उड्डालक, उड्डीश, अवतार, बोध, कल्पद्रुम, कामधेनु, सद्भाव, तत्त्व, क्रम, अमृत, दर्पण, तर्पण, सागर जैसे शब्दों से अंकित सहस्राधिक तन्त्रों की संक्षिप्त सूचना दी गयी है। इस एकप्रकृति वाले विशाल तन्त्र-साहित्य का प्रचार-प्रसार कैसे हुआ, यह एक परीक्षणीय विषय है।

आचार्य शंकर का काल

प्रपंचसार के प्रसंग में हम आचार्य शंकर के काल के संबन्ध में विचार करना चाहते हैं। प्रपंचसार में किसी भी ग्रन्थ या ग्रन्थकार का नाम नहीं मिलता, तो भी इस ग्रन्थ के उपलब्ध सभी टीकाकार इस विषय में एकमत हैं कि यह ग्रन्थ भगवत्पाद शंकराचार्य की कृति है। इस ग्रन्थ पर लिखी गयी २१ टीकाओं की जानकारी मिलती है। इस प्रसंग में इन टीकाओं का गहन अनुशीलन अपेक्षित है।

आचार्य शंकर का जन्म केरल में हुआ, इस विषय में कोई विवाद नहीं है, किन्तु उनका समय भी निश्चित मानकर उनके द्वादश-शताब्दी-पूर्ति महोत्सव को पूरे देश में बड़े उत्साह के साथ मनाया गया। शक्तिसंगमतन्त्र के प्रमाणों से यह सिद्ध हो चुका है कि भट्ट कुमारिल का काल ही आचार्य शंकर का भी काल है। भारतीय परम्परा भी इस बात को स्पष्ट करती है कि भट्ट कुमारिल के तुषाग्नि में प्रविष्ट हो जाने के उपरान्त आचार्य शंकर उनके पास शास्त्रार्थ करने के लिये पहुँचे थे और बाद में प्रसिद्ध मीमांसक मण्डन मिश्र की पत्नी भारती की मध्यस्थता में मण्डन मिश्र के साथ यह शास्त्रार्थ हुआ था। यहाँ आचार्य शंकर का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता, इस आधार पर हालैण्ड के तन्त्रशास्त्र के विद्वान् डॉ. तून गान्द्रियान ने इस स्थापना को स्वीकार नहीं किया (पृ. ६०), तो भी वे कहते हैं कि आज इनका जो समय निर्धारित किया गया है (७८८-८२०), उसे १०० वर्ष पहले अवश्य ले जाया जा सकता है।

शक्तिसंगमतन्त्र में चार स्थानों पर आचार्य शंकर की चर्चा मिलती है। उन सबको एक साथ पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है कि इन सभी स्थलों पर उन्हींकी चर्चा है। यहाँ हम उनमें से तीन वचनों को क्रमशः इकट्ठा कर दे रहे हैं–

षट्शतीवत्सरान्ते तु द्विसप्तत्युत्तरं शिवे।
आविर्भवति देवेशि दिव्यौघद्वारतः शिवे ।।
बौद्धपाषण्डनाशार्थं सम्प्रदायार्थमेव च।
(श. सं. त., १.१.१६-१७)

इस प्रथम उद्धरण में आचार्य शंकर के नाम का उल्लेख नहीं है, तो भी इतना मालूम हो जाता है कि बौद्धों के पाखण्ड को दूर करने और संप्रदाय की रक्षा के लिये संवत् ६७२ में इनकी उत्पत्ति हुई। बाकी के दो उद्धरण इस ग्रन्थ के चतुर्थ खण्ड में हैं। वे इस प्रकार हैं–

कलौ युगे तु सम्प्राप्ते जम्बुद्वीपे महेश्वरि।
खण्डे भारतसंज्ञे तु श्रीशैलगिरिगह्वरे ।।
परिधावीवत्सरे तु सप्तम्यां शनिवासरे।
उद्दण्डवर्षातीते तु दिननित्योदये शिवे ।।
सकारोदयवेलायां मध्याह्ने शाङ्करे गृहे।
बौद्धोत्सादनकार्यार्थं शङ्करो मर्त्यरूपधृक् ।।
अवतीर्णो महेशानि पञ्चप्रेतसमन्वितः।
(श. सं. त. ४.८.६२-६५)

यहाँ आचार्य शंकर की उत्पत्ति के देश-काल आदि के वर्णन के साथ ही यह भी बताया गया है कि बौद्धों के उत्सादन के लिये पाँच प्रेतों के साथ शंकर ने मानव शरीर धारण किया था। पाँच प्रेतों का वर्णन वहीं इस प्रकार किया गया है—

कलौ युगे शङ्करो हि ह्यवतीर्णो महेश्वरि ।।
शङ्करश्च महेशानि हस्तामलक एव च ।
सुरेश्वरस्ततः प्रोक्तस्तोटकस्तदनन्तरम् ।
पद्मपादः पञ्चमः स्यात् पञ्चप्रेतानुकल्पनम् ।
(श. सं. त., ४.८.१११-११३)

यहाँ आचार्य शंकर और उनके चार शिष्यों का पंचप्रेत के रूप में उल्लेख स्पष्ट है। इस प्रसंग की विस्तृत व्याख्या हमारे "शक्तिसंगमतन्त्रे शाङ्करदशनामिसंप्रदायः" शीर्षक से "निगमागमीयं संस्कृतिदर्शनम्" (पृ. ८३-८५) में संगृहीत निबन्ध में देखी जा सकती है।

शैवागमों में वर्णित पंचब्रह्म-स्वरूप से भी हम इनकी तुलना कर सकते हैं। आचार्य शंकर ने चारों दिशाओं में चार पीठों की स्थापना कर अपने चार शिष्यों को, जिनके नामों की ऊपर के उद्धरण में चर्चा है, अधिकृत किया था और यह परम्परा आज भी चल रही है।

स्पष्ट है कि शक्तिसंगमतन्त्र के इन तीनों स्थलों पर वर्णित शंकर आचार्य शंकर ही हैं और विक्रम संवत् ६७२ इन्हीके आविर्भाव का समय है, यह जानने में हमें किसी कठिनाई का अनुभव नहीं होगा। ऊपर के दूसरे उद्धरण में तिथि, वार और वर्ष के नाम का भी उल्लेख है। ज्यौतिषशास्त्र पद्धति से गणना कर इसकी पुष्टि की जा सकती है कि विक्रम संवत् ६७२ में इन सबका योग था या नहीं ? इतना स्पष्ट है कि यह तिथि भट्ट कुमारिल के काल से मेल खाती है। चतुर्थ उद्धरण को यहाँ इसलिये छोड़ दिया गया है कि उसमें आचार्य शंकर के काल के आधार पर प्रस्तुत तन्त्र के आविर्भावकाल की चर्चा की गयी है। इस प्रसंग में हम इतना अवश्य कहना चाहते हैं कि हमें गड्डरिका-प्रवाह में नहीं बह जाना चाहिये और अपनी स्थापित परम्पराओं को, बिना पुष्टतर प्रमाण उपलब्ध हुए, नहीं छोड़ना चाहिये। योगाचार्यों की परम्परा के विषय में भी हम यही बात कह सकते हैं।

इस तरह से बहुत संक्षेप में भारतीय साहित्य का कालिक सर्वेक्षण करते समय हमने यहाँ कालविषयक भारतीय और पाश्चात्य दृष्टि का उल्लेख कर भारत के प्राचीन विशाल साहित्य को पाश्चात्य दृष्टि के अनुसार विभिन्न काल-खण्डों में विभक्त कर, उसका परिचय देने का प्रयत्न किया है। अपसंस्कृति से प्रभावित होकर क्या हमें भगवाकरण के नाम पर इस विशाल अद्भुत साहित्य को, जो एकता में अनेकता और अनेकता में एकता स्थापित कर इस विश्व को नई दृष्टि देने में आज भी समर्थ है, तिलांजलि दे देना चाहिए ? थोड़ा ठहर कर इस विषय पर हमें विचार करना होगा। इसी पृष्ठभूमि में अब हम तमिल जैसी भारतीय भाषा और ग्रीक, पारसी और अरबी जैसी विदेशी भाषाओं के साहित्य पर भी एक विहंगम दृष्टि डाल देना चाहते हैं।

संस्कृत, पालि और प्राकृत भाषाओं के अतिरिक्त भारत में तमिल भाषा भी पुरानी मानी जाती है। इसका भी विशाल साहित्य है। इसकी सहायता से हम शैव, वैष्णव, जैन और बौद्ध धर्म के प्राचीन साहित्य और सिद्धान्तों से परिचित हो सकते हैं। शैव आगमों के विषय में दो मत प्रचलित हैं। एक के अनुसार तमिल साहित्य का आगमों के रूप में संस्कृतीकरण हुआ और दूसरे के अनुसार आगमों के सहारे दक्षिण में शैव धर्म की प्रतिष्ठा हुई। यही न्याय वैष्णव पांचरात्र संहिताओं और तमिल वैष्णव साहित्य पर भी लागू होता है। शैव आगमों और पांचरात्र संहिताओं में भारतीय प्रदेशों का त्रिविध विभाजन मिलता है। उसके अनुसार तो इस पूरे साहित्य का प्रादुर्भाव मध्यप्रदेश में हुआ, ऐसा मानना पड़ेगा। अभिनवगुप्त के "निःशेषशास्त्रसदनं किल मध्यदेशः" इस वाक्य से भी इसकी पुष्टि होती है। इस विषय पर अभी गंभीरता से विचार अपेक्षित है।

कुछ आधुनिक विद्वान् शैव सिद्धान्तशास्त्र को दक्षिणभारत में विकसित दर्शन मानते हैं। यह स्थापना ठीक नहीं है। द्वैत, द्वैताद्वैत और अद्वैतवादी शास्त्रों की अवतारभूमि मध्यदेश है, ऐसा अभिनवगुप्त मानते हैं, तो भी कश्मीर के प्रत्यभिज्ञाशास्त्र के उद्भावक भट्ट उत्पल की तरह द्वैतवादी दर्शन के विषय में ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता, जिससे उसे दक्षिणभारत का दर्शन माना जाय। इसके विपरीत सद्योज्योति शिवाचार्य से लेकर नारायणकण्ठ के पुत्र भट्ट रामकण्ठ पर्यन्त सभी विद्वान् कश्मीर के सिद्धान्ताचार्य हैं। इनके द्वारा स्थापित परम्परा का ही दक्षिण के अघोरशिव जैसे सिद्धान्ताचार्य अनुसरण करते हैं। शैवभूषण में परिगणित १८ पद्धतिकारों में पहले कश्मीर के आचार्यों का, बाद में मध्यदेश के सोमशम्भु आदि का और सबके अन्त में दक्षिण के अघोरशिव का नाम है। इस विषय में अभी तो हम इतना ही कह सकते हैं कि द्वैतवादी सिद्धान्तागमों के साहित्य और दर्शन की रक्षा एवं उसका परिवर्धन दाक्षिणात्य विद्वानों ने किया है।

भारत में किसी भी प्रदेश में विकसित साहित्य को वहाँ का नाम नहीं दिया गया है, क्योंकि पूरे देश के विद्वानों ने इसमें अपना-अपना योगदान किया है। अभिनवगुप्त के समय में केरल से एक प्रशिक्षु ने आकर उनसे विद्याध्ययन किया और अपने घर वापस जाकर वहाँ इस विद्या का प्रचार-प्रसार किया था। पूरे देश में यह स्थिति मान्य रही है। इसीलिये प्रत्यभिज्ञादर्शन पूरे देश की सम्पत्ति है। इस मान्यता को हमें छोड़ना नहीं चाहिये, अन्यथा पूरे देश के प्रति हमारी अखण्ड दृष्टि सुरक्षित न रह सकेगी।

शिवधर्मोत्तर के एक वचन के प्रमाण से एक भारतीय विद्वान् यह सिद्ध करना चाहते हैं कि शिवागम संस्कृत, प्राकृत तथा स्थानीय भाषाओं में लिखे गये, किन्तु वहाँ उक्त वचन का उन्होंने गलत अर्थ किया है।[1] वहाँ पृष्ठ १५ की टिप्पणी में यह श्लोक दिया गया है—

संस्कृतैः प्राकृतैर्वाक्यैर्यश्च शिष्यानुरूपतः ।
देशभाषाद्युपायैश्च बोधयेत् स गुरुः स्मृतः ।।

---

१. भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग. ५, पृ. १५ टि. द्रष्टव्य।

यह वचन आगमों से संबद्ध न होकर वस्तुतः गुरु से संबद्ध है कि वह शिष्य की योग्यता के अनुसार उसे संस्कृत, प्राकृत अथवा स्थानीय भाषा के माध्यम से आगमों को समझावे।

आजकल शैवधर्म के चार रूप अधिक प्रसिद्ध हैं। वे हैं— सिद्धान्तशैव, पाशुपत, कालामुख और कापालिक। इनका परिचय यथास्थान दिया जा चुका हैं इनमें कालामुख संप्रदाय और मेयकण्डदेव-परवर्ती संस्कृत सिद्धान्त-साहित्य को हमें दक्षिणभारत का मानना होगा। कापालिक मत का उल्लेख शकसंवत् के प्रवर्तक सातवाहन नृपति के द्वारा प्राकृत भाषा में निबद्ध 'गाथासप्तशती' में मिलता है। इस ग्रन्थ की तुलना हम हिन्दी कवि बिहारी की 'सतसई' से कर सकते हैं। संस्कृत में भी 'आर्यासप्तशती' के नाम से एक ग्रन्थ उपलब्ध है। इन सबकी प्रकृति एक-सी है।

ईसा-पूर्व की दो-तीन शताब्दियों तथा परवर्ती दो-तीन शताब्दियों में भारत में यूनानियों (यवनों) की उपस्थिति की सूचना मिलती है। ग्रीक सम्राट् मिनेंडर और मिलिन्दप्रश्न नामक ग्रन्थ की चर्चा हम कर चुके हैं (पृ. ११३)। मध्यमिका और वेसनगर जैसे स्थानों से वे संबद्ध रहे हैं। प्राचीन तमिल साहित्य के साथ ग्रीक साहित्य का भी इस प्रसंग में हमें सचेत अनुशीलन करना चाहिये। यह कार्य आर्य-द्रविड़, भगवाकरण जैसे शब्दों से अभिव्यक्त होने वाली द्वेष-दृष्टि से मुक्त निष्पक्ष विद्वान् ही कर सकते हैं। यदि ऐसा कार्य हुआ है, तो उसे पूरे देश के प्रबुद्ध पाठकों के समक्ष रखा जाना चाहिये। वराहमिहिर की उस उक्ति की चर्चा हम कर चुके हैं कि विद्यावयोवृद्ध यवन ज्यौतिःशास्त्र के सम्यक् अध्येता थे, उनका भी ऋषियों के समान आदर होना चाहिये।

ईसा की छठी शताब्दी में 'खुसरो अनशेरवा' नाम के पारसीक राजा के समय में 'बुर्जो' नाम का चिकित्सक था। वह जब भारत भ्रमण के लिये आया, तो वहाँ के विद्वानों की सहायता से उसने कुछ कथाओं का पहलवी भाषा में अनुवाद किया और ५५० ई. में घर लौट आया। इन कथाओं में प्रमुख रूप से पंचतन्त्र की कथाएं संकलित थीं। करटक और दमनक नाम के सियारों के नाम पर इसका नाम "कलीला व दिमना" रखा गया। बुर्जो का यह अनुवाद आज उपलब्ध नहीं है, किन्तु इसके आधार पर १५७० ई. पर्यन्त लगातार अनुवाद होते रहे हैं। दक्षिण-एशिया के जावा से लेकर पश्चिमोत्तर यूरोप के आईसलैण्ड तक प्रचलित लगभग ६०० भाषाओं और जनपदीय बोलिये में इसके दो सौ से अधिक अनुवाद हो चुके थे। पंचतन्त्र के पूना से प्रकाशित 'फ्रेंकलिन एजर्टन' के संस्करण के आधार पर "विश्वकथासाहित्ये पञ्चतन्त्रस्य स्थानम्" शीर्षक से लिखित हमारी एक टिप्पणी "तन्त्रयात्रा" (पृ. २३५-२३७) में छपी है। उसके आधार पर इस ग्रन्थ की ऐतिहासिक यात्रा का परिचय मिल सकता है। संस्कृत से पहलवी, अरबी, हिब्रू, लेटिन और आंग्ल भाषाओं के माध्यम से पंचतन्त्र की यह ऐतिहासिक यात्रा पूरी हुई थी।

'सिद्धान्तशिरोमणि' की मुनीश्वररचित मरीचि टीका के ज्योत्पत्तिवासना प्रकरण में एक लम्बा उद्धरण मिलता है। वहाँ बताया गया है कि पारसीक सार्वभौम 'मिरजोलक वेग' ने अपने 'जीव' नामक ग्रन्थ में इस विषय पर बड़ी निपुणता से विचार किया था। 'पारसीकप्रकाश' संस्कृत और पारसी भाषा का संस्कृत भाषा में रचित कोश-ग्रन्थ उपलब्ध है।

अरबयात्री अलबेरुनी ने पुराणों का अरबी भाषा में अनुवाद किया था और औरंगजेब के बड़े भाई दाराशिकोह ने उपनिषदों का। दाराशिकोह काशी के संन्यासी कवीन्द्राचार्य सरस्वती के शिष्य थे। वरुणा नदी के किनारे इनका आश्रम था और एक विशाल पुस्तकालय भी। इस पुस्तकालय में उस समय तक विद्यमान अनेक दुर्लभ ग्रन्थों की सूची बड़ोदरा के गायकवाड़ शोधसंस्थान से प्रकाशित हो चुकी है। इस पुस्तकालय के प्रत्येक ग्रन्थ पर बड़े-बड़े अक्षरों में– "सर्वविद्यानिधान-कवीन्द्राचार्य-सरस्वतीनामिदं पुस्तकम्" यह वाक्य अवश्य लिखा मिलता है। काशी के सरस्वती भवन पुस्तकालय से लेकर देश-विदेश के अनेक प्रसिद्ध पुस्तकालयों में स्थित इनके ग्रन्थों की इस वाक्य के आधार पर पहचान की जा सकती है। हमारे "सर्वविद्यानिधान कवीन्द्राचार्य और उनका ग्रन्थालय" शीर्षक निबन्ध से इनका संक्षिप्त परिचय मिल सकता है। "निगमागम संस्कृति" नामक हमारे ग्रन्थ में इसका पुनः प्रकाशन हुआ है (पृ. ११२-११६)।

मुसलमान संस्कृत विद्वानों के व्यक्तित्व और कृतित्व पर भी कुछ साहित्य प्रकाशित हुआ है। ऊपर चर्चित तमिल, यूनानी, पारसी और अरबी विद्वानों के साथ १०वीं शताब्दी के बाद के इन सभी विद्वानों के द्वारा रचित या अनूदित साहित्य का भी विशद परिचय अपेक्षित है। एक यूरोपियन विद्वान् ने पातंजल योगसूत्र की किसी टीका के अरबी अनुवाद की हमसे चर्चा की थी। इसका मूल ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हुआ था। पारसी और अरबी भाषा में अनूदित इस तरह के अन्य ग्रन्थ भी मिल सकते हैं।

इसी तरह ईसा की पहली-दूसरी शताब्दी में चीनी और आठवीं-नवीं शताब्दी से भोट (तिब्बती) भाषा में अनूदित सहस्राधिक ग्रन्थों की सूचना मिलती है। इन पर भी अभी कार्य करना बाकी है। इन कार्यों को कौन पूरा करेगा ?

यह प्रसन्नता की बात है कि सारनाथ का तिब्बती शोध-संस्थान पुनरुद्धार योजना के अन्तर्गत भोट भाषा में अनूदित साहित्य पर कार्य कर रहा है।

सनातन धर्म

प्रसिद्ध गाँधीवादी चिन्तक काका कालेलकर का "समन्वय संस्कृति की ओर" शीर्षक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। वहाँ उन्होंने दुनिया के छः प्रधान धर्मों का परिचय दिया है। वैदिक धर्म की चर्चा करते हुए उन्होंने लिखा है कि इनमें वैदिक धर्म सबसे पुराना है, जिसको आगे चलकर हम कहने लगे 'सनातन धर्म' और परदेशी लोगों ने उसको नाम दिया 'हिन्दु धर्म' (पृ. ८-९)। परदेशियों के दिये नाम को छोड़कर हमारे लेखन में इसके स्थान पर 'सनातन धर्म' शब्द का ही प्रयोग होगा। हम समझते हैं कि कुछ विदेशी विद्वान् भी इसी शब्द को वरीयता देते हैं।

हालैण्ड के एक संस्कृतज्ञ मनीषी डॉ. जे. गोण्डा ने एक ग्रन्थ लिखा था— "चेंज एण्ड कन्टीन्युइटी इन इण्डियन रिलीजन"। यह रिलीजन दूसरा कोई नहीं, भारतीय सनातन धर्म ही है। निरन्तरता के साथ सतत परिवर्तनशीलता भी इसमें विद्यमान है। यह वेद को अब भी सर्वश्रेष्ठ शास्त्र मानता है और इस दुनियाँ का प्रत्येक प्रबुद्ध मनीषी भी इससे सहमत है। प्रसिद्ध समाजवादी चिन्तक आचार्य नरेन्द्रदेव का कहना है कि भारतीय संस्कृति को यदि कोई एक नाम देना हो, तो वह होगा सनातन धर्म। यह इसलिए है कि भारत के सभी प्राचीन धर्मों के उत्कृष्ट तत्त्वों को इसने आत्मसात् कर लिया है और उसकी यह सामर्थ्य अभी भी चुकी नहीं है कि यह आधुनिक विज्ञान के साथ दुनिया के सभी धर्मों में सामंजस्य स्थापित कर सके। विश्व में शान्ति की स्थापना का यह एक सही रास्ता है।

वैदिक काल में सनातन धर्म का ढाँचा चार वर्ण, चार आश्रम और चार पुरुषार्थ की दृढ़ नींव पर खड़ा था। सोलह संस्कारों के विधान के साथ यह प्रक्रिया पूरी होती थी। "भारतीय संस्कृति के मूल तत्त्व" शीर्षक अपनी लघु कृति में हमने इन सब पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है। संक्षेप में चार वर्णों में ब्राह्मण का अध्यापन, याजन और प्रतिग्रह (दान लेना) का एकमात्र अधिकार था। अध्ययन, यजन और दान क्षत्रिय और वैश्य भी कर सकते थे। स्त्री और शूद्र को यह अधिकार नहीं दिया गया था। कुछ वैदिक सूक्तों के द्रष्टा के रूप में अथवा ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् साहित्य में भूले-भटके स्त्री और शूद्र का भी उपदेष्टा अथवा द्रष्टा के रूप में उल्लेख मिल जाता है, किन्तु यह केवल अपवादमात्र रहा है। कहा जा सकता है कि उस काल में पूरे समाज पर ब्राह्मण वर्ग का अप्रतिहित नियन्त्रण था और इस व्यवस्था के विरुद्ध किसी को कोई एतराज भी नहीं था।

चार वर्णों की भाँति चार आश्रम भी सामाजिक व्यवस्था के अभिन्न अंग थे और संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् इन चारों आश्रमों के नियामक ग्रन्थ थे। मनुष्य की आयु सौ वर्ष मानकर प्रत्येक आश्रम की कालावधि पचीस वर्ष की मानी गयी थी।

उस काल की यह आदर्श सामाजिक व्यवस्था रही है और महर्षि वाल्मीकि के ऐतिहासिक काव्य रामायण में इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी है। इसके विरोध अथवा आलोचना में वहाँ एक भी वाक्य नहीं मिलता।

इस व्यवस्था में विकृति आयी। हिंसाप्रधान वैदिक कर्मकाण्ड के माध्यम से समाज पर ब्राह्मण वर्ग के प्रभुत्व के विरोध में बुद्ध और महावीर ने तो आवाज बुलन्द की ही, इस कार्य को प्रशस्त किया उपनिषद्, सांख्य और योगदर्शन ने, पांचरात्र और पाशुपत धर्म ने, जिसको आजकल वैष्णव और शैव धर्म के नाम से जाना जाता है। यद्यपि जैन प्राकृत साहित्य तथा बौद्ध पालि साहित्य में ब्राह्मण जाति की अपेक्षा क्षत्रिय जाति का वर्चस्व स्थापित करने का प्रयत्न हुआ है, तथापि बुद्ध का प्रधान शिष्य उपालि नापित था, जिसको बुद्ध के विनय-संबन्धी उपदेशों को लिपिबद्ध कराने का श्रेय प्राप्त है। बौद्ध संघ में प्रवेश करने के बाद भिक्षु की ज्येष्ठता का आधार जाति या आयु न होकर संघ में प्रवेश का क्रम था। वर्णाश्रम-व्यवस्था के विरोध में यह पहला क्रान्तिकारी कदम था। इसके दूरगामी परिणाम निकले और वर्णाश्रम-व्यवस्था की नींव हिल उठी।

चार वर्ण और चार आश्रमों के स्थान पर बौद्ध धर्म में भिक्षु और श्रामणेर तथा जैन धर्म में मुनि और श्रावक ये दो ही विभाग रह गये। वैष्णव और शैव धर्म ने भी इसी व्यवस्था को स्वीकार किया। इन धर्मों में दीक्षित हो जाने पर व्यक्ति की बौद्ध, जैन, वैष्णव या शैव एक ही जाति रह जाती थी। दीक्षित हो जाने पर पूर्व जाति का आग्रह या स्मरण करना भी पाप समझा जाता था। वैष्णव और शैव आगम तथा जैन, बौद्ध और शाक्त तन्त्र-ग्रन्थों में समान रूप से जाति को पाश माना गया है। तन्त्रागमशास्त्र और अलंकारशास्त्र के प्रसिद्ध कश्मीरी विद्वान् अभिनवगुप्त आदि ने मकुटसंहिता को उद्धृत किया है। इसमें भी जाति-व्यवस्था के अनौचित्य को प्रकट किया गया है। भारतीय जातिवाद अथवा ब्राह्मणवाद की समालोचना में पाश्चात्य विद्वान्, मार्क्सवादी अथवा समाजवादी राजनेतागण और आधुनिक नव-बौद्धों से बहुत पहले महेश्वरानन्द की महार्थमंजरी में तथा अन्य तन्त्रागम-ग्रन्थों में ही नहीं, महाभारत जैसे ऐतिहासिक ग्रन्थ में भी बहुत कुछ लिखा गया है। फलस्वरूप समाज का नेतृत्व ब्राह्मणों से हटकर उक्त सभी धर्मों के आचार्यों के हाथों में चला गया।

आर्य-द्रविड़, श्रमण-ब्राह्मण, ब्राह्मणवाद-मनुवाद, भगवाकरण जैसे कल्पित अथवा वास्तविक विवादों को उभाड़ कर समाज में नये सिरे से विग्रह फैलाने तथा धर्मान्तरण की भूमिका को सही बताने का प्रबल प्रयत्न आजकल चल रहा है। यह प्रच्छन्न रूप से इस उत्कृष्टतम भारतीय संस्कृति को बदनाम कर अपना वर्चस्व स्थापित करने का एक नासमझी से भरा प्रयास है। भारतीय संस्कृति के समग्र स्वरूप से परिचित होने पर आप देखेंगे कि यह सब कोरा भ्रमजाल फैलाया गया है। एक ही उदाहरण आप देखिये कि वर्तमान समय में यह पूरा देश आचार्य शंकर, रामानुज, मध्व, निम्बार्क जैसे द्रविड़ाचार्यों के उपदेशों से संचालित है। आर्य-द्रविड़ विवाद आधुनिक विद्वानों की कल्पना पर टिका हुआ है। श्रमण-ब्राह्मण अब केवल श्रीलंका के बौद्धों तक सीमित है और ब्राह्मणवाद, मनुवाद और भगवाकरण जैसे शब्द आधुनिक स्वार्थी राजनीतिज्ञों की देन हैं।

वैदिक वर्णाश्रम-व्यवस्था में वृद्धावस्था में ही संन्यास का विधान था और पूरी सामाजिक व्यवस्था धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष— इन चार पुरुषार्थों की प्राप्ति के उद्देश्य से पूर्ण नियन्त्रित थी। उपनिषद्, रामायण, महाभारत तथा पुराण साहित्य में उक्त व्यवस्था को बनाये रखने पर जोर दिया गया। इसके विपरीत उक्त सभी धर्मों ने संन्यासाश्रम की वय की सीमा को अमान्य कर दिया। "यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्" यह वाक्य बतलाता है कि उस समय तक वैदिक संस्कृति पर भी उक्त धार्मिक संस्कृति का वर्चस्व स्थापित हो गया था। इस व्यवस्था ने आग में घी डालने का काम किया। इस प्रसंग में यह उक्ति गलत नहीं है— "घृतकुम्भसमा नारी तप्ताङ्गारसमः पुमान्"। बौद्ध संघ तथा अन्यत्र भी स्त्रियों के अव्याहत प्रवेश के कारण ऐसे शास्त्र का आविर्भाव हुआ, जो भोग और मोक्ष का एक साथ विधान करता था। भगवान् बुद्ध ने इसके विरुद्ध संघ को चेतावनी भी दी थी। परिणाम यह हुआ कि स्मृतिकाल में ब्रह्मचर्य की परिभाषा थी अष्टांग मैथुन का त्याग। उसके स्थान पर अब "औष्ठ्यान्त्यत्रितया--सेवी" ब्रह्मचारी कहलाने लगा। इस अव्यवस्था को रोकने का प्रथम बार प्रयत्न किया आचार्य शंकर ने।

प्रस्थानत्रयी— उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता के भाष्यों के माध्यम से प्राचीन वर्णाश्रम-व्यवस्था की पुनः प्रतिष्ठा का उन्होंने प्रयत्न किया सही, किन्तु वे भी समाज का नेतृत्व उपनिषत्काल के त्यागी और तपस्वी गृहस्थ को न सौंप सके। फलतः युवावस्था में संन्यासी बनने से जो विकृतियां अन्यत्र आईं थी, उनका प्रवेश यहाँ भी रुक न सका। आचार्य शंकर की अपशूद्राधिकरण की व्याख्या इतिहास के क्रम को उलटने वाली शोचनीय घटना मानी जायेगी। यहीं से भारत का सामाजिक इतिहास दो भागों में बँट जाता है।

सम्राट् अशोक के बाद शुंगकाल में सनातन धर्म की पुनःप्रतिष्ठा का प्रयत्न हुआ। तब मनुस्मृति के माध्यम से अनेक संकर जातियों को वर्ण-व्यवस्था के अन्तराल में समेटने के स्तुत्य प्रयत्न में कोई बाधा नहीं उपस्थित हुई और सम्राट् हर्षवर्धन या उसके कुछ समय बाद तक बाह्य संस्कृतियों और समुदायों को आत्मसात् करने का कार्य निर्बाध रूप से निरन्तर चलता रहा। आचार्य शंकर के समय में स्थिति बदल रही थी। समता और भ्रातृभाव के सहारे विश्वबन्धुत्व का उद्घोष करने वाले इस्लाम धर्म का उदय तब हो चुका था और भारत के पश्चिमी प्रान्त-भागों में यत्र-तत्र उसके आक्रमण भी होने लगे थे। उस समय समाज में ब्राह्मण वर्ग को नहीं; बौद्ध, जैन, शैव अथवा वैष्णव धर्माचार्यों को सर्वोच्च सम्मान प्राप्त था और यही स्थिति आज भी विद्यमान है।

बुद्ध और महावीर ने, वैष्णव आलवारों और शैव नायनारों ने, सिद्धों, नाथों तथा सन्तों ने अपने उपदेशों का माध्यम लोकभाषा को बनाया था। उस परम्परा ने प्रत्येक धर्म की उदात्त भावनाओं को अपनाने का स्तुत्य प्रयास किया है। इस्लाम के आक्रमण से पूर्व तक संस्कृत भाषा के माध्यम से भी यह कार्य होता रहा, किन्तु इसके बाद लोकभाषाओं ने यह काम संभाल लिया। छान्दोग्य उपनिषद् ने सत्यकाम जाबाल के उपाख्यान में आचरण की महत्ता प्रतिपादित की थी। भारतीय जनमानस ने लम्बे परतन्त्रताकाल में भी सन्त कबीर, रैदास आदि की और भक्तों की परम्परा का ही नहीं, अपितु

हाल में गाँधीजी को महात्मा की उपाधि से विभूषित कर यह सिद्ध कर दिया है कि औपनिषद उपदेशों की परम्परा यहाँ अक्षुण्ण चली आ रही है। वर्णाश्रम-व्यवस्था इसमें कभी बाधक नहीं बनी है।

यह आश्चर्य की बात है कि उत्कृष्ट दार्शनिक सिद्धान्तों, उदात्त भावनाओं, सहिष्णुता, समन्वय और "वसुधैव कुटुम्बकम्" का उद्घोष करने वाली यह संस्कृति आज आचरण के मामले में बहुत ही दयनीय स्थिति में है। "शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः" भगवद्गीता के इस वचन का जब हम यह अर्थ करने चलते हैं कि पंडित समदर्शी तो है, किन्तु शास्त्र सबके साथ समान आचरण की अनुमति नहीं देता, तो हमें "मनस्यन्यद् वचस्यन्यत् कर्मण्यन्यत्" वाला नीतिवाक्य स्मरण आ जाता है। आज पूरा सनातनी समाज इस व्याधि से पीड़ित है। दलित वर्ग से आये किसी एक विशिष्ट व्यक्ति का सम्मान करना तो हमने सीखा है, किन्तु पूरे समाज को समानता हमने कभी नहीं दी। वर्णव्यवस्था के भीतर ही पूरे समाज को बाँधने के उद्देश्य से अनेक जातियों और उपजातियों का अम्बार लग गया। समाज को बुद्धिजीवी, सैनिक, व्यापारी और श्रमिक वर्ग में बाँटना कोई अनुचित बात नहीं थी। अनुचित प्रवेश किया इसमें ऊँच-नीच की भावना ने। सनातनी समाज में आज यह रोग इतना फैला हुआ है कि शूद्र से वैश्य, वैश्य से क्षत्रिय और क्षत्रिय से ब्राह्मण तो अपने को ऊँचा समझता ही है, ब्राह्मणों में भी अनेक वर्ग अपने को एक-दूसरे से ऊँचा मानने में होड़ लगाये बैठे हैं और इसी तरह शूद्रों में ही नहीं, दलित, अछूत कही जाने वाली जातियों में भी एक जाति से दूसरी जाति को हीन मानने वाली दुर्भावना विद्यमान है। आज का साधु-समाज भी अब इस भावना से ग्रस्त हो गया है। इनमें भी इसी ऊँच-नीच की भावना के आधार पर विभिन्न वर्ग बन गये हैं। आज दीक्षित हो जाने के बाद पूर्व जाति का स्मरण करना भी पाप है, इस सिद्धान्त को भुला दिया गया है। चिन्तन और आचरण का यह वैषम्य ही आज सनातनी समाज में बिखराव का सबसे बड़ा कारण है।

इस विषम आचरण के बावजूद भारत में इस्लाम के प्रवेश के पूर्व इससे समाज को कोई खतरा नहीं था, किन्तु एक हाथ में पवित्र कुरान के भाई-चारे को और दूसरे हाथ में तलवार को लेकर जब इस्लाम ने अपनी विजययात्रा प्रारंभ की, तो भारतीय समाज-व्यवस्था चरमरा उठी। भारतीयता का पिछले एक हजार वर्ष का इतिहास आत्मसमर्पण का रहा है। प्राचीन काल में अपनी शरण में आये यहूदी, ईसाई तथा पारसी धर्म के अनुयायियों के और अभी हाल में आये तिब्बती बौद्धों के धार्मिक अथवा सामाजिक जीवन में हमने कोई हस्तक्षेप नहीं किया, किन्तु अपनी यह विशेषता अन्य धर्मावलम्बियों के गले उतार पाने में हम आज भी असमर्थ हैं। पहले इस्लाम के, बाद में ईसाइयों और अब नव बौद्धों के द्वारा अपनी समाज-व्यवस्था में और धर्म में किये जा रहे हस्तक्षेप को हम अपनी ही कमजोरी के कारण रोक नहीं पा रहे हैं। आज सनातन धर्म में प्रवेश के सभी मार्ग बन्द हैं और निकलने के सभी दरवाजे खुले हुए हैं। क्या यह निष्क्रमण की प्रक्रिया निरन्तर चलती रहेगी?

भारत आज बहुधर्मी राष्ट्र है। जब जैन, बौद्ध और सिक्ख धर्म के अनुयायी इसी धरती की उपज होते हुए भी सनातन धर्म के साथ बेगानापन का अनुभव करते हैं, तो बाहर से आये पारसी, मुसलमान और ईसाई कैसे इसको अपना सकेंगे? जबकि आज इन बाहरी धर्मों के अनुयायी भी प्रायः

भारत भूमि के ही पुत्र हैं। राष्ट्र को सबल बनाने के लिये इनमें एक राष्ट्रीयता की भावना आवश्यक है। पारसियों ने इस राष्ट्र के साथ अपना शत-प्रतिशत तादात्म्य स्थापित कर लिया है। धर्म-परिवर्तन यदि सोच-समझ कर किया जाता है, यह दलित और जन-जातियों की सामाजिक और आर्थिक समस्या को सुलझा सकता है और राष्ट्र की एकता में यदि यह बाधक नहीं बनता, तो हो सकता है कि उदारचेता भारतीय बुद्धिजीवियों का समर्थन इसे प्राप्त हो जाय, किन्तु यदि घृणा, द्वेष, वर्गवाद और सनातन धर्म की कल्पित बुराइयों को उभाड़ कर यह किया जाता है, तो यह अवश्य ही राष्ट्रद्रोह का कार्य होगा।

मुसलमान धर्म-प्रचारक हो या ईसाई अथवा बौद्ध, सभी सनातन धर्म की कुछ त्रुटियों को बढ़ा-चढ़ाकर निरीह जनता के सामने रखते हैं और एकमात्र धर्म-परिवर्तन को उनके सभी दुःख-दर्दों की दवा बताते हैं; किन्तु द्वेष, घृणा, संकीर्णता और असहिष्णुता से भरे इस धर्म-परिवर्तन के बाद उनकी क्या दशा होती है ? गरीब मुसलमानों अथवा नव बौद्धों की भी धर्म-परिवर्तन के बाद आर्थिक ही नहीं, सामाजिक दशा में भी कोई उल्लेखनीय सुधार नहीं हुआ है और न होने वाला ही है। जोर-जबर्दस्ती अथवा छल-छद्म से धर्म-परिवर्तन की प्रवृत्ति बौद्ध धर्म में नहीं थी। अब बाह्य प्रभाव से यह प्रवृत्ति उसमें भी पनप रही है। आज भारत का नव बौद्ध मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम के चरित्र की ही भाँति गाँधीवाद से भी चिढ़ता है। उनकी दृष्टि में आज के युग में बौद्ध धर्म और मार्क्सवाद ये ही दो आर्यसत्य हैं।

आज का सनातन धर्म मनुस्मृति से नहीं, डॉ. भीमराव अम्बेडकर के द्वारा प्रारूपित हिन्दू-कोड बिल से संचालित है, यह जानते हुए भी बौद्ध भिक्षु सभा मंच से मनुस्मृति का भूत खड़ा करने से बाज नहीं आते।

इस प्रसंग में हम एक कटु-सत्य को उजागर करना चाहते हैं। प्राचीन वैदिक सनातन धर्म की अपेक्षा आज के सनातन धर्म में सांस्कृतिक आधार पर पर्याप्त परिवर्तन हुए हैं, किन्तु यही स्थिति श्रीलंका में पालित-पोषित श्रावकयानी (हीनयानी) बौद्ध धर्म की नहीं है। 'श्रमण-ब्राह्मणम्' की गलत अवधारणा यहीं पैदा हुई। भारतीय समाज के द्वारा 'आधुनिक मनु' शब्द से नवाजे गये डॉ. भीमराव अम्बेडकर जैसे समझदार व्यक्ति की आँखों से यह ओझिल कर दिया गया। श्रीलंका के पाठ्यक्रम में महाकवि अश्वघोष का बुद्धचरित शामिल नहीं है। सनातन धर्म ने जिस दुष्प्रवृत्ति को हटाने का विगत दो-ढाई हजार वर्ष में सजग प्रयत्न किया, उसे सुधारवादी आन्दोलनों और नव बौद्धों की असावधानी के कारण पुनः जिलाने का प्रयत्न किया जा रहा है। इस तरफ से समय रहते हमें सावधान हो जाना चाहिये। हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि छठी-सातवीं शताब्दी तक के व्याकरण-ग्रन्थों में 'श्रमण-ब्राह्मणम्' उदाहरण नहीं मिलता।

इस बहुधर्मी राष्ट्र की सामाजिक समस्याओं का समाधान धर्म नहीं, संस्कृति के माध्यम से होना चाहिये, जिसमें सभी धर्मों की अच्छाइयाँ विद्यमान हों और किसी भी धर्म की बुराई प्रवेश न कर सके। इसके लिए आवश्यक है कि यहाँ पर वैदिक और औपनिषद आध्यात्मिक मूल्यों तथा गार्हस्थ्य धर्म की

पुनः प्रतिष्ठा तो हो, किन्तु वर्णाश्रमधर्म की ऊँच-नीच की भावना को तिलांजलि दी जाय। जैन और बौद्ध धर्म की अहिंसा, करुणा, प्रज्ञा और दुःखी जीवों की सहायता करने की सामाजिक भावना का समावेश तो हो, किन्तु अल्प वय में मुनि, भिक्षु या संन्यासी बनने की प्रवृत्ति पर अंकुश लगाया जाय; जिसके कारण न केवल बौद्ध धर्म, किन्तु परवर्ती सनातन धर्म और ईसाई धर्म में भी रहस्यवादी प्रवृत्तियों ने जन्म लिया। इस अस्वाभाविक प्रव्रज्या से इस्लाम ने अपने को बचाकर बड़ी समझदारी का परिचय दिया है। साथ ही इसका भ्रातृभाव तथा समतादृष्टि भी सभी धर्मों के लिए अनुकरणीय है, यदि इसमें संकीर्णता और अन्य धर्मों के प्रति असहिष्णुता को हटा दिया जाय।

ईसाई मिशनरियों की सेवाभावना कभी बौद्ध भिक्षुओं में भी विद्यमान थी, किन्तु आज का सनातनी मठाधीश, महन्त, धर्मगुरु और भिक्षु स्वयं समाज की सेवा न कर, समाज से अपनी ही सेवा लेता है। आज पूरे भारत में दुर्गम स्थानों पर भी केवल ईसाई मिशनरियां ही अपनी सेवाभावना के सहारे टिकी हुई हैं। भारतीय साधु-समाज को जब तक समाज तिरस्कृत नहीं कर देता, उससे पहले ही उसमें यह सेवाभावना जागनी चाहिये।

बौद्ध विचारक धर्मकीर्ति ने आज से डेढ़ हजार वर्ष पहले स्नान करने से भी धर्म की भावना को जड़ता का लक्षण माना था। इस सस्ती धर्मभावना ने ही सनातन धर्म में दंभ को अनावश्यक प्रवेश दिया और संसार के सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ गीता को गृहस्थों की नहीं, संन्यासियों की आचारसंहिता बना दिया, महान् ग्रन्थ महाभारत का अध्ययन निषिद्ध घोषित कर दिया गया। इन सबके बावजूद हमें आशा है कि राम-कृष्ण, बुद्ध-महावीर, कबीर और गांधी का यह देश न केवल जेन्दावेस्ता (पारसी धर्म-ग्रन्थ), जो ऋग्वेद का सहोदर साहित्य है और न केवल सिक्ख गुरुओं का 'ग्रन्थ साहब' जो भारतीय सन्तपरम्परा की एक उत्कृष्ट देन है; अपितु बाइबिल और कुरान से भी जिन्हें हम अनायास आगमशास्त्र की मान्यता दे सकते हैं, ईसाई सन्तों और सूफी फकीरों के उपदेशों से भी तादात्म्य स्थापित कर कलह और कटुता के वातावरण से विश्व को त्राण दिला पाने में समर्थ हो सकता है।



महाभारत की उदार दृष्टि

महाभारत की अभी चर्चा आई है। इसके विषय में ऐसा क्यों कहा गया ? यह एक विचारणीय प्रश्न है। हमारी दृष्टि में यहाँ सनातन धर्म की गंभीर समन्वयवादिनी संस्कृति के दर्शन होते हैं। तर्कतीर्थ श्री लक्ष्मण शास्त्री जोशी भारतीय विद्या और संस्कृति के तथा आधुनिक समाजवाद के प्रबुद्ध चिन्तन मनीषी रहे हैं। हमें याद पड़ता है कि उनके भारतीय संस्कृति संबन्धी किसी ग्रन्थ पर आचार्य नरेन्द्रदेव ने प्रस्तावना लिखी थी। कुछ वर्ष पहले उन्होंने केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षासंस्थान, सारनाथ, वाराणसी में लालमणि जोशी स्मृति व्याख्यानमाला के अन्तर्गत एक सारगर्भ व्याख्यान दिया था। उसमें उन्होंने प्राचीन औपनिषद साहित्य का बौद्ध साहित्य पर तथा प्राचीन बौद्ध विचारधारा का महाभारत पर कितना गहरा प्रभाव पड़ा, इसका सुन्दर विश्लेषण किया था।

इनका कहना था कि बुद्ध के उपदेशों की प्रतिध्वनि महाभारत के शान्तिपर्व के तुलाधार-जाजलि-संवाद में सुनाई पड़ती है। जाजलि ब्राह्मण ऋषि हैं और तुलाधार किराना सामान बेचने वाला बनिया। यह कथा वहाँ (गीता प्रेस संस्करण) २६१-२६४ अध्यायों में वर्णित है। जाजलि ने घोर तपस्या की थी। तपस्या करते समय इनकी जटा में गोरैया ने घोंसला बना लिया था। इस तपस्या के प्रभाव से इनको आकाश और जल में भी अबाध गमन की सिद्धि प्राप्त हुई थी। इससे इनका अहंभाव जाग उठा। इनकी गर्वोक्ति को सुनकर अपरिज्ञात प्राणियों ने उनसे कहा था कि ऐसी गर्वोक्ति तो वाराणसी का धार्मिक तुलाधार भी नहीं कर सकता। थोड़ी देर बाद इसी सूचना को आकाशवाणी ने भी दुहराया। इससे चिढ़ कर वह तुलाधार से मिलने वाराणसी की ओर चल पड़ा। वार्तालाप के प्रसंग में तुलाधार ने जाजलि से कहा कि धन कमाने के लोभी नास्तिक पुरुषों ने वैदिक वचनों का तात्पर्य न समझ कर सत्य-जैसे प्रतीत होने वाले मिथ्या यज्ञों का प्रचार किया है। वस्तुतः मनुष्य को आत्मयज्ञ का अनुष्ठान करना चाहिये। २६४वें अध्याय में उसी ऋषि की जटा में पले पक्षी जाजलि ऋषि को श्रद्धा का महत्त्व समझाते हैं।

इस कथा में अहंकारी ब्राह्मण से विनयशील वैश्य की श्रेष्ठता बतायी गयी है। महाभारत के वन-पर्व में इसी प्रकार के ब्राह्मण से स्त्री और शूद्र की भी श्रेष्ठता प्रदर्शित है। यह उपाख्यान वहाँ २०६-२१६ अध्यायों में वर्णित है। वहाँ बताया गया है कि वेदाध्यायी कौशिक नाम का ब्राह्मण वृक्ष की छाया में बैठ कर वेदपाठ कर रहा था। पेड़ पर बैठी बलाका ने उस पर बीट कर दी। तब कुपित ब्राह्मण के देखनेमात्र से वह भस्म हो गयी। वह ब्राह्मण भिक्षा के लिये एक गृहस्थ के यहाँ पहुँचा। उसने भिक्षा के लिये आवाज लगाई और उसे गृहिणी का आश्वासन भी मिला, किन्तु इसी बीच गृहिणी बाहर

से घर आये अपने पति की सेवा-सुश्रूषा में लग गयी और याद आने पर फिर ब्राह्मण को भिक्षा देने पहुँची। इस व्यवहार से ब्राह्मण कुपित हो गया और कहने लगा कि ब्राह्मणों से इन्द्र भी डरता है, ये कुपित होने पर सारी पृथ्वी को भस्म कर सकते हैं। इस पर गृहिणी ने कहा कि हे ब्राह्मण देवता! मैं बलाका नहीं हूँ कि आपकी क्रोधभरी दृष्टि से भस्म हो जाऊँगी। वह कहती है कि देवता उसीको ब्राह्मण मानते हैं, जिसने क्रोध और मोह को जीत लिया है।

स्त्री की बातों से लज्जित हो वह ब्राह्मण उस स्त्री के कहने से मिथिला के धर्मव्याध से धर्म का रहस्य जानने को निकल पड़ता है। कुछ लोगों से पूछ कर वह धर्मव्याध के कसाईखाने तक पहुँच जाता है और उसके इस घोर कर्म की निन्दा करता है। धर्मव्याध उसको बताता है कि मैं अपनी कुलक्रमागत वृत्ति से अपनी गृहस्थी चलाता हूँ और अपने वृद्ध माता-पिता की सेवा करता हूँ। यहाँ अनेक अध्यायों में धर्मव्याध धर्म की सूक्ष्मता का वर्णन करता है। अन्तिम तीन अध्यायों में वह माता-पिता की सेवा का महत्त्व समझाता है और उस ब्राह्मण को भी ऐसा ही करने के लिए कहता है। धर्म-व्याध के उपदेश से प्रभावित वह वेदपाठी कौशिक ब्राह्मण ऐसा ही करने का निश्चय करता है और उस उपदेष्टा धर्मव्याध (कसाई) की परिक्रमा कर अपने घर के लिये चल पड़ता है– "प्रदक्षिणमथो कृत्वा प्रस्थितो द्विजसत्तमः" (२१६.३२)।

महाभारत के ही आश्वमेधिक पर्व के ९०वें अध्याय में एक नेवला उञ्छ वृत्ति के ब्राह्मण परिवार द्वारा किये गये सेर भर सत्तू के दान की महिमा को युधिष्ठिर के अश्वमेध यज्ञ से बढ़कर बताता है। युधिष्ठिर के अश्वमेध यज्ञ के पूरा होने पर वहाँ एक नेवला आता है, जिसके शरीर का एक तरफ का भाग सोने का-सा था। ब्राह्मणों के पूछने पर उसने कुरुक्षेत्र के रहने वाले ब्राह्मण-परिवार के द्वारा दिये गये सेर भर सत्तू के दान की महिमा बतायी। अनेक दिनों का भूखा परिवार सेर भर जौ का सत्तू बना कर उसको बराबर बाँट कर जब खाने बैठा, तो उसी समय कोई अतिथि आ गया। उस अतिथि को पहले ब्राह्मण ने अपना हिस्सा दिया, तब ब्राह्मणी ने। उसके बाद पुत्रवधू और पुत्र ने भी अपना हिस्सा उस अतिथि को दे दिया। इस कथा को सुना कर नेवला लोगों से कहता है कि थोड़ी देर बाद अपने बिल से मैं निकला और वहाँ बिखरे हुए सत्तू को खाने लगा। इससे मेरा मुँह और आधा शरीर, जिससे सत्तू का स्पर्श हुआ, सुवर्ण के वर्ण का हो गया। अब मुझे चिन्ता लगी कि मैं अपने बचे आधे शरीर को कैसे सुवर्णमय बनाऊँ। युधिष्ठिर के यज्ञ की चर्चा सुन कर बड़ी आशा लेकर मैं यहाँ आया था, किन्तु आप लोग देख रहे हैं कि इस पवित्र यज्ञस्थली में भी मेरा आधा शरीर सुवर्णमय नहीं हो रहा है। इसीलिये मैं कहता हूँ कि यह यज्ञ गरीब ब्राह्मण परिवार के सेर भर सत्तू के दान के सामने कुछ भी नहीं है।

शास्त्री जी ने विभिन्न भारतीय धर्मों में आदान-प्रदान की इस प्रक्रिया को स्पष्ट करने के लिये दर्शनों के अतिरिक्त रामायण, महाभारत, हरिवंश, विष्णुपुराण आदि ग्रन्थों का तथा भास, कालिदास, अश्वघोष, भवभूति आदि कवियों का भी उल्लेख किया है, किन्तु आगम और तन्त्रशास्त्र की उन्होंने कोई चर्चा नहीं की। महाभारत के प्रति भी भारतीय समाज में उपेक्षाभाव को जगाने का जो प्रयत्न

हुआ, उसे इसी परिप्रेक्ष्य में देखा जा सकता है। लगभग विगत तीन सहस्राब्दियों में विकसित यह साहित्य (महाभारत, पुराण एवं आगम-तन्त्रशास्त्र) उपेक्षित हो गया और इसीके कारण दिव्य भारतीय संस्कृति पर अपसंस्कृतियों का आक्रमण प्रबल होता जा रहा है। भारत के सांस्कृतिक इतिहास की इस विसंगति को दूर करने के लिये हमारा यह प्रयत्न कितना सार्थक होगा, भगवान् ही जाने। हमारा निश्चित मत है कि महाभारत और तन्त्रागमशास्त्र का यह उदात्त दृष्टिकोण ही भारतीय संस्कृति में दिव्यता का आधान कर सकता है।

चार पुरुषार्थ

चार वर्णों और चार आश्रमों के समान चार पुरुषार्थ भी भारतीय धर्म, दर्शन और संस्कृति के मूल आधार हैं। वर्णाश्रमधर्म का निरूपण प्रधानतः धर्मशास्त्र के ग्रन्थों में और पुराणों में भी मिलता है; किन्तु पुरुषार्थों का स्वरूप प्रायः सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय में विशेष कर दार्शनिक साहित्य में उपलब्ध होता है। हम यह भी कह सकते हैं कि धर्मशास्त्र के ग्रन्थों में धर्म का, अर्थशास्त्र में अर्थ का, कामशास्त्र में काम का और दर्शनशास्त्र के ग्रन्थों में मोक्ष का प्रधान रूप से प्रतिपादन हुआ है।

'पुरुषार्थ' शब्द पुरुष और अर्थ शब्द को जोड़कर बनाया गया है। इसका तात्पर्य है— पुरुष अर्थात् व्यक्ति का, अर्थ यानी प्रयोजन, लक्ष्य। महान् भारतीय मनीषियों ने मनुष्य के जीवन के चार लक्ष्य निर्धारित किये हैं। उनके नाम हैं— धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। ये ही 'चार पुरुषार्थ' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनमें से धर्म, अर्थ और काम त्रिवर्ग कहलाते हैं। इनका विधान सामान्य जन के जीवन को सुव्यवस्थित करने तथा समाज को सुस्थिर बनाने के लिए हुआ है। मोक्ष अन्तिम लक्ष्य है। धर्म से नियन्त्रित अर्थ और काम का सेवन करने वाला, निष्काम कर्मयोगी अथवा अध्यात्म ज्ञान से सम्पन्न महात्मा ही इसका अधिकारी बन सकता है।

त्रिवर्ग की सिद्धि का नाम है— अभ्युदय। चौथे पुरुषार्थ मोक्ष की सिद्धि का नाम निःश्रेयस है। संसार में मनुष्य का अभितः उदय, सब तरह की उन्नति होना, अर्थात् सब तरह से सुख को प्राप्त करना अभ्युदय कहलाता है। इसी तरह से जिससे बढ़कर कोई भी श्रेयान् (श्रेष्ठतम) फल न हो, उसकी प्राप्ति को निःश्रेयस, अर्थात् मोक्ष कहते हैं।

त्रिवर्ग में वैषयिक सुखोपभोग को काम कहते हैं। काम-सुख उपेय है, अर्थात् साध्य है। इसके साधन हैं— धर्म और अर्थ। इस तरह से साध्य और साधन के रूप में इन तीनों पुरुषार्थों का, अर्थात् धर्म, अर्थ और काम का सामूहिक नाम त्रिवर्ग है। इस त्रिवर्ग के साथ चतुर्थ पुरुषार्थ मोक्ष को मिला देने से चतुर्वर्ग बन जाता है। चतुर्भद्र के नाम से भी यह प्रसिद्ध है।

ये चारों पुरुषार्थ मनुष्य-जीवन के सर्वोत्तम उद्देश्य हैं। इनमें से कोई मनुष्य अर्थ को चाहता है, कोई काम-सुख को और अन्य इन दोनों के मूल धर्म को चाहते हैं। कुछ लोग धर्म, अर्थ और काम नामक त्रिवर्ग को समान रूप से चाहते हैं। सामान्य रूप से सर्वत्र इसी पक्ष को मान्यता मिली है। त्रिवर्ग का विधिवत् उपार्जन कर लेने पर मानव (पुरुष) अन्तिम लक्ष्य मोक्ष को भी प्राप्त कर लेता है। तब वह चतुर्भद्र से सम्पन्न हो जाता है। उसको सर्वत्र सदा सनातन सुख का साक्षात्कार होता रहता है। मानव जीवन का यही तो चरम लक्ष्य है। इसीलिये भारतीय शास्त्र में ये पुरुषार्थ-चतुष्टय के नाम से जाने जाते हैं।

समभाव से सेवित धर्म, अर्थ और काम— ये तीनों ही पुरुषार्थ वस्तुतः निर्मल और निर्दोष हैं, अतः इनके सम्यक् अनुष्ठान से चतुर्थ पुरुषार्थ मोक्ष अनायास ही सिद्ध हो जाता है, किन्तु इनका उपार्जन करने वाले मनुष्य के सदोष होने पर ये भी दूषित हो जाते हैं। महाभारत के शान्तिपर्व (१२३.१०) में वर्णित है कि धर्म में फल की अभिलाषा, अर्थात् सकामता; अर्थ में निगूहन, अर्थात् उसे दान और भोग में न लगाकर छुपाये रखना तथा काम में संप्रमोह, अर्थात् उसमें उत्कट मोह उत्पन्न हो जाना— ये तीन क्रमशः धर्म, अर्थ और काम के दोष हैं। इनके निवारण के लिये सूक्ष्मदर्शी पुरुष धर्म का अनुष्ठान सकाम-भाव से न कर निष्काम-भावना से करता है। अर्थ का उपार्जन त्याग के लिये और काम का सेवन शरीर के स्वास्थ्य के लिये करता है। स्वस्थ शरीर से ही व्यक्ति धर्म, अर्थ और काम के सेवन में समर्थ होता है। इस तरह निर्मल, निर्दोष त्रिवर्ग के सेवन से चतुर्थ पुरुषार्थ, भगवत्प्राप्ति रूप मोक्ष अनायास सिद्ध हो जाता है। सबसे उत्कृष्ट अक्षय पुरुषार्थ मोक्ष है। इसीलिये इसे परम पुरुषार्थ भी कहा जाता है।

धर्म, अर्थ और काम— यह त्रिवर्ग उपाय (साधन) और चतुर्थ पुरुषार्थ, अर्थात् मोक्ष उपेय (साध्य) है। उपाय का यथावत् अनुष्ठान होने से उपेय स्वयं ही प्राप्त हो जाता है। अतः त्रिवर्ग का अनुष्ठान यदि उचित रीति से हो, तो फिर मोक्ष तो अपने आप ही सिद्ध हो जायेगा। इस तरह से मानव-जीवन का साफल्य त्रिवर्ग की प्राप्ति पर निर्भर है, अतः प्रत्येक गृहस्थ को धर्म, अर्थ और काम का यथाविधि सेवन करने का प्रयत्न करना चाहिये। त्रिवर्ग के सिद्ध हो जाने पर गृहस्थ को इस लोक और परलोक में अभ्युदय की प्राप्ति होती है।

त्रिवर्ग में किसी एक का अनुष्ठान इतनी अधिक मात्रा में नहीं होना चाहिये कि इन तीनों में परस्पर बाधा पहुँचे। काम का भी सेवन इस प्रकार से करना चाहिये कि उससे धर्म और अर्थ के सेवन में बाधा न आवे और विषय-सुख का परित्याग कर पूरी तरह से सुखहीन होना भी उचित नहीं है। इसी बात को कौटिल्य के अर्थशास्त्र में कहा गया है (१.७.६-७)। अन्य आचार्य भी इस विषय की पुष्टि करते हैं। मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम युवराज भरत से चित्रकूट पर मिलते समय कुशल-प्रश्न के व्याज से त्रिवर्ग के सम-सेवन पर ध्यान आकृष्ट करते हैं। वाल्मीकिरामायण (अयो. १००.६२-६३) में इसे देखा जा सकता है। महाभारत (शान्ति. ९१.५३) में त्रिवर्ग में धर्म को अधिक महत्त्व दिया गया है। यह इसलिये कि धार्मिक पुरुष ही अर्थ और काम पर नियन्त्रण स्थापित करने में समर्थ हो सकता है। इसीलिए मनु ने स्पष्ट आदेश दिया है कि मनुष्य को ऐसे अर्थ और काम का परित्याग कर देना चाहिये, जो धर्म के विपरीत हो (४.१७६)। तैत्तिरीय श्रुति (१.११.१) का भी कहना है कि धर्म के अनुष्ठान में कभी प्रमाद नहीं करना चाहिये।

धर्म, अर्थ और काम नामक त्रिवर्ग की और चतुर्थ पुरुषार्थ मोक्ष की सामान्य रूप से यहाँ चर्चा की गयी है। इनकी पृथक्-पृथक् विशेष विवेचना करने से पहले भारतीय वाङ्मय में इस विषय में क्या कहा गया है, इसे संक्षेप में बताया जा रहा है।

मनुस्मृति में त्रिवर्ग का विशेष रूप से तथा मोक्ष का सामान्य रूप से विवेचन मिलता है। यहाँ द्वितीय अध्याय के प्रारंभ में ही बताया गया है कि राग और द्वेष से रहित धार्मिक विद्वानों ने जिसका सदा सेवन किया और हृदय से जिसका अनुमोदन किया, वही धर्म है। संपूर्ण वेद, वेद को जानने वाले मनु आदि की स्मृतियाँ एवं उनमें निर्दिष्ट शील-सदाचार का पालन तथा विकल्प का विधान होने पर अपनी रुचि के विकल्प को स्वीकार करना– ये चार धर्म के आधार हैं। श्रुति और स्मृति के द्वारा उपदिष्ट धर्म का अनुसरण करने वाला मनुष्य इस संसार में कीर्ति को और परलोक में अनुपम सुख को प्राप्त करता है। श्रुति वेद को और स्मृति धर्मशास्त्र को कहा जाता है। इनकी शुष्क तर्क के सहारे मीमांसा नहीं करनी चाहिये, क्योंकि धर्म की उत्पत्ति इन्हींसे होती है। यहाँ के छठे श्लोक में बताया गया है कि वेद, स्मृति, सदाचार और विकल्प की स्थिति में अपनी रुचि– ये ही चार धर्म के साक्षात् लक्षण हैं।

फल की कामना अच्छी नहीं मानी जाती और संसार में कोई कामना से रहित व्यक्ति है भी नहीं। वेदों का अध्ययन और वैदिक कर्मकाण्ड का अनुष्ठान भी एक प्रकार की कामना ही है। काम की उत्पत्ति संकल्प से होती है। यज्ञ की उत्पत्ति भी संकल्पमूलक ही है। व्रत और यज्ञ-नियम भी संकल्प से ही उत्पन्न हुए हैं। इस संसार में बिना कामना के कोई मनुष्य किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता। मनुष्य जो कुछ भी करता है, वह सब काम (इच्छा) का ही खेल है। इसमें से शास्त्रोक्त कर्मों का यथाविधि आचरण करने वाला मनुष्य अमरलोक को प्राप्त करता है और इस लोक में सभी संकल्पित कामनाओं को पूरा करने में समर्थ होता है। यहाँ आगे (२.९४) बताया गया है कि कामना (इच्छा) विषयों के उपभोग से कभी शान्त नहीं होती। वह तो घृत से दी गई आहुति से अग्नि के समान बार-बार बढ़ती ही जाती है।

अर्थ और काम में जो व्यक्ति आसक्त नहीं है, उसीको धर्म का ज्ञान कराया जाता है। धर्म की जिज्ञासा करने वाले व्यक्ति के लिए श्रुति ही परम प्रमाण है। जहाँ दो प्रकार की श्रुतियाँ उपलब्ध हों, उन दोनों को प्रमाण माना जाता है, क्योंकि विद्वानों ने इन दोनों पक्षों को स्वीकार किया है। दर्श-पूर्णमास आदि का अनुष्ठान कब करना चाहिये, इस विषय में शास्त्रों में तीन पक्ष मिलते हैं– सूर्योदय हो जाने पर, सूर्योदय से पहले तथा कभी विलम्ब हो जाने पर भी। किसी भी व्यक्ति को कोई एक पक्ष स्वीकार करने पर यावज्जीवन उसी पक्ष का अनुष्ठान करना चाहिये। कभी कालात्यय हो जाने पर भी अनुष्ठान को छोड़ा नहीं जाता।

यद्यपि मनुस्मृति में अर्थ की स्वतन्त्र रूप से चर्चा नहीं मिलती, तो भी चारों वर्णों की वृत्ति (जीविका) के प्रसंग में इसकी चर्चा हुई है। त्रिवर्ग-संबन्धी कुछ महत्त्वपूर्ण उक्तियाँ वहाँ इधर-उधर बिखरी हुई हैं; उनको यहाँ इकट्ठा कर प्रस्तुत किया जा रहा है।

विद्यादान के प्रसंग (२.११२) में यहाँ बताया गया है कि धर्म, अर्थ अथवा शुश्रूषा के अभाव में आचार्य को विद्याध्ययन नहीं कराना चाहिये। अन्यत्र (२.२२४) त्रिवर्ग सम्बन्धी मतों की चर्चा करते हुए कहा गया है कि कुछ आचार्य धर्म और अर्थ को कल्याणकारी मानते हैं, अन्य आचार्य काम

और अर्थ को अथवा केवल धर्म को कल्याणकारी मानते हैं। स्पष्ट है कि यहाँ त्रिवर्ग के रूप में धर्म, अर्थ और काम की, धर्म और अर्थ की, काम और अर्थ की, केवल धर्म अथवा केवल अर्थ की स्थिति भी मान्य है, किन्तु केवल काम को मान्यता कहीं भी नहीं दी गयी है। कामसूत्र (१.२.१४) में भी इसको तीसरा स्थान दिया गया है, जबकि अर्थशास्त्र (१.७.१०) में अर्थ को प्रथम।

चौथे अध्याय के प्रारंभ में विस्तार से वृत्ति (अर्थ) की चिन्ता की गयी है और तब (४.९२) बताया गया है कि ब्राह्म मुहूर्त में उठकर गृहस्थ को धर्म और अर्थ की चिन्ता करनी चाहिये। इसी प्रसंग को आगे बढ़ाते हुए वहाँ (४.१७६) कहा गया है कि धर्मरहित अर्थ और काम का त्याग कर देना चाहिये। उस धर्म का भी त्याग कर देना चाहिये, जो भविष्य के लिये सुखकारी नहीं है और जो लोक में निन्दित है।

वर्णाश्रमधर्म के निरूपण के बाद मनुस्मृति (६.९१-९४) में सामान्य रूप से पूरी मानव जाति के लिए पालनीय दस लक्षण वाले धर्म का निरूपण किया गया है। नैतिकता के रूप में इसे आधुनिक काल में भी मान्यता मिली हुई है। धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध— ये ही धर्म के दस लक्षण हैं। इनका विस्तृत विवेचन अभी आगे किया जायेगा। धर्म के इन दस लक्षणों का जो व्यक्ति सम्यक् पालन करता है, वह परम गति को प्राप्त करता है। पूरी सावधानी से दस लक्षण वाले धर्म का अनुसरण करने वाला व्यक्ति अन्त में संन्यास ग्रहण कर वेदान्त शास्त्र का अध्ययन-मनन करे। ऐसा करने से उसके लिये मोक्ष का मार्ग प्रशस्त हो जाता है।

इसी तरह से आगे (१०.६३) मनु ने अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह के रूप में चारों वर्णों के लिए धर्म की संक्षिप्त व्याख्या प्रस्तुत की है। इनके अनुपालन से भी मानव मोक्ष मार्ग की ओर आगे बढ़ता है। अन्तिम अध्याय (१२.८३) में वेदाभ्यास, तप, ज्ञान, इन्द्रिय-संयम, अहिंसा और गुरुसेवा— निःश्रेयस के इन छः उपायों का वर्णन कर प्रवृत्ति-लक्षण एवं निवृत्ति-लक्षण धर्म का स्वरूप एवं फल प्रदर्शित है। वहाँ (१२.१०४) बताया गया है कि तप और विद्या की सहायता से मनुष्य मुक्त हो जाता है। तप की सहायता से उसके सारे दुष्कृत दूर हो जाते हैं और विद्या (आत्मज्ञान) के सहारे वह मुक्ति को प्राप्त करता है। ईशावास्योपनिषद् (मन्त्र ११) का भी कहना है— **विद्ययाऽमृतमश्नुते।**

अन्त में पूरे शास्त्र के निष्कर्ष के रूप में तर्क को प्रस्तुत किया गया है (१२.१०५-१०६)। जो विद्वान् प्रत्यक्ष, अनुमान और नाना आगमों में विभक्त शास्त्र, अर्थात् शब्द— इन त्रिविध प्रमाणों को स्वीकार कर इनकी सहायता से धर्म के सुविशुद्ध स्वरूप को जानना चाहता है, उसे तर्क का सहारा लेना चाहिये। यह तर्क शास्त्रानुवर्ती होना चाहिये, शास्त्र का विरोधी नहीं। यास्क मुनि ने निरुक्त (१३.१२) में बताया है कि ऋषि-परम्परा के लुप्त हो जाने पर देवताओं ने मनुष्यों को तर्क-शक्ति प्रदान की। प्रत्यभिज्ञाशास्त्र के ग्रन्थों में षडंग योग को मान्यता दी गयी है। तर्क को वहीं अप्रतिष्ठित माना गया है, जहाँ वह वेदागमशास्त्रों के विपरीत जाता हो।

पुराणों का भी कहना है कि चार वर्णों और चार आश्रमों के समान चार पुरुषार्थ भी भारतीय धर्म, दर्शन और संस्कृति के मूल आधार हैं। महान् भारतीय मनीषियों ने जिन चार पुरुषार्थों का प्रतिपादन किया है, वे मानव जीवन के अस्तित्व के चार लक्ष्य माने गये हैं। उनमें सर्वोत्तम लक्ष्य है मोक्ष, जिसे कई नामों से पुकारा जाता है। भिन्न-भिन्न दर्शनों में इसके भिन्न-भिन्न नाम हैं और तदनुरूप ही इसके स्वरूप में भी भिन्नता आ जाती है, तो भी सभी प्रकार के सांसारिक बन्धनों से मुक्ति को ही सामान्य रूप से हम मोक्ष कह सकते हैं। मुक्ति, कैवल्य, निःश्रेयस, अपवर्ग, अमृतत्व, निर्वाण जैसे शब्द इसके पर्याय हैं। मोक्ष-प्राप्ति के उपाय के रूप में पुराणों में कर्मयोग, ज्ञान और भक्ति का वर्णन मिलता है। कुछ पुराणों और दर्शनों में ज्ञान और कर्म के समुच्चय को वरीयता दी गयी है।

पुरुषार्थ-चतुष्टय के प्रसंग में अर्थ और काम को उद्दिष्ट कर कूर्मपुराण (१.२.५१-६२) का कहना है कि उस अर्थ और काम का परित्याग करना चाहिये, जो धर्मविहीन है। लोकविरुद्ध धर्म का भी आचरण नहीं करना चाहिये। धर्म से अर्थ और काम की सिद्धि होती है। अपवर्ग (मोक्ष) के लिये धर्म जरूरी है, अतः धर्म का आश्रय अवश्य ग्रहण करना चाहिये। कूर्मपुराण के उपरि विभाग में स्थित ईश्वरगीता (१-११ अ.) में ज्ञान का और व्यासगीता (१३-३३ अ.) में कर्म का विवेचन किया गया है। अपवर्ग (मोक्ष) के लिये धर्म जरूरी है, अतः वहाँ कहा गया है कि मुक्ति के लिये धर्म का आश्रय अवश्य ग्रहण करना चाहिये।

यहाँ धर्म, अर्थ और काम रूपी त्रिवर्ग को क्रमशः सत्त्व, रज और तम रूपी त्रिगुण से युक्त माना गया है। अतः उत्तम पुरुष को धर्म का सहारा अवश्य लेना चाहिये। धर्मयुक्त अर्थ और काम में निरत व्यक्ति इस लोक में सुखी रह कर मरणोपरान्त मोक्ष को प्राप्त करने में समर्थ होता है। धर्म से मोक्ष एवं अर्थ से काम की सिद्धि होती है। इस तरह से इन चार पुरुषार्थों में परस्पर अनुस्यूतता रहनी चाहिये। धर्म संपूर्ण स्थावर-जंगमात्मक जगत् को धारण करता है। यह ब्रह्म की वह शक्ति है, जिसका कोई आदि और अन्त नहीं है। धर्म से भक्ति एवं भक्ति से परमतत्त्व की प्राप्ति होती है।

कूर्मपुराण के उपरि विभाग में ही चार पुरुषार्थों की चर्चा है (२.२५.२०-३१)। वहाँ कहा गया है कि ब्राह्मणों का काम नामक पुरुषार्थ धर्म का विरोधी नहीं होना चाहिये। अर्थ का उपयोग धर्म के लिए होना चाहिये। इससे भिन्न अर्थ, अनर्थ का कारण होता है, अतः अर्थ प्राप्त होने पर व्यक्ति को दान, हवन और यज्ञ आदि के द्वारा इष्ट और पूर्त कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिये।

निःसंदेह कर्म एवं ज्ञान के द्वारा धर्म की प्राप्ति होती है, अतः ज्ञान के साथ कर्मयोग का भी आचरण करना चाहिये। वैदिक कर्म प्रवृत्ति एवं निवृत्ति के भेद से दो प्रकार का होता है। निवृत्ति कर्म में ज्ञान की एवं प्रवृत्ति कर्म में कर्मों की प्रधानता रहती है।

प्रवृत्त और निवृत्त नामक द्विविध वैदिक कर्मों का निरूपण मनुस्मृति (१२.८८-९०) में भी मिलता है। अभी ऊपर इनकी चर्चा की गयी है। वहाँ बताया गया है कि निवृत्त कर्मों का सेवन करने वाला मोक्ष को प्राप्त करता है।

भारतरत्न डॉ. पी.वी. काणे ने धर्मशास्त्र से संबद्ध अपने बृहत् इतिहास ग्रन्थ के प्रथम भाग (पृ. १०४-१०५) में अतिसंक्षेप में चार पुरुषार्थों का परिचय दिया है। इनकी चर्चा करते हुए वे कहते हैं कि इनमें अन्तिम मोक्ष परम लक्ष्य है, जिसकी प्राप्ति हर किसी को नहीं हो पाती, अधिकांश मनुष्यों के लिये केवल आदर्शमात्र है। काम सबसे भिन्न श्रेणी का पुरुषार्थ है, इसे केवल पृथग्जन ही सर्वोत्तम पुरुषार्थ मानते हैं।

महाभारत (उद्योग. १२४.३४-३८; एवं शान्ति १६७.८-९) में आया है कि एक समझदार व्यक्ति धर्म, अर्थ और काम– इन तीनों पुरुषार्थों को प्राप्त करता है, किन्तु यदि उसे एक को चुनना है, तो वह धर्म का ही चुनाव करे। धर्मशास्त्रकारों ने काम की सर्वथा भर्त्सना नहीं की है, वे उसे मानव की क्रियाशील प्रेरणा के रूप में ग्रहण करते हैं, किन्तु उसे अन्य पुरुषार्थों से निम्न कोटि का ठहराते हैं। गौतम (९.४६-४७) ने धर्म को सर्वश्रेष्ठ स्थान दिया है। याज्ञवल्क्यस्मृति (१.११५) में भी यही बात कही गयी है। आपस्तम्ब. (२.८.३०.२२-२३) में कहा गया है कि धर्म के विरोध में न जाने वाले सभी काम-सुखों का भोग करना चाहिये। इस प्रकार उसे दोनों लोक मिल जाते हैं। भगवद्गीता (७.११) में श्रीकृष्ण अपने को धर्माविरुद्ध काम बताते हैं।

कौटिल्य का कहना है कि धर्म और अर्थ के अविरोध से काम का सेवन करना चाहिये, बिना आनन्द का जीवन नहीं बिताना चाहिये। अपनी मान्यता के अनुसार कौटिल्य ने अर्थ को ही प्रधानता दी है, क्योंकि अर्थ से ही धर्म एवं काम की सिद्धि होती है। मनुस्मृति (२.२२४), विष्णुधर्मसूत्र (७१.८४) एवं भागवत (१.२.९) ने धर्म को ही प्रधानता दी है। धर्मशास्त्रकारों ने इस प्रकार सामान्य एवं परम लक्ष्यों और प्रेरणाओं की ओर संकेत किया है और अन्त में इन्हींको श्रेष्ठतम रूप में पाया है। उनके अनुसार उच्चतर जीवन के लिये तन और मन दोनों का अनुशासित होना परम आवश्यक है, अतः निम्नतर लक्ष्यों का उच्चतर गुणों और मूल्यों के आश्रित रहना उचित है। मनु ने अरस्तु के समान ही सभी क्रियाओं के पीछे कोई अनुशासित या पूर्वकल्पित शुभ या कल्याणप्रद तत्त्व मान लिया है। उन्होंने कहा है कि प्रत्येक जीव वासनाओं की ओर झुकता है, अतः उन पर बल देने के स्थान पर उनके निग्रह पर बल देना चाहिये (मनु. ५.५६)। उपनिषदों ने भी हित और हिततम के अन्तर को स्वीकार किया है।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र की अभी चर्चा आयी है। प्रथम अधिकरण के सातवें अध्याय में वहाँ यह विषय आया है। बिना आनन्द का जीवन बिताना उचित नहीं है, ऐसा मान कर वहाँ काम के सेवन की इस रूप में अनुमति दी गयी है कि वह धर्म और अर्थ का विरोधी नहीं होना चाहिये (१.७.६-७)। अगले दो सूत्रों में इस विषय को अधिक स्पष्ट रूप से प्रस्तुत किया गया है कि त्रिबर्ग का सेवन समान रूप से इस तरह से करना चाहिये कि इनमें परस्पर अनुस्यूतता हो, किसी प्रकार का विरोध न हो। धर्म, अर्थ और काम नामक त्रिवर्ग में से किसी एक का अधिक सेवन करने से वह स्वयं अपने को ही नहीं, बचे दोनों वर्गों को भी पीड़ा-पहुँचाता है। कौटिल्य आगे अर्थ की प्रधानता को स्थापित करते हुए कहते हैं कि धर्म और काम का सेवन अर्थ की सहायता से ही किया जा सकता है। सातवें अध्याय के ६-११ सूत्रों में राजा के व्यवहार के प्रसंग में त्रिवर्ग-संबन्धी ये विचार अनुस्यूत हैं।

इससे पहले के छठे अध्याय में भी भारतीय दर्शनों में अरि षड्वर्ग के रूप में वर्णित काम, क्रोध, लोभ,[१] मोह, मद और हर्ष नामक षड्विध हानिकर भावों के परित्याग की राजा को सलाह दी गयी है। काम, क्रोध आदि के वशीभूत राजाओं के पतन की यहाँ चर्चा हुई है। काम के प्रसंग में वात्स्यायन के कामसूत्र (१.२.४४) में चर्चित दाण्डक्य भोज यहाँ (१.६.६) भी उल्लिखित है। हमें ऐसा लगता है कि अर्थशास्त्र, कामशास्त्र और न्यायशास्त्र की दृष्टि में बहुत कुछ समानता है।

अर्थशास्त्र में वर्णाश्रम-धर्मों और कुछ संस्कारों की भी चर्चा मिलती है। उन्हें हम यहीं प्रस्तुत कर दे रहे हैं। तीसरे अध्याय में साम, ऋक् और यजुर्वेद की त्रयी के रूप में चर्चा कर अथर्ववेद और इतिहासवेद का भी परिगणन करते हुए शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्दोविचिति और ज्यौतिष नामक छः अंगों का उल्लेख किया गया है और बताया गया है कि यह त्रयी-धर्म चार वर्णों और चार आश्रमों को अपने-अपने धर्म में स्थित रखने के कारण लोक का अत्यन्त उपकारक है।

ब्राह्मण का अपना धर्म अध्ययन, अध्यापन, यजन, याजन, दान देना और लेना है। क्षत्रिय का धर्म अध्ययन, यजन और दान के अतिरिक्त शस्त्रों से जीवन का निर्वाह करना और प्राणियों की रक्षा करना है। वैश्य का धर्म अध्ययन, यजन और दान के अतिरिक्त कृषिकार्य, पशुओं की रक्षा करना एवं व्यापार है। शूद्र का धर्म द्विजाति की सेवा करना, वार्ता अर्थात् लोकयात्रा का निर्वाह; खेती-पशुपालन, व्यापार-वाणिज्य आदि नाना प्रकार के शिल्प एवं गायन-वादन के साथ चारणों का आचरण है।

गृहस्थ का अपना धर्म अपने वर्ण के अनुकूल कार्यों से जीविका चलाना, अपने कुल आदि से समान और भिन्न गोत्र वालों के साथ विवाह संबन्ध स्थापित करना, ऋजुगामी होना, देवगण-पितृगण-अतिथिगण और भृत्यों का भोजन आदि से सत्कार कर तदुपरान्त स्वयं भोजन करना है। ब्रह्मचारी का धर्म वेदाध्ययन, अग्निसेवा, नित्य स्नान करना और भिक्षाचर्या है। नैष्ठिक ब्रह्मचारी को जीवन पर्यन्त गुरु के पास, गुरु के न रहने पर गुरुपुत्र अथवा अपने किसी समान शाखाध्यायी के समीप रहना चाहिये। वानप्रस्थ का धर्म ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करना, भूमि पर शयन करना, जटा तथा मृगचर्म आदि का धारण करना, प्रतिदिन अग्नि-सेवा करना, नित्य स्नान करना, देवगण-पितृगण-अतिथिगण की पूजा करना और वन में पैदा होने वाले कन्द-मूल, फल आदि का आहार करना है। इसी तरह से संन्यासी का धर्म जितेन्द्रिय होना, फल की इच्छा न रखना, किसी वस्तु पर अपना अधिकार न रखना, सब तरह की आसक्ति का त्याग, भिक्षावृत्ति से जीवन-यापन, वन में नाना स्थलों पर निवास तथा बाह्य और आन्तर शौच, अर्थात् शरीर, वाणी और मन को शुद्ध रखना है।

हम देखते हैं कि यहाँ अतिसंक्षेप में वर्णों एवं आश्रमों के धर्मों का निरूपण हुआ है। मनुस्मृति जैसे धर्मशास्त्र के ग्रन्थों में इनका इसी रूप में वर्णन हुआ है। आश्रमों का निरूपण करते समय गृहस्थाश्रम को यहाँ पहला स्थान दिया गया है। धर्मशास्त्र के ग्रन्थों में भी कहीं-कहीं यह क्रम देखने को मिलता है। वहाँ बताया गया है कि अन्य तीनों आश्रम गृहस्थाश्रम पर ही निर्भर हैं। इस स्थिति की ओर इंगित करने के लिये ही गृहस्थाश्रम को प्राथमिकता दी गयी है।

---

१. दोषों का विवेचन करते समय "तेषां मोहः पापीयान्" (४.१.६) इस न्यायसूत्र में मोह को बलीयान् कहा है।

संस्कारों का यहाँ कोई व्यवस्थित विवरण देखने को नहीं मिलता। राजपुत्रों के विद्याभ्यास के प्रसंग में इसी अधिकरण के पांचवें अध्याय में चौलकर्म आदि की सूचना मिलती है। यहाँ बताया गया है कि चौलकर्म (मुण्डन संस्कार) के उपरान्त लिपि का तथा गिनती का अभ्यास करावे। उपनयन संस्कार के अनन्तर बटुक को सदाचारी विद्वान् आचार्यों से त्रयी और आन्वीक्षिकी को तथा उन-उन विभागों के अध्यक्षों से वार्ता को, इसी प्रकार वक्ता और प्रयोक्ता, अर्थात् सन्धि-विग्रह आदि के यथार्थ जानकार और इनका उचित स्थानों पर प्रयोग करने वाले अनुभवी विद्वानों से दण्डनीति को सिखावें। यह सोलह वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य का पालन करे। इसके अनन्तर गोदान (समावर्तन एवं केशान्त) संस्कार एवं विवाह करे। इस तरह से यहाँ चौल, उपनयन, गोदान और दारकर्म (विवाह) नामक केवल चार संस्कारों की चर्चा है।

ऊपर इतिहास नामक पांचवें वेद की चर्चा आई है। यहाँ (१ ५.१ ४) पुराण, इतिवृत्त, आख्यायिका उदाहरण, धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र का इसमें समावेश माना गया है। विद्यासमुद्देश नामक द्वितीय अध्याय में आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति नामक चार विद्याओं की चर्चा है। इस विषय में विभिन्न आचार्यों के मतों को प्रदर्शित कर कहा गया है कि कौटिल्य के मत में चारों विद्याएं मान्य हैं। आन्वीक्षिकी में यहाँ सांख्य, योग और लोकायत मत परिगणित हैं (१.२.१०)। इस प्रसंग में यह अवधेय है कि परवर्ती काल में इस शब्द से न्यायविद्या का (न्यायभाष्य, पृ. ४) ग्रहण होने लगा।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में निरूपित इन विषयों की चर्चा एक साथ यहाँ इसलिये कर दी गयी है कि भारत के प्राचीन आचार्यों में इनकी गणना होती है और इनके स्थितिकाल और इस ग्रन्थ के रचनाकाल के विषय में किसीको कोई सन्देह नहीं है कि वे सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य के महामात्य थे। भारतीय साहित्य में चाणक्य के नाम से ये प्रसिद्ध हैं। इनका समय ईसा-पूर्व तीसरी-चौथी शताब्दी माना जाता है। प्रस्तुत प्रकरण के सभी विषय— संस्कार, वर्णाश्रमधर्म और पुरुषार्थ अर्थशास्त्र में बहुत ही संक्षेप में चर्चित है। भारतीय भावनाओं की निरन्तरता का इससे पता चलता है।

वात्स्यायन मुनि के कामसूत्र के प्रथम अधिकरण के त्रिवर्ग-प्रतिपत्ति शीर्षक द्वितीय अध्याय में इसके नाम के अनुरूप धर्म, अर्थ और काम नामक त्रिवर्ग का अच्छा विश्लेषण किया गया है। इस ग्रन्थ का प्रारंभ ही धर्म, अर्थ और काम के नमन के साथ होता है– "धर्मार्थकामेभ्यो नमः" ।

यहाँ बताया गया है कि पुरुष की आयु सौ वर्ष की मानी गई है। इस आयु को तीन भागों में विभक्त कर वह त्रिवर्ग का इस प्रकार सेवन करे कि वे आपस में एक-दूसरे से जुड़े हों, विरोधी न हों। बचपन में विद्याध्ययन आदि के रूप में अर्थ की चिन्ता करे। युवावस्था में काम का और वृद्धावस्था में धर्म और मोक्ष का सेवन करना चाहिये। मनुष्य की आयु का कोई भरोसा नहीं है, ऐसी स्थिति में शास्त्रकार का कहना है कि यथासंभव जब जैसी सुविधा हो, तब उसका सेवन करना चाहिये।

इस ग्रन्थ की जयमंगला टीका के रचयिता यशोधर ने आयु के दो विकल्प दिये हैं। एक के अनुसार बाल्यावस्था १६ वर्ष तक की, मध्यावस्था ७० वर्ष तक की तथा इसके बाद का काल स्थविरावस्था कहलाता है। दूसरे मत के अनुसार सौ वर्ष को तीन भागों में विभक्त कर प्रत्येक की

अवधि ३ ३ वर्ष चार मास बतायी गयी है। सामान्यतः १ ६ वर्ष की अवस्था में काम का उद्भव देखने को मिलता है। अगले छठे सूत्र में व्यवस्था दी गयी है कि विद्याग्रहण-पर्यन्त प्रत्येक व्यक्ति को ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिये। इस प्रकार प्रथम अवस्था में अर्थ का, द्वितीय में काम तथा तृतीय में धर्म एवं मोक्ष के सेवन का यहाँ विधान निर्दिष्ट है।

प्रथम अवस्था में किये गये विद्याध्ययन के आधार पर ही मनुष्य आगे अर्थ के अर्जन में समर्थ होता है। यौवन काल में वह काम का सेवन करता है। धर्म के प्रति रुचि वृद्धावस्था में ही जाग सकती है। इस अवस्था में धर्मार्जन के साथ कुछ व्यक्ति मोक्ष के प्रति भी उन्मुख हो सकते हैं, अतः गौण रूप से यहाँ उसकी भी चर्चा आ गयी है। धर्मशास्त्र के ग्रन्थों में धर्म की और अर्थशास्त्र के ग्रन्थों में अर्थ की तरह यहाँ काम की विस्तार से चर्चा मिलती है। काम को वरीयता यहाँ इस रूप में दी गयी है कि इसके सेवन का लम्बा काल यहाँ प्रदर्शित है। यह अस्वाभाविक भी नहीं है। धर्म, अर्थ और काम परस्पर अनुस्यूत हैं। इसीलिए सर्वत्र त्रिवर्ग के रूप में इनका वर्णन मिलता है।

आगे क्रमशः धर्म, अर्थ और काम का लक्षण बताकर कहा गया है कि सामूहिक रूप से विचार करने पर काम की अपेक्षा अर्थ की और अर्थ की अपेक्षा धर्म की वरीयता मान्य है। मानव-समाज की सुव्यवस्था के लिए यह उचित भी है। आगे राजा और वेश्या के लिए अर्थ की प्रधानता प्रदर्शित है। लोकयात्रा और वर्णाश्रम-व्यवस्था के पालन करने-कराने के लिये राजा को अर्थ की सर्वाधिक अपेक्षा रहती है। वेश्या तो इसीके लिये बाजार में बैठती है।

धर्म, अर्थ और काम के लक्षण यहाँ क्रमशः इस प्रकार बताये गये हैं— यज्ञ-याग आदि का फल इस लोक में देखने को नहीं मिलता, अतः इनमें मानव की प्रवृत्ति नहीं होती। शास्त्रों के द्वारा इनमें प्रवृत्ति कराई जाती है। मांसभक्षण जैसे लौकिक विषयों का फल साक्षात् दिखाई पड़ता है, अतः इनमें स्वाभाविक रूप से मानव की प्रवृत्ति होती है। ऐसे कार्यों से निवृत्त कराने के लिये भी शास्त्र की अपेक्षा है। इस तरह से सही कार्य में प्रवृत्ति और गलत कार्य से निवृत्ति का उपदेश ही धर्म के नाम से जाना जाता है। इसका ज्ञान श्रुति (वेद) से और धर्मशास्त्र के ज्ञाता विद्वानों से प्राप्त होता है।

विद्या, भूमि, सुवर्ण, पशु, धान्य, घर-गृहस्थी की सामग्री के साथ हितकारी मित्रों का अर्जन एवं अर्जित विद्या आदि का वर्धन और संरक्षण अर्थ नामक पुरुषार्थ कहलाता है। इसकी प्रक्रिया को अर्थशास्त्र एवं कृषि-पशुपालन आदि में निपुण व्यक्तियों और व्यापारियों से सीखना चाहिये।

आत्मा के साथ संयुक्त मन से अधिष्ठित श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा और घ्राण नामक ज्ञानेन्द्रियों का अपने-अपने विषयों के प्रति आकर्षण ही सामान्य रूप से काम कहलाता है। इसी तरह से कर्मेन्द्रियों के माध्यम से विशेष प्रकार के स्पर्श के साथ जब अनोखे आभिमानिक सुख की फलवती प्रतीति होती है, तो उसे काम की विशेष अवस्था कहा गया है। इसका ज्ञान कामशास्त्र से तथा विशिष्ट नागरिकों के साथ सम्पर्क रखने से प्राप्त किया जा सकता है।

यहाँ कुछ आचार्यों का कहना है कि धर्म एक अलौकिक तत्त्व है, अतः धर्म का उपदेश करने वाले शास्त्र की अपेक्षा है। इसी तरह से अर्थ की प्राप्ति के लिये भी उपाय अपेक्षित हैं और इन उपायों

के ज्ञान के लिये भी शास्त्र अपेक्षित है, किन्तु काम में तो पशु-पक्षी आदि की भी स्वाभाविक प्रवृत्ति देखने को मिलती है तथा आत्मा में राग-द्वेष आदि की तरह काम की भी स्थिति मानी गयी है। ऐसी स्थिति में इसके लिये शास्त्र की कोई आवश्यकता नहीं है। इस पर आचार्य वात्स्यायन का कहना है कि विशेष काम की स्थिति स्त्री और पुरुष के बाह्य और आभ्यन्तर संप्रयोग पर निर्भर है। इसके लिये भी उपाय अपेक्षित हैं। इन उपायों की प्रतीति के लिये कामशास्त्र का ज्ञान अपेक्षित है। सूत्रकार ने यहाँ पशु-पक्षी आदि की अपेक्षा मानव की इस काम-प्रवृत्ति को तृतीय पुरुषार्थ के रूप में मान्यता देकर इसकी विशेषताओं पर पूरे ग्रन्थ में प्रकाश डाला है।

आगे वात्स्यायन लोकायतिक पक्ष को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि धर्म के आचरण की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि उसका फल तो परलोक में मिलेगा। साथ ही यह आशंका भी बनी रहती है कि इसका फल मिलेगा भी या नहीं। ऐसी स्थिति में कोई भी समझदार व्यक्ति अपने हाथ में आयी वस्तु को दूसरे को क्यों देगा? कल मिलने वाले मयूर की आशा में आज मिले कबूतर को भला कोई क्यों छोड़ेगा ? संशय में पड़ी सुवर्ण मुद्रा की अपेक्षा निःसन्दिग्ध रूप से प्राप्त होने वाली चाँदी या ताँबे की मुद्रा हमारे लिये ग्राह्य होगी।

इस प्रकार लोकायतिक पक्ष को प्रस्तुत कर अनेक हेतुओं को दिखाते हुए आगे वे यह स्थापित करते हैं कि धर्म का आचरण अवश्य करना चाहिये। वे कहते हैं कि शास्त्रों पर कोई अविश्वास नहीं करता। श्येन याग जैसे अभिचार कर्मों का और शान्तिक-पौष्टिक कर्मों का भी फल हमें इसी जीवन में मिलता है, नक्षत्र-चन्द्र-सूर्य-तारा-ग्रहचक्र की लोककल्याण के लिये बुद्धिपूर्वक की गयी वृत्ति हमें दिखाई पड़ती है और वर्णाश्रम-धर्म के सहारे ही लोकयात्रा प्रवृत्त है। सबसे बड़ी चीज हमें यह देखने को मिलती है कि अपने पास के बीजों को हम भविष्य में प्राप्त होने वाली फसल के लिये खेत में बो देते हैं। इन हेतुओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि धर्म के आचरण से भी हमें इसी प्रकार ऐहिक एवं पारलौकिक फलों की प्राप्ति अवश्य होती है, अतः धर्म का आचरण हमारे लिये उचित है।

काल को ही सबका कारण मानने वाले दार्शनिक भी भारत में हुए हैं। उनके मत को उपस्थापित कर यहाँ बताया गया है कि अर्थोपार्जन की कोई आवश्यकता नहीं है। बहुत प्रयत्न करने पर भी कभी-कभी अर्थ की प्राप्ति नहीं होती और बिना किसी प्रयत्न के भी वह मिल जाता है। यह सब काल का ही प्रभाव है। काल ही पुरुष की भलाई और बुराई में, जय और पराजय में तथा सुख और दुःख की अनुभूति में प्रधान कारण है। काल के प्रभाव से ही बलि इन्द्र बन गया और फिर काल ने ही उसे उस पद से च्युत कर दिया और काल ही उसे पुनः प्रतिष्ठित कर देगा। काल को सबका कारण मानने वाले कालकारणिकों की यह उक्ति है। इसके उत्तर में यहाँ कहा गया है कि मनुष्य की सारी प्रवृत्तियाँ पुरुषकार (उद्योग) से ही सम्पन्न होती हैं, अतः हमें उपाय की तलाश रहती है, हम हाथ पर हाथ धरे नहीं बैठे रहते। जो कार्य निश्चित रूप से होने वाला है, उसके लिये भी प्रयत्न की अपेक्षा रहती है। बिना प्रयत्न किये कोई भी कार्य पूरा नहीं होता, व्यक्ति किसी भी प्रकार का सुख प्राप्त नहीं कर सकता, अतः अर्थ की प्राप्ति के लिये भी पुरुषकार (उद्योग) अपेक्षित है।

धर्म और अर्थ के लिये उठाये गये प्रश्न को काम के प्रसंग में भी उठाया गया है कि व्यक्ति के लिये काम का सेवन भी अपेक्षित नहीं है, क्योंकि इसके सेवन से धर्म और अर्थ की हानि होती हैं। इसी तरह से सज्जन पुरुष इसके इसलिये विरोधी हो जाते हैं कि काम के सेवन के प्रसंग में व्यक्ति का नट, नर्तक के साथ जो संपर्क होता है, उसे वे उचित नहीं मानते। इसके लिये व्यक्ति को गलत काम करने पड़ते हैं, वह पवित्रता पर कोई ध्यान नहीं देता और अन्ततः कामी पुरुष का समाज पर कोई अच्छा प्रभाव नहीं रह जाता। वह प्रमादी बन जाता है, उसके स्वभाव में हलकापन आ जाता है, कोई उस पर विश्वास नहीं करता और अन्ततः समाज में वह अग्राह्य बन जाता है। काम के वश में पड़े हुए बहुत से महानुभाव अपने परिजनों के साथ नष्ट हो चुके हैं। इस प्रसंग में वहाँ भोजवंशी राजा दाण्डक्य, देवराज इन्द्र, कीचक, रावण जैसों को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया गया है। वात्स्यायन ने बताया है कि यह दृष्टि अर्थ को प्रधानता देने वाले आचार्यों की है।

आचार्य ने आगे धर्म और अर्थ के समान ही काम की भी उपयोगिता को दिखाने वाले कारणों को स्पष्ट किया है। वे कहते हैं कि शरीर के धारण में आहार की-सी स्थिति काम की भी है। इस लोक में धर्म और अर्थ का साक्षात् फल काम के रूप में मिलता है, क्योंकि स्वर्ग-सुख की प्रतीति तो परलोक में ही हो सकती है। काम के अनर्गल सेवन से उसी तरह के दोष की प्रसक्ति भी यहाँ दिखाई गई है। जैसे अधिक आहार करने से व्यक्ति अजीर्ण रोग से ग्रस्त हो जाता है, उचित आहार से जैसे शरीर पुष्ट होता है, उसी तरह काम के विषय में भी समझना चाहिये। आहार, शयन (निद्रा) और अब्रह्मचर्य (काम) के युक्तियुक्त सेवन से शरीर नीरोग रहता है, इसकी पुष्टि आयुर्वेदशास्त्र से भी होती है। सूत्रकार भी उदाहरणों से इस बात की पुष्टि करते हैं कि जैसे भिखारियों के डर से कोई भोजन बनाना बन्द नहीं करता और मृगों के डर से कोई खेती करना बन्द नहीं करता, उसी तरह काम के दुरुपयोग के डर से कोई युक्तिसंगत काम के सेवन से विरत नहीं होता।

इस तरह त्रिवर्ग के सेवन की उपयोगिता को बताने के बाद शास्त्रकार तीन श्लोकों से प्रकरण का उपसंहार इस प्रकार करते हैं— यहाँ प्रदर्शित विधि से धर्म, अर्थ और काम का युक्तियुक्त सेवन करता हुआ मानव इस लोक और परलोक में किसी भी अनुताप से रहित हो अत्यन्त सुख का उपभोग करता है। जिस कार्य को करने से परलोक में मेरा क्या होगा ? इस बात की कोई चिन्ता नहीं रहती और अर्थ का नाश भी नहीं होता, ऐसे धर्म और अर्थ के अविरोधी काम का व्यक्ति को सेवन करना चाहिये। मनुष्य को ऐसा ही कार्य करना चाहिये, जो धर्म, अर्थ और काम— इन तीनों वर्गों का साधक हो। दो वर्गों के अथवा एक वर्ग के साधक कार्यों को भी मनुष्य कर सकता है, किन्तु उसे ऐसा कार्य नहीं करना चाहिये, जो केवल एक ही प्रयोजन को सिद्ध करता हो और जिसके कारण दो प्रयोजनों की सिद्धि में बाधा पड़ती हो।

●

धर्म (पुरुषार्थ)

"यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः" (१.१.२) इस वैशेषिक सूत्र में प्रदर्शित धर्म का यह लक्षण धर्म की प्रकृति को पूरी तरह से उजागर करता है। अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि में धर्म प्रधान साधन है। यहाँ अभ्युदय का अर्थ है – अभितः उदय, अर्थात् सब तरह से आगे बढ़ना, उन्नति को प्राप्त करना। निःश्रेयस का अर्थ है– निश्चितं श्रेयो निःश्रेयसम्। निश्चित फल, अर्थात् जो कभी भी क्षीण नहीं होता, ऐसे परम आनन्द की, सर्वोत्तम लक्ष्य की प्राप्ति। भगवत्प्राप्ति या मोक्ष की प्राप्ति का इसमें समावेश होगा। अथवा "नास्ति श्रेयान् यस्मात् तन्निःश्रेयसम्" इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिससे बढ़कर कोई उत्तम फल न हो, वह निःश्रेयस कहलायेगा। ये अभ्युदय और निःश्रेयस पूरी मानवजाति को अभीष्ट हैं। ऐहिक सर्वविध सुख और पारलौकिक स्वर्ग का हम अभ्युदय में समावेश करेंगे और मुक्ति, मोक्ष, कैवल्य, निर्वाण, अपवर्ग जैसे शब्दों से विभिन्न दर्शनों में निःश्रेयस् का ही प्रतिपादन हुआ है। विधिवत् आचरित धर्म से इन दोनों लक्ष्यों की प्राप्ति होती है। अतः त्रिवर्ग में धर्म का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसीलिये त्रिवर्ग का प्रतिपादन करते समय सर्वत्र धर्म को प्रथम स्थान दिया गया है।

धारणार्थक 'धृ' धातु से बने धर्म शब्द का अर्थ धारण करना, पालन करना, सहारा देना है। मनुस्मृति के व्याख्याता मेधातिथि के अनुसार धर्म के पांच स्वरूप माने गये हैं– १. वर्ण धर्म, २. आश्रम धर्म, ३. वर्णाश्रम धर्म, ४. नैमित्तिक धर्म और ५. गुण धर्म। गौतमधर्मसूत्र (१९.१) के व्याख्याता हरदत्त तथा मनुस्मृति (२.२५) के टीकाकार गोविन्दराज ने भी धर्म के ये ही पाँच प्रकार बताये हैं। इनका प्रतिपादन वेद, स्मृति, पुराण आदि शास्त्रों में हुआ है। इन शास्त्रों में सांग वेद, मानव धर्म (मनुस्मृति), पुराण और चिकित्साशास्त्र का विशेष स्थान है, जैसा कि बताया गया है–

पुराणं मानवो धर्मः साङ्गो वेदश्चिकित्सितम् ।
आज्ञासिद्धानि चत्वारि न हातव्यानि हेतुभिः ।।

चारों पुरुषार्थों के साधनों, उपायों को बताने वाले, अर्थात् सिखाने वाले ग्रन्थों को शास्त्र कहा जाता है। यहाँ चिकित्साशास्त्र का समावेश साभिप्राय है। "चिकित्सित-ज्यौतिष-तन्त्रवादाः पदे पदे प्रत्ययमावहन्ति" इस वचन में चिकित्साशास्त्र के साथ ज्यौतिष एवं तन्त्रशास्त्र भी समाविष्ट हैं। वेद आदि शास्त्रों में निर्दिष्ट विधि-विधानों के अनुष्ठान से भी फल की प्राप्ति उसी प्रकार होती है, जैसे चिकित्साशास्त्र, ज्यौतिषशास्त्र और तन्त्रशास्त्र में निर्दिष्ट विधि-विधानों के अनुष्ठान से फल की प्राप्ति होती है। इन तीन शास्त्रों में निर्दिष्ट उपायों के फल का साक्षात्कार हम इस लोक में भी प्रत्यक्ष देख पाते हैं, उसी तरह से अन्य शास्त्रों में निर्दिष्ट फलों की भी प्राप्ति परलोक में अवश्य होगी, इसका **विश्वास ये प्रत्यक्ष शास्त्र** हमें दिलाते हैं। धर्म शब्द के अर्थ और उसके उपादानों का विशद विवेचन भारतरत्न डॉ. पी.वी. काणे के इतिहास-ग्रन्थ के प्रारंभ (पृ. ३-७) ही देखा जा सकता है।

धर्म के प्रति श्रुति, स्मृति आदि की प्रमाणता मनुस्मृति (२.६, १०.१२) में निर्दिष्ट है।

याज्ञवल्क्यस्मृति (१.७) में सम्यक् संकल्प से उत्पन्न हुई कामना का भी इसमें समावेश है। इन सब प्रमाणों में वेद को ही सर्वोपरि वरीयता दी गयी है। मीमांसाशास्त्र के प्रथम अध्याय के तृतीय पाद में वेदानुवर्ती स्मृति, सदाचार आदि को भी धर्म के प्रति प्रमाण माना गया है। उसी का अनुवर्तन करते हुए पुराणों में भी इनका तारतम्यभाव स्थापित किया गया है। तदनुसार सर्वत्र वेद की सर्वोपरि मान्यता स्थापित है। तब स्मृति, पुराणेतिहास, आगम आदि को मान्यता दी गयी है। सामान्यतः आज भी सर्वत्र सनातन धर्म में इस प्रक्रिया का पालन किया जाता है।

धर्म शब्द के तीन अर्थों की अभी चर्चा की गयी है कि धर्म सबका धारण करने वाला, पालन-पोषण करने वाला और सबको सहारा देने वाला है। धर्म संपूर्ण जगत् को धारण करता है, सबका पालन-पोषण करता है और सबको सहारा देता है। संपूर्ण जगत् एकमात्र धर्म के ही बल पर सुस्थिर है। यह तैत्तिरीय श्रुति इसमें प्रमाण है– **''धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठाः। लोके धर्मिष्ठं प्रजा उर्पसपन्ति। धर्मेण पापमपनुदति। धर्मो सर्वं प्रतिष्ठितम् । तस्माद् धर्मं परमं वदन्ति।''** (महाना. १७.६)। यहाँ बताया गया है कि संपूर्ण जगत् का एकमात्र आधार धर्म है। समस्त प्रजा धार्मिक व्यक्ति के पास अपने-अपने संशयों को दूर करने के लिये पहुँचती है। धर्म से ही पाप की निवृत्ति होती है। इसीलिये इस विश्व में धर्म ही सबसे श्रेष्ठ तत्त्व है। चाणक्य का भी कहना है कि समस्त जगत् एकमात्र धर्म के बल पर सुस्थिर है– **''धर्मेण धार्यते लोकः''** । महाभारत के निम्न वचन में भी यही बात कही गयी है–

धारणाद् धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः ।
यत् स्याद्धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः ।।

धर्म की उत्पत्ति कैसे होती है ? इस प्रश्न का समाधान गौतमधर्मसूत्र का यह वचन करता है– **''कर्मजन्योऽभ्युदयनिःश्रेयसहेतुरपूर्वाख्य आत्मगुणो धर्मः''**। अर्थात् कर्म से उत्पन्न, अभ्युदय और निःश्रेयस का साधन **अपूर्व** नाम का जो आत्मगुण है, वही धर्म है। इसका अभिप्राय यह है कि वर्णाश्रम-धर्मों के सम्यक् पालन से मनुष्यों की आत्मा में धर्म की उत्पत्ति **अपूर्व** नामक संस्कार के रूप में होती है। वैशेषिक दर्शन में धर्म को आत्मा का गुण माना गया है। यज्ञ-याग आदि क्षणिक हैं, उनसे स्वर्ग आदि की प्राप्ति कैसे हो सकती है ? इसी आशंका के परिहार के लिये शुभ-अशुभ आदि कार्यों के कर्ता की आत्मा में अपूर्व नामक संस्कार उत्पन्न हो जाता है और इसी संस्कार के कारण व्यक्ति अपने शुभ-अशुभ आदि कर्मों के फल को भोगता है, ऐसा शास्त्रों में विधान है। स्पष्ट है कि धर्म और अधर्म की भी उत्पत्ति का कारण कर्म है। कर्म सत् और असत् के भेद से दो प्रकार के हैं। सत्कर्मों के आचरण से पुण्य की और असत्कर्मों के आचरण से पाप की उत्पत्ति होती है। इसीलिये इनको सुकृत और दुष्कृत भी कहते हैं। धर्म और अधर्म का साधारण नाम कर्म है। हमारी कृति से, अर्थात् कार्य से उत्पन्न होने के कारण पुण्य और पाप दोनों ही कर्म के नाम से जाने जाते हैं। दार्शनिक भाषा में यह कर्म **अपूर्व** के नाम से कहा जाता है। कर्ता की आत्मा में स्थित यह अपूर्व नामक संस्कार ही भविष्य में फलदान में समर्थ होता है। **''नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि''** इस शास्त्रवचन के

अनुसार बिना फलोपयोग कराये इसका क्षय नहीं होता। मधुमक्खियाँ जैसे रानी मक्खी का अनुसरण करती हैं, अथवा बछड़ा जैसे गोमाता का अनुसरण करता है, उसी तरह मनुष्य का किया कर्म भी सदा उसके साथ-साथ अपूर्व के रूप में चलता है।

श्रुति और स्मृति के बाद धर्म का तीसरा आधार सदाचार है। मनुस्मृति (२.१८) में सदाचार का लक्षण यह बताया गया है –

यस्मिन् देशे य आचारः पारम्पर्यक्रमागतः ।
वर्णानां सान्तरालानां स सदाचार उच्यते ।।

मनुस्मृति में प्रस्तुत स्थल पर देश के रूप में ब्रह्मावर्त चर्चित है। ब्रह्मर्षिदेश, मध्यदेश और आर्यावर्त के रूप में वहीं (२.१९-२२) इसका विस्तार हुआ है। धर्मशास्त्र के सभी ग्रन्थों में सदाचार का प्रकरण मिलता है। "**आचारः परमो धर्मः**" (१.१०८-११०) मनुस्मृति के इस प्रकरण में आचार की महिमा गायी गयी है। मनुस्मृति (४.१५५) में ही सदाचार को धर्म का मूल माना गया है। इसी प्रसंग में वहाँ दुराचारी की निन्दा इस तरह की गयी है—

दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः ।
दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च ।। (४.१५७)

दुराचारी पुरुष की लोक में निन्दा होती है। वह सदा दुःखी, रोगी और अल्पायु होता है। सदाचारी की प्रशंसा भी वहाँ की गयी है –

"आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः ।
आचाराद्धनमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम् ।। (४.१५६)
सर्वलक्षणहीनोऽपि यः सदाचारवान् नरः ।
श्रद्दधानोऽनसूयश्च शतं वर्षाणि जीवति" ।। (४.१५८)

मनुष्य सदाचार के सेवन से लंबी आयु, योग्य सन्तान और अक्षय धन प्राप्त करता है। सदाचार मनुष्य की बुरी आदतों को दूर कर देता है। सभी अच्छे लक्षणों से रहित व्यक्ति भी यदि सदाचार का पालन करता है, श्रद्धा से सम्पन्न है और किसी की निन्दा नहीं करता, तो वह भी सौ वर्ष तक जीता है। आचारहीन की निन्दा महाभारत में इस तरह से की गयी है –

आचारहीनं न पुनन्ति वेदा
यद्यप्यधीताः खलु षड्भिरङ्गैः
छन्दांस्येनं मृत्युकालेत्यजन्ति
नीडं शकुन्ता इव जातपक्षाः ।।

छः अंगों के साथ चारों वेदों का अध्ययन करने से दुराचारी पुरुष पवित्र नहीं हो सकता। सारी श्रुतियाँ मृत्युकाल आने पर उसी तरह उसका साथ छोड़ देती हैं, जैसे पंख उग आने पर पक्षी अपने घोंसले को छोड़ देता है।

महाभारत में ही बताया गया है कि चारों वेदों को पढ़ने वाला दुराचारी ब्राह्मण शूद्र से भी गया-बीता माना जाता है। विष्णुपुराण (३.११.२) में बताया गया है कि सदाचारी पुरुष दोनों लोकों को जीत लेता है– **''सदाचारवता पुंसा जितौ लोकावुभावपि''**। इन वचनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि शास्त्रों में सदाचार और सदाचारी की प्रशंसा के साथ दुराचार और दुराचारी की निन्दा भी की गयी है। इस तरह से धर्म के तृतीय अंग के रूप में सदाचार की महत्ता स्पष्ट हो जाती है। इसको कहने की आवश्यकता नहीं है कि सदाचार के पालन में सत्संगति का अत्यधिक महत्त्व है – **''सत्संगतिः कथय किं न करोति पुंसाम्''**।

देवीभागवत (११.१.१६-१७) में शास्त्रीय और लौकिक रूप में आचार के दो भेद बताये गये हैं। शास्त्रीय के समान ही लौकिक आचार के पालन की भी वहाँ आवश्यकता बतायी गयी है। इसीके साथ ग्राम-धर्म, जाति-धर्म, देश-धर्म और कुल-धर्म का भी त्याग न किया जाय, यह स्पष्ट रूप से निर्दिष्ट है –

आचारो द्विविधः प्रोक्तः शास्त्रीयो लौकिकस्तथा ।
उभावपि प्रकर्तव्यौ न त्याज्यौ शुभमिच्छता ।।
ग्रामधर्मा जातिधर्मा देशधर्माः कुलोद्भवाः ।
परिग्राह्या नृपिः सर्वैर्नैव ताँल्लङ्घयेद् मुने ।।

महाभारत (वन. १.३१) में भी प्रदर्शित है कि उत्तम, प्रसिद्ध एवं धर्मनिष्ठ पुरुषों ने लोक में धर्म, अर्थ और काम की उत्पत्ति के हेतु जो वेदोक्त गुण, अर्थात् साधन बताये हैं, वे ही सब लोकाचार के रूप में प्रकट हुए हैं। सामान्य जनों के लिये भी वे आचरणीय हैं और शिष्टपुरुष उनका आदर करते हैं। इसीलिये विवेकी पुरुषों को देशाचार, कुलाचार और लोकाचार का यथोचित पालन करना चाहिये, क्योंकि इन सब आचारों से भी धर्म की बढ़ोत्तरी होती है। मनुस्मृति (४.१७६) में तो यहाँ तक कहा गया है कि जो अर्थ और काम धर्म से रहित हो, उसे त्याग दे और जिसमें आगे सुख न हो, ऐसे धर्म को भी त्याग दे। इसी तरह जो जगत् में निन्दित है, उसे भी त्याग दे–

परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ ।
धर्मं चाप्यसुखोदर्कं लोकविक्रुष्टमेव च ।।

यहाँ के चौथे पाद में लोकाचार के विपरीत धर्म के भी त्याग की बात कही गयी है। लोकविरुद्ध धर्म का आचरण न करने की बात कूर्मपुराण की व्यासगीता में भी निर्दिष्ट है। निम्न वचन लोकाचार के महत्त्व को दिखाते हैं –

यद्यपि स्यात् स्वयं ब्रह्मा त्रैलोक्याकर्षणक्षमः ।
तथापि लौकिकाचारं मनसाऽपि न लङ्घयेत् ।।
''यद्यपि शुद्धं लोकविरुद्धं नाचरणीयं नाचरणीयम्''

अर्थात् त्रिलोकी के आकर्षण में समर्थ स्वयं ब्रह्मा भी लोकाचार का उल्लंघन न करे। दूसरे वचन का भी अभिप्राय यही है कि धार्मिक दृष्टि से शुद्ध आचरण यदि लोकाचार के विरुद्ध पड़ता हो, तो उसे छोड़ देना चाहिये। 'नाचरणीयम्' पद की आवृत्ति यहाँ विशेष रूप से हमारा ध्यान आकृष्ट करती है।

पुरुषार्थ-चतुष्टय की चर्चा करते समय हमने 'चतुर्भद्र' शब्द का प्रयोग किया है (पृ. १३३)। यह स्थिति चित्त की शुद्धि के ऊपर निर्भर है। देवीभागवत (६.११.५०) में बताया गया है चित्त की शुद्धि आहार पर निर्भर है–

आहारशुद्ध्या नृपते चित्तशुद्धिस्तु जायते ।
शुद्धे चित्ते प्रकाशः स्याद् धर्मस्य नृपसत्तम ।।

मनुष्य के चित्त के शुद्ध होने पर ही उसे चतुर्भद्र (चारों पुरुषार्थों की उज्ज्वलता) स्थिति प्राप्त होती है, अर्थात् वह जीवन्मुक्त हो जाता है। चारों पुरुषार्थ उसके सामने मंगल की वर्षा करने लगते है।

इसके लिये आवश्यक है कि मानव मनु-प्रोक्त दस लक्षण वाले धर्म का शुद्ध चित्त से आचरण करे। चित्त की इस शुद्धि पर छान्दोग्य उपनिषद् का भी यह कहना है – **"आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः, सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः, स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः"** (७.२६.२)। इससे देवीभागवत की ऊपर निर्दिष्ट उक्ति को ही समर्थन मिलता है। मनुप्रोक्त धर्म के दस लक्षण ये हैं –

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ।।

म. स्मृ. ६.९२)

हम यहाँ एक-एक कर इनकी व्याख्या करते हैं –

१. **धृति** – धृति का अर्थ है धैर्य, सन्तोष, दृढ़ता, आत्मनिर्भरता, स्वावलम्बन। मनुष्य में धैर्य बहुत आवश्यक है। धैर्यहीन मानव में दृढ़ता नहीं होती। धैर्य का संचार होने पर ही मनुष्य में दृढ़ता, स्वावलंबन और आत्मनिर्भरता का भाव जग पाता है। अतः धर्माचरण करने वाले को धैर्यशाली, संतोषी होना चाहिये। बिना धैर्य के मनुष्य की कोई भी क्रिया सफल नहीं हो सकती। धृति मानव-जीवन की धुरी है। प्रयत्न करने पर भी यदि अभीष्ट सिद्धि न हो, उस सयम संतोष ही हमें बल देता है। संकल्प के प्रति दृढ़ता ही धैर्य का गुण है।

२. **क्षमा – क्षमा का अर्थ है,** किसी के अपकार करने पर भी उसका बुरा न करना। यह धर्म का बहुत बड़ा अंग है। इसके अभाव में मनुष्य अपने स्वजनों के साथ भी कलह करता हुआ अपने कर्तव्य से च्युत हो जाता है। क्षमा से मनुष्य के सब काम सरल हो जाते हैं, अतः मनुष्य में इसका होना जरूरी है। क्षमा निर्बलों का महान् बल है, बलवान् का महान् आभूषण है। यह एक वशीकरण मन्त्र है। क्षमा से मनुष्य के सभी कार्य सिद्ध हो जाते हैं। जैसा कि कहा गया है –

क्षमा बलमशक्तानां शक्तानां भूषणं क्षमा ।
क्षमा वशीकृतिर्लोके क्षमया किं न सिद्ध्यति ।।

३. **दम** – मन के संयम का नाम दम है। इसके अभाव में काम, क्रोध आदि दोषों के वश में होकर मनुष्य भटक जाता है। बाह्य इन्द्रियों की प्रवृत्ति में मन को ही मुख्य कारण माना गया है। अतः मनुष्य के लिये आन्तर इन्द्रिय, मन पर नियन्त्रण रखना धर्म के पालन में बहुत जरूरी है।

४. **अस्तेय** – अन्याय से, छल-कपट से या चोरी से पराई वस्तु का अपहरण कर लेना स्तेय कहा जाता है। यह एक भयंकर दुर्गुण है। इस दुर्गुण से मनुष्य किसी की भी वस्तु का अपहरण कर कुमार्गगामी हो जाता है। स्तेय से बढ़कर और कोई अनर्थकारी दोष है ही नहीं। चोरी मनुष्य जीवन का एक महान् कलंक है। इस दुर्गुण का न होना अस्तेय कहलाता है। धर्माचरण करने वालों में इस गुण का होना भी जरूरी है।

५. **शौच** – बाह्य और आन्तर के भेद से शौच (पवित्रता) दो तरह की होती है। मिट्टी, जल आदि से हाथ आदि को धोना बाह्य शौच और दया, परोपकार आदि गुणों से चित्त की शुद्धि आन्तर शौच कहलाती है। इस द्विविध शुचिता के अभाव में अशुद्ध मनुष्य धर्म का आचरण नहीं कर सकता, अतः धर्मानुष्ठान की सफलता के लिए मनुष्य में इस शुचिता गुण का रहना भी आवश्यक है।

६. **इन्द्रियनिग्रह** – विषयों की ओर जाने वाली इन्द्रियों का निग्रह करना, अर्थात् इन्द्रियों को अपने वश में रखना इन्द्रिय-निग्रह कहलाता है। इसके बिना चित्त के विषयों के प्रति आकृष्ट हो जाने पर धर्मानुष्ठान में बाधा आ जाती है और इससे मनुष्य का अधःपतन भी हो सकता है। अतः धार्मिक मनुष्य में इस गुण का होना भी जरूरी है। इसीलिये मनु ने मनुष्यों के प्रत्येक व्यवहार में इन्द्रिय-संयम पर विशेष जोर दिया है (२.८८)।

७. **धी** – शास्त्रों के अनुसार कर्तव्य और अकर्तव्य का विवेक करने वाली बुद्धि को धी कहते हैं। इस गुण के अभाव में विहित कर्मों के अनाचरण तथा शास्त्र-निषिद्ध कर्मों के आचरण से मनुष्य अनर्थ को प्राप्त करता है, अतः धार्मिक मनुष्य में विवेकवती बुद्धि का होना भी आवश्यक है।

८. **विद्या** – आत्मज्ञान ही धर्मानुष्ठान की आधारशिला है। इस आत्मज्ञान को ही विद्या कहा जाता है। इसके बिना मनुष्य की प्रवृत्ति धर्म की ओर नहीं हो पाती। देह से भिन्न आत्मा का ज्ञान ही मनुष्य को पारलौकिक सत्कर्मों में प्रवृत्त कराता है। अतः धर्मानुष्ठान करने वाले व्यक्ति में इस गुण का होना भी अपेक्षित है।

९. **सत्य** – सही बात को कहना ही सत्य है। सत्य से धर्म की वृद्धि होती है – **''धर्मः सत्येन वर्धते''** (मनु. ८.८३)। मनुष्य प्रमादवश झूठ बोल देता है। झूठ बोलने से मनुष्य के मन में मलिनता आ जाती है। मन, वचन और कर्म का एक क्रम से रहना उचित है। झूठ बोलने से यह क्रम बिगड़ जाता है, क्योंकि तब मन में कुछ होता है, वाणी से कुछ बोलता है और कर्म कुछ दूसरा ही करता है। इन तीनों के क्रम का बिगड़ना ही एक प्रकार का मैल है। झूठ बोलने से मनुष्य का मन मैला हो जाता है। सत्य के अभाव में झूठे मनुष्य का कोई विश्वास नहीं करता। इसीलिये मनुष्य में इस गुण का रहना भी आवश्यक है।

१०. **अक्रोध**– क्रोध के रहने पर भी मन में क्रोध का उत्पन्न न होना अक्रोध कहलाता है। क्रोध मनुष्य का महान् शत्रु है। क्रोधी पुरुष को अपने कर्तव्य-अकर्तव्य, वाच्य-अवाच्य आदि का ज्ञान ही नहीं रहता। क्रोधी व्यक्ति अपने माता-पिता, गुरुजन, बन्धु-बान्धव आदि के साथ भी दुर्व्यवहार कर

बैठता है। क्रोधी पुरुष क्या-क्या नहीं कर बैठता ? अतः क्रोध से होने वाले अनर्थों से बचने के लिये प्रत्येक मानव में क्रोध के अभाव, अर्थात् अक्रोध का होना भी सर्वथा अपेक्षित है।

शास्त्रों में सामान्य धर्म, विशिष्ट धर्म और आपद्धर्म के रूप में धर्म के त्रिविध रूपों की व्याख्या की गयी है। यहाँ जिस दस प्रकार के धर्म का निरूपण किया गया है, वह सामान्य धर्म के अन्तर्गत आता है। वर्णों और आश्रमों के धर्मों का समावेश विशिष्ट धर्मों में होगा। वर्णों के धर्मों की चर्चा के प्रसंग में मनु-प्रोक्त आपद्धर्म (१०.१०१-११३) भी सूचित हैं। ये सब 'धर्म' नामक प्रथम पुरुषार्थ के अंग हैं।

इस धर्म नामक प्रथम पुरुषार्थ के आचरण में दंभ एक बड़ी बाधा के रूप में उपस्थित होता है। दंभ ऐसा भयंकर दोष है कि यह धर्म को घुन की तरह बरबाद कर डालता है। बड़े-बड़े धार्मिक भी दंभ के वशीभूत हो जाते हैं। दंभ से बचना भगवान् के अनुग्रह के बिना अत्यन्त ही कठिन है। बड़े-बड़े त्यागी, विवेकी एवं बुद्धिमान् पुरुष भी इस दोष के वशीभूत होकर लक्ष्य-भ्रष्ट हो जाते हैं, अतः धर्म का सही रूप से सेवन करने वाले को दंभ से सदैव सतर्क सावधान रहकर बचते रहना चाहिये। धर्म का अनुष्ठान करने वाले को दंभ बहुत जल्दी पकड़ लेता है।

धार्मिक पुरुष के लिये दंभ के समान धर्माभास से बचना भी जरूरी है। धर्माभास का मतलब है, नकली धर्म। श्रीमद्भागवत (७.५.१२) में इसकी पांच शाखाओं का उल्लेख मिलता है— १. विधर्म, २. परधर्म, ३. आभास, ४. उपधर्म और ५. छल। इनमें से विधर्म का अर्थ है शास्त्र-विरुद्ध धर्म। जिसके आचरण से धर्म के अनुष्ठान में बाधा पड़े, उसे **विधर्म** कहते हैं। जैसे ज्वरग्रस्त व्यक्ति का गंगास्नान। दूसरे के लिये उपदिष्ट धर्म का सेवन **परधर्म** का आचरण है। जैसे ब्राह्मण के लिए उपदिष्ट धर्म का आचरण क्षत्रिय करे अथवा संन्यासी के लिये उपदिष्ट धर्म का आचरण करे, तो यह उचित नहीं है। भगवद्गीता (३.३५) में परधर्म को भयावह बताया गया है। **आभास** इसकी तीसरी शाखा है। इसका अर्थ है निजी इच्छा से कल्पित धर्म। ऐसे बहुत से धर्म भी लोक में प्रचलित हैं, जो वास्तविक धर्म से बहुत दूर चले गये हैं। धर्म-सरीखे प्रतीत होने वाले ऐसे धर्माभासों से धार्मिक व्यक्ति को दूर ही रहना चाहिये। इसकी चौथी शाखा है **उपधर्म**। दंभ या पाखंड के रूप में इसका आचरण होता है। विदुरनीति में बताया गया है कि इज्या, अध्ययन, दान और तप का आचरण दिखावे के लिये भी हो सकता है। इसीलिये इसे उपधर्म, अर्थात् दिखावे का धर्म कहा गया है। इसकी अन्तिम शाखा **छल** है। शास्त्र के वचन को तोड़-मरोड़कर उसकी जो मनोनुकूल व्याख्या की जाती है, वही है **छल**। कपट के नाम से भी यह शास्त्रों में वर्णित है। धर्मात्मा पुरुष को इन सभी से दूर ही रहना चाहिये।

प्रश्न उठता है कि धर्म की आवश्यकता ही क्या है ? शास्त्रों में इसका अनेक तरह से समाधान किया गया है। शुक्रनीति में बताया गया है कि समस्त प्राणियों की सभी प्रवृत्तियाँ केवल सुख के लिये होती हैं। मनुष्य सदैव सुख चाहता है। समस्त सुखों का मूल धर्म है। सुख उसीको मिलता है, जिसका पुण्य प्रबल होता है, अर्थात् जो सदाचार का पालन करता है। बिना धर्म के किसी को भी सुख नहीं मिल सकता। जिसका पुण्य प्रबल न हो, जो चरित्रवान् न हो, वह चाहे जितनी भी अनीति, अनाचार

या बेईमानी क्यों न करे, उसे सुख नहीं मिल सकता। मिलता भी है, तो वह टिकता नहीं। इसीलिये मनुष्य को सदा धर्म में तत्पर रहना चाहिये। निम्न वचन का यही अभिप्राय है–

सुखार्थाः सर्वभूतानां मताः सर्वाः प्रवृत्तयः।
सुखं च न विना धर्मात् तस्माद् धर्मपरो भवेत् ।।

यही अभिप्राय आचार्य कौटिल्य, कामन्दक एवं सोमदेव सूरि आदि विद्वानों ने भी व्यक्त किया है। वे कहते हैं कि परलोक में मनुष्य का सब कुछ धर्म पर टिका हुआ है। वहाँ धर्म के सिवाय अन्य कोई भी सहायक नहीं हो सकता, क्योंकि अपने साथ जन्मा यह देह भी जब वहाँ साथ नहीं दे सकता, तो फिर इतर लोगों का कहना ही क्या है; अतः मनुष्य को धर्म में कभी भी प्रमाद नहीं करना चाहिये। इस वचन पर आप ध्यान दीजिये – **"सहसंभवोऽपि देहो नामुत्र सहानुयायी, किं पुनरन्यः"।**

भगवान् मनु ने तो स्पष्ट ही कहा है कि परलोक में जीव की सहायता के लिये उसके माता-पिता, पुत्र-स्त्री या अन्य बन्धु-बान्धव कोई भी नहीं रहते, वहाँ तो केवल धर्म ही उसका साथ देता है-

नामुत्र च सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः।
न पुत्रदारा न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलः ।।

महाभारत में स्पष्ट घोषणा की गई है –

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
धर्मो नित्यः सुखदुःखे त्वनित्ये
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः ।।

अर्थात् मनुष्य को कभी भी किसी कामना के कारण, भय में पड़कर या लोभ के कारण अथवा अपने जीवन की रक्षा के लिये भी धर्म का परित्याग नहीं करना चाहिये, क्योंकि धर्म तो नित्य है और सुख-दुःख नश्वर हैं, क्षणिक हैं। जीव नित्य है और उसकी उत्पत्ति और नाश के कारण अनित्य हैं। इसलिये धर्म के विषय में मनुष्य को सदा सावधान रहना चाहिये। इन सब वचनों से धर्म की आवश्यकता और उपयोगिता स्पष्ट हो जाती है।

धर्म में अपार शक्ति है। यह सदा सत्य-स्वरूप है। सत्य एक है। धर्म उसी सत्य का दूसरा नाम है। इसीलिये महाभारत में कहा है कि जो सत्य है, वही धर्म है; जो धर्म है, वही प्रकाश है और जो प्रकाश है, वही सुख है। इसके विपरीत जो अनृत है, वही अधर्म है; जो अधर्म है वही अन्धकार है और जो अन्धकार है वही दुःख है– **"तत्र यत् सत्यं स धर्मः, यो धर्मः स प्रकाश; यः प्रकाशस्तत् सुखमिति। तत्र यदनृतं सोऽधर्मः, योऽधर्मस्तत् तम; यत् तमस्तद्द दुःखमिति"** (शान्ति. १९०.५)। सत्य के सामने असत्य कभी भी ठहर नहीं सकता। सत्य पर जगत् का अस्तित्व, ऐश्वर्य, स्थिरता, मुक्ति आदि सब निर्भर है। मनुष्य मात्र में स्थित धर्म को सत्य नियन्त्रित करता है, अतः धर्म का त्याग मनुष्य के लिए विनाशकारी है।

मनुष्य जो भी अपराध करता है, वह सब बुद्धि की कमी के कारण ही करता है। प्रज्ञा (बुद्धि)-दोष के नाम से यह शास्त्रों में प्रसिद्ध है। बुद्धि की कमी का कारण पाप है। पाप का आचरण करने से मनुष्य की बुद्धि में मन्दता आ जाती है, क्योंकि पाप मनुष्य की बुद्धि को मलिन कर देता है। बुद्धि की मलिनता से ही मानव-मन में अज्ञान और तज्जन्य सब दोष पैदा होते हैं। महाभारत के इस वचन को देखिये —

पापं प्रज्ञां नाशयति क्रियमाणं पुनः पुनः ।
नष्टप्रज्ञः पापमेव पुनरारभते नरः ।।

(उद्योग. ३५. ७३)

वहाँ बताया गया है कि बार-बार किये जाने वाले पाप बुद्धि को नष्ट कर देते हैं। जिसकी बुद्धि नष्ट हो जाती है, वह मनुष्य सदा पाप ही करता रहता है। पाप के कारण ही मनुष्य संसार में आसुरी योनियों में घूमते रहते हैं—

तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभान् आसुरीष्वेव योनिषु ।।

भगवद्गीता के इस वचन में यही बात कही गयी है। मनुष्य को चाहिये कि वह अपनी दुर्गति को बचाने के लिये प्रज्ञादोष से मुक्त हो यथाविधि धर्म का आचरण करे।

धर्म का यदि आचरण न किया जाय, केवल उसका ज्ञान भर कर लिया जाय, तो ऐसा कोरा ज्ञान दुःख का कारण बनता है। अभिप्राय यह है कि धर्म का वास्तविक फल केवल उसके ज्ञानमात्र से नहीं, लेकिन उसका आचरण करने से मिलता है। जो मनुष्य धर्म का स्वयं आचरण नहीं करता, उसके सभी मनोरथ स्वप्न में राज्य की प्राप्ति के समान निष्फल हो जाते हैं। मनुस्मृति (६. ६७) में बताया गया है कि कतक वृक्ष के फल से जल की गन्दगी दूर हो जाती है, किन्तु उसका नाम लेने मात्र से जल शुद्ध नहीं होता। इसके लिये तो उसे जल में डालना पड़ता है। स्पष्ट है कि निर्मल मन से धर्म का आचरण करने से ही मानव उसके शुभ फल को प्राप्त कर सकता है। धर्म का आचरण अपेक्षित है। धर्म का प्रवचन मनुष्य को कोई लाभ नहीं पहुँचा सकता।

समग्र धर्म का आचरण कर पाना एक कठिन काम है। धर्म का आचरण करने वाले को समझ लेना चाहिये कि वह अपनी सामर्थ्य के अनुसार ही धर्म का आचरण करेगा। जिस धर्माचरण से अपनी स्थिति दयनीय हो जाय, ऐसा करना अच्छा नहीं होता। अतः मनुष्य को बिना समझे-बूझे अपने और अपने परिवार के लिये कष्टदायक धर्मानुष्ठान नहीं करना चाहिए, यह उचित नहीं माना जाता। श्रीमद्भागवत का तो यह भी कहना है कि त्रिवर्ग के सेवन से यदि केवल अपने को सुख मिलता हो, किन्तु स्वजनों को कष्ट होता हो तो ऐसे त्रिवर्ग का; धर्म, अर्थ और काम का सेवन हितकारी नहीं है। (१०.५.२९)। इसका अभिप्राय यह है कि अपनी शक्ति और परिवार की सुख-शान्ति को ध्यान में रखकर ही व्यक्ति को धर्म का आचरण करना चाहिये।

सकाम-भाव और निष्काम-भाव से धर्म का अनुष्ठान किया जाता है। सकाम-भाव से आचरित धर्म को प्रवृत्ति धर्म एवं निष्काम-भाव से की गयी धार्मिक प्रवृत्ति निवृत्ति-धर्म कहलाता है। मनुष्य को पहले प्रवृत्ति-धर्म का और बाद में निवृत्ति-धर्म का सेवन करना चाहिये। प्रवृत्ति धर्म के अनुष्ठान से अभ्युदय और निवृत्ति-धर्म के अनुष्ठान से निःश्रेयस की प्राप्ति होती है।

इतना ही नहीं, धर्म के आचरण से मनुष्य में प्रताप, प्रभाव, नीति, शौर्य, शक्ति, औदार्य आदि सद्गुणों का प्रादुर्भाव होता है। धर्म के प्रभाव से मनुष्यों के दुर्व्यसन, दीनता, दौर्भाग्य जैसे दोष भी दूर हो जाते हैं। धर्म में एक यह भी विशेषता है कि उसके उपार्जन में किसी सहायक की आवश्यकता नहीं पड़ती। केवल शास्त्र की पद्धति से उसका आचरण करना पर्याप्त है -

एक एक चरेद् धर्मं नास्ति धर्मे सहायता ।
केवलं विधिमासाद्य सहायः किं करिष्यति ।।

(महा. शान्ति. १९३.३२)

महाभारत के महान् यशस्वी पात्र विदुर ने धर्म के आठ अंग बताये हैं – इज्या (यज्ञ-याग, पूजा आदि), अध्ययन, दान, तप, सत्य, दया, क्षमा और अलोभ। उनका कहना है कि इनमें से प्रथम चार इज्या आदि अंशों का आचरण मात्र दिखावे के लिये भी हो सकता है, किन्तु अन्तिम चार सत्य आदि अंगों का आचरण करने वाला महान् आत्मा बन जाता है। मनुस्मृति (६.९२) में प्रतिपादित धर्म के दस लक्षणों का स्वरूप यहाँ विस्तार से बताया जा चुका है। धर्म का यह आध्यात्मिक स्वरूप है। चार पुरुषार्थों में धर्म के इसी स्वरूप को मान्यता दी गयी है। धर्म का यह आध्यात्मिक स्वरूप ही अर्थ और काम पर नियन्त्रण स्थापित कर सकता है। आगम-तन्त्रशास्त्र में पूजा के आन्तर और बाह्य दो प्रकार बताये गये हैं और बाह्य शुद्धि की अपेक्षा आन्तर (मन) शुद्धि पर अधिक जोर दिया गया है। हमें मानव मन की शुद्धि के लिये बाह्य आडम्बरों को छोड़कर मनुस्मृति और विदुरनीति में वर्णित धर्म के इस आध्यात्मिक स्वरूप पर अधिक जोर देना चाहिये, जिसके आचरण से प्रत्येक मानव मोक्ष का भी अधिकारी बन सकता है। यदि हमें ईमानदारी से धर्म के इस आध्यात्मिक स्वरूप को समझना है, तो सभी मतों के विरोधी कर्मकाण्डों को छोड़कर राम-कृष्ण, बुद्ध-महावीर, जरथ्रुष्ट्र, ईसामसीह, हजरत मुहम्मद के साथ सन्तों, भक्तों और गुरुओं के उन उपदेशों का सार संगृहीत करना होगा, जो मानव मन का विस्तार कर मनुष्य को देवता बना सकते हैं।

हमें यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिये कि यहाँ का धर्म शब्द मजहब का वाचक न होकर इन्हीं मानवीय गुणों को अपने में समेटता है। आजकल की नैतिकता से हम इसकी कुछ मानों में तुलना कर सकते हैं, जबकि धर्म का सम्बन्ध इस लोक के साथ परलोक से भी है। प्रो. मुकुटबिहारी लाल ने इस विषय पर अपने ग्रन्थ 'साम्ययोग मीमांसा' (पृ. १९०-१९२) में प्राच्य और पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि से अच्छा प्रकाश डाला है।

मोक्ष, निर्वाण, निःश्रेयस जैसे शब्दों के माध्यम से भारतीय दर्शनों में अपनी-अपनी पद्धति से इसका स्वरूप प्रदर्शित है। तन्त्रागमशास्त्र ने मोक्ष के स्वरूप को भी लौकिक धरातल पर उतार दिया है। धर्म-नियन्त्रित अर्थ और काम के सेवन से ही मानवजाति सुख-शान्ति से रह सकती है। लौकिक दृष्टि से इसीको हम मोक्ष मान सकते हैं। योगी अरविन्द की कल्पना तभी साकार हो सकती है। आगम-तन्त्रशास्त्र की सभी शाखाओं ने एक ही जन्म में मुक्ति के सिद्धान्त को मान्यता दी है और जीवन्मुक्ति के रूप में मोक्ष की स्थिति को भी स्वीकार किया है।

निःस्वार्थ सेवाभाव से किया गया कर्म ही निर्वाण का मार्ग बन सकता है। निर्वाण का मार्ग कहीं एकान्तवास से नहीं निकलता। जिस प्रकार विज्ञान के द्वारा आविष्कृत बिजली, वायुयान आदि का

अमीर-गरीब सब समान रूप से उपयोग करते हैं, उसी तरह अध्यात्म के फल का भी सभी लोग उपभोग कर सकते हैं। यदि हम कर्म को ही पूजा मानें, तो कितना अच्छा हो। हम प्रायः मानवता के साथ तो दयालुता का बर्ताव नहीं करते, किन्तु पाषाण की मूर्ति या किसी अदृश्य शक्ति की पूजा करते हैं, वह तो निरा ढोंग है या हम किसी भ्रान्ति में हैं; क्योंकि नर ही तो नारायण होता है, प्राणियों में ही तो ईश्वरता समायी रहती है।

निस्वार्थ भाव से अपने कर्तव्य का पालन मनोयोग से करने पर ही हम निर्वाण की ओर अग्रसर होते हैं। देश, काल या अपनी असामर्थ्य आदि के कारण कोई व्यक्ति सबकी सेवा न कर सकता हो, लेकिन जहाँ हम जिस काम के लिये नियुक्त हैं, या जो भी काम हम कर सकते हैं, उसे पूरी सावधानी के साथ सेवाभाव समझ कर निःस्वार्थ मन से करें, तो यही सबसे बड़ी सेवा कहलायेगी। यह सब निर्भर करता है, अपनी भावना पर। अतः भगवान् बुद्ध के संकल्प के अनुसार सेवाभाव के माध्यम से आसपास के लोगों की समयोचित सहायता करना ही निर्वाण का मुख्य मार्ग है। याज्ञवल्क्यस्मृति में-

वीणावादनतत्त्वज्ञः स्वरजातिविशारदः।
तालज्ञश्चाप्रयासेन मोक्षमार्गं निगच्छति ।।

संगीतशास्त्र की आराधना से भी मोक्ष-प्राप्ति की बात कही गयी है। यह नाद-ब्रह्म की ही तो आराधना है। परमार्थसार का कहना है कि मोक्ष नाम का कोई धाम (दिव्य देश) नहीं है और न इसके लिये कहीं अन्यत्र जाना पड़ता है। अज्ञानरूपी ग्रन्थि का भेद हो जाने पर अपनी शक्ति का विकास ही तो मोक्ष है। प्रत्यभिज्ञादर्शन में भी बन्ध और मोक्ष की कोई वास्तविक सत्ता नहीं मानी गई है। इस दर्शन में बन्ध और मोक्ष प्रतीतिमात्रसार हैं। वास्तव में यह भगवान् की लीला का विलासमात्र है। प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि (४.२२-२३) जैसे बौद्ध तन्त्रों में भी संसार और निर्वाण की सत्ता को ही अस्वीकार कर दिया गया है। एक ही जन्म में मुक्ति की बात को सभी तान्त्रिकों ने स्वीकार किया है। अपुनर्भव, अपश्चिम जन्म जैसे शब्दों से इसका वर्णन मिलता है। कर्मसाम्य की स्थिति में साधक जीवन्मुक्त हो जाता है। इस स्थिति की प्राप्ति के लिये तन्त्रागमशास्त्र की विभिन्न शाखाओं में अनेक उपाय वर्णित हैं। निरंजन, निष्ठायोग, ईषत्प्राग्भार जैसे शब्दों के माध्यम से विभिन्न दर्शनों में इनका वर्णन किया गया है। केवल ज्ञान से ही नहीं, कर्मयोग और भक्तियोग के द्वारा भी इस स्थिति को प्राप्त किया जा सकता है। बौद्ध शास्त्रों में निर्वाण (मोक्ष) के सोपधिशेष और निरुपधिशेष नामक दो भेद बताये गये हैं। प्रथम निर्वाण जीवन्मुक्त स्थिति से समरस है। अप्रतिष्ठितनिर्वाण नाम की तीसरी स्थिति भी यहाँ वर्णित है। इस स्थिति में करुणासागर भगवान् बुद्ध दुःखी जीवों के उद्धार के लिये उनके बीच में ही रहते हैं। इसी स्थिति को निम्न श्लोक में उजागर किया गया है–

न चाहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम् ।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम् ।।

मैं राज्य की, स्वर्ग की और मोक्ष की भी कामना नहीं रखता, मैं तो केवल इतना ही चाहता हूँ कि संसार के सभी दुःखी प्राणियों के दुःख दूर हो जाँय।

क्या मानव कभी इस स्थिति तक पहुँचेगा ?



जन्म- भीलवाड़ा, राजस्थान, १९२६, ३० जुलाई

(क) शैक्षणिक अर्हता

१. दर्शनाचार्य, प्रथम श्रेणी, "राजकीय संस्कृत महाविद्यालय", वाराणसी
२. एम.ए. "संस्कृत" प्रथम श्रेणी, आगरा विश्वविद्यालय, आगरा
३. साहित्य रत्न "हिन्दी" हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

(ख) अन्य शैक्षणिक उपलब्धियाँ

१. सहायक सम्पादक, सारस्वती सुषमा, संस्कृत त्रैमासिक शोध पत्रिका, संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी
२. प्रकाशनाधिकारी, संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी
३. प्राध्यापक योग-तन्त्र विभाग, संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी
४. शास्त्रचूडामणि विद्वान् (विजिटिंग प्रोफेसर), संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी
५. उपनिदेशक, दुर्लभ ग्रन्थ शोध योजना, केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ, वाराणसी
६. सम्पादक तन्त्रग्रथों के साथ हिन्दी भाषा की अर्द्धवार्षिक शोध पत्रिका "धीः"
७. सम्पादक, गांण्डीवम् "संस्कृत मासिक पत्रिका", संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

(ग) वर्तमान में कार्यरत

१. निदेशक, शैव भारती शोध संस्थान, जंगमवाड़ी मठ, वाराणसी
२. सदस्य कार्य परिषद्, गुरुसिद्धपीठ, गणेशपुरी, थाणे, मुम्बई
३. संरक्षक सार संस्थान, वाराणसी

(घ) अन्य लिखित पुस्तकें

१. नित्योशोड्शिकार्ण (त्रिपुरातन्त्र)
२. निगमागमीयम् संस्कृति दर्शनम् (संस्कृत)
३. विज्ञान भैरव (काश्मीर का योगशास्त्र), हिन्दी
४. वेदार्थपारिजात शुक्लयजुर्विद
५. सात्वतसंहिता (संस्कृत) पांचरात्र वैष्णवागम
६. तन्त्रागमीय धर्मदर्शन (हिन्दी), (दो खण्डों में १००० पृष्ठों का ग्रन्थ)
७. भारतीय संस्कृति के नये आयाम (हिन्दी)
८. ३०० से अधिक लेख एवं निबन्ध देश-विदेश की प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित

(ङ) प्राप्त पुरस्कार एवं सम्मान

१. कालिदास पुरस्कार, १९७० ई०
२. संस्कृत साहित्य पुरस्कार, कृति "विज्ञानभैरव", १९७८
३. विशेष पुरस्कार, कृति "तन्त्रयात्रा", १९८२
४. विशेष पुरस्कार, कृति "लुप्तागमसंग्रह"- भाग-२, १९८३
५. विशिष्ट संस्कृत साहित्य पुरस्कार, १९८६
६. राज्यस्तरीय संस्कृत साहित्य पुरस्कार १९८७ ई०, राजस्थान सरकार, जयपुर
७. राष्ट्रपति पुरस्कार (राष्ट्रिय पंडित), महामहिम राष्ट्रपति शंकरदयाल शर्मा द्वारा, १९८३
८. हारीतराशि सम्मान, महाराणा मेवाड़ फाण्डेशन, उदयपुर द्वारा, १९९५ ई.
९. मीमांसाकेसरी पुरस्कार सम्मान, वैदिक संस्कृत प्रचार संघ, जयपुर, १९९६ ई.
१०. श्री जगद्गुरु विश्वभारती पुरस्कार, महाशिवरात्रि, १९९८
११. संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी द्वारा संस्कृत वर्ष (२००० ई.) में सम्मानित



किशोर विद्या निकेतन

वाराणसी

भारत का सांस्कृतिक इतिहास

आचार्य प्रो० व्रजवल्लभ द्विवेदी

